

श्री दिवाकर अभिनन्दन ग्रन्थ



सम्पादकः—

पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, ब्यावर

पण्डित मोहनलालजी उपाध्याय 'निर्मोही',

साहित्यरत्न, रतलाम



प्रकाशकः—

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति.

रतलाम



प्रथमावृत्ति
२०००

वीराब्द २४७३
विक्रमाब्द २००४

प्रकाशक
श्री देवराज सुराना
प्रेसिडेन्ट
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक
समिति, रतलाम

मुद्रक
श्री पं मोहनलाल उपाध्याय 'नि
साहित्यरत्न, संपादनकला विशार
प्रिंटिंग प्रेस, रतल

समर्पण

जिनकी मधुर वाणी सदैव श्रवणों में गूंजती रहती है,
संसार के समस्त प्राणियों की मङ्गलकामना
जिनका शुभ ध्येय है,
अहिंसा जिनका मूल मन्त्र है, उन्हीं
विश्वबन्धुत्व के उपासक जगद्वल्लभ
१००८
जैन दिवाकर मुनि श्रीचौथमलजी
महाराज की भगवती दीक्षा
के ५१ वें वर्षारम्भ के अवसर
पर उनके पावन करकमलों
में सादर समर्पित

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम

के

जन्म दाता

श्री जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि

श्री चौथमलजी महाराज

स्तम्भ

श्रीमान् दानवीर रायबहादुर सेठ कुन्दनमलजी लालचन्दजी सा० कोठारी, ब्यावर

श्रीमान् दानवीर रायबहादुर राज्य भूषण राज्य बन्धु सेठ कन्हैयालालजी सा० भण्डारी, इन्दौर

श्रीमान् स्व सेठ नेमीचदजी सरदारमलजी सा० नागपुर

श्रीमान् सेठ सरूपचन्दजी भागचन्दजी सा० कलमसरा

" " पूनमचन्दजी चुन्नीलालजी सा० न्यामडोंगरी

" " बहादरमलजी सूरजमलजी सा० यादगिरी

श्रीमान् स्व सेठ कालूरामजी सा. कोठारी, ब्यावर

श्रीमान् सेठ मागरमलजी चम्पालालजी सा० बेंगलोर

" " सीरेहमलजी नन्दलालजी सा० सिहोर की छावनी

" " कुंदनमलजी सरूपचदजी सा ब्यावर

" " देवराजजी भवरलालजी सा "

" " अमृतमलजी सौभागमलजी सा० जावरा

" " कस्तूरचन्दजी सुगनचन्दजी सा० कटारिया, कुरवाई स्टेट

संरक्षक—

श्रीमान् धर्मपरायण रावतजी सा श्री हरिसिंहजी बासी (मेवाड़)

श्रीमान् सेठ प्रेमलजी लालचन्दजी सा गुलेदगढ

श्रीमान् लाला रतनलालजी सा मित्तल, आगरा

श्रीमान् सेठ उदेचन्दजी छोटमलजी सा उज्जैन

" " छोटेलालजी जेठमलजी सा मनेरा

" , सूरजमलजी साहब, भवानीगंज

" " स्व वकील रतनलालजी सा, सराफ उदयपुर

" " माधूलालजी छगनलालजी सा० मल्हारगढ

" " ताराचन्दजी शाहजी सा सादडी

श्रीमहावीर जैन नवयुवक मडल चित्तौड़गढ

श्री श्वे स्था जैन श्री सघ बड़ी सादडी

श्रीमती पिस्ताबाई लोढ़ामण्डी आगरा

" राजीबाई बरोरा

" अमारबाई आगरा

" चन्द्रपतिबाई देहली

श्रीमान् सेठ नथरामजी गोकुलचन्दजी सा० जसाणी

" " स्व जालमसिंहजी केशरीसिंहजी सा नीमच

" " शाहजी इन्दरमलजी मांगीलालजी सा गगरार

" " स्व हीरालाल संचेती की धर्म पत्नि श्रीमती पानबाई मालोट

श्री श्वे स्था जैन महावीर नवयुवक मण्डल डूगला

श्रीमान् सेठ आमूलालजी केसरीमलजी सा०
बैंगलोर सिटी
" " तेजसिंहजी फतेसिंहजी सा०
यादगवाड़ा
श्रीमान कुँवर पारसमलजी अभयमलजी सा०
अजमेर
श्रीमान मेहता खुमानसिंहजी बसन्तीलालजी सा
बड़ी सादड़ी
श्रीमान मोहनलालजी सा वकील उदयपुर
श्रीमान सेठ लखमीचन्दजी सतोषचन्दजी सा
मुरार
" " चम्पालालजी सा भलीजार, ब्यावर
" " नेमीचन्दजी शिकरचन्दजी सा
शिवपुरी
" " लाला फूलचन्दजी सा जैन, कानपुर
" " स्व पृथ्वीराजजी सा दूधेडिया
धूलिया
" " इन्दरमलजी सा जैन हाथरस
गुलराजजी पूनमचन्दजी सा मदनगंज
" " स्व पन्नालालजी करजवाला की
धर्मपत्नी श्रीमती सेठानी केसरबाई, मन्दसौर
" " सागरमलजी केसूरामजी सोलंकी
सादड़ी (मारवाड़)
" " मेहताबचन्दजी चोरड़िया, देहली
श्रीमती प्यारीबाई जैन जोधपुर (मारवाड़)
" " राधाबाई भेलसा (ग्वालियर)
श्रीमान सेठ पन्नालालजी मन्नालालजी, भटेवरा
इन्दौर
श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी गोयल की
धर्म पत्नि विमलादेवी मेरठ
श्रीमान् कुंवर मोतीलालजी मदनलालजी सा०
कानोड़
" लाला रोशनलालजी सा० जैन, कानपुर
" सेठ केशरीमलजी सा श्रीमाल, बनारस
" " रतनमलजी बापूलालजी सा, रतलाम
" " सहसमलजी देवराजजी सा
औरंगाबाद

" " फूलचन्दजी नाथूलालजी सा०
सिरोही
" " खेमराजजी भँवरलालजी सा०
नाथद्वारा
" " रतनमलजी नथमलजी सा०
मालाघाट
श्रीमान् सूरजमलजी जयकिशनजी जैनी, मांडवा
" अमरचन्दजी तेजमलजी कस्तूरचन्दजी
गंगापुर
श्रीसंघ ओसवाल मर्देसाथ पिपलोदा के अग्रगण्य
नाहँचा सेठ धनराजजी नेमचन्दजी
पिपलोदा
श्रीमान् सेठ हरखचन्दजी हाबूलालजी सा ताल
" " बख्तावरलालजी मन्नालालजी सा०
ठाकुरिया, इन्दौर
" " कुशलजी भीखाजी सा बिलोद
" " नाथूलालजी कल्याणमलजी सा०
हलोद
" " हजारीमलजी चम्पालालजी सा०
निम्बाहेड़ा
" " मोहनलालजी माणकलालजी सा०
अहमदाबाद
" " स्व रिखबदासजी सा०, ब्यावर
" " भैरूलालजी सा मेहता, डूंगला
" " राजमलजी नन्दलालजी सा०
भुसावल
" " मन्नालालजी भैरूलालजी सा०
मन्दसौर
" " मांगीरामजी मोडीरामजी सा०
नाथद्वारा
" " स्व पन्नालालजी बाफणा की धर्मपत्नि
श्रीमती कंचनबाई, मन्दसौर
श्रीमती प्रेमवती देवी, कानपुर
श्री वर्द्धमान नवयुवक मण्डल किशनगढ़
श्रीमान् मुस्तजिम बहादुर सेठ इन्दरमलजी सा
इन्दौर
" सेठ हीरालालजी धूलचन्दजी सा०, धार

श्रीमान् स्व० लाला श्रीचन्दजी की धर्मपत्नी
श्रीमती प्यारीबाई देहली
श्रीमान् सेठ छगनमलजी बस्तीमलजी सा० ब्यावर
श्रीमान् ठेकेदार चिमनलालजी, उदयपुर

,, ,, धनराजजी ,,
श्रीमान सेठ सागरमलजी केशूरामजी, मादड़ा
,, , छितरमलजी मिलापचन्दजी, मदनगंज
,, ,, चम्पालालजी सौभागमलजी कोचर, जावरा

— द्रव्य सहायता —

६५१) श्री श्वे० स्था० जैन श्री संघ जोधपुर (मारवाड)
१००) श्रीमान् सेठ कुन्दनमलजी स्वरूपचंदजी तालेड़ा, ब्यावर
१००) ,, ,, छगनमलजी बस्तीमलजी बोहरा, ब्यावर
१००) ,, ,, सागरमलजी नथमलजी लूँकड़, जलगाँव
२५) ,, ,, पूनमचन्दजी भँवरलालजी बाबेल, ब्यावर
२५) ,, ,, रोडमलजी घीसूलालजी बाबेल, ब्यावर
२५) ,, ,, चाँदमलजी टोडरवाल ब्यावर
२५) ,, ,, केवलचन्दजी अभयराजजी नाहर, ब्यावर

नोट.—इस पुस्तकका लागत मूल्य ४॥) रु है, पर उपरोक्त दान दाताओं की द्रव्य सहायता के कारण इस पुस्तक की कीमत ४) रु० रखी गई है।

प्रकाशक—

अनुक्रमणिका

तत्व–विभाग

(२) समाज विभाग

(३) जीवन-चरित्र विभाग

(४) पद्य-खड एवं शुभ सदेश



-: प्रकाशक की ओर से :-

जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति की स्थापना हुए आज २३ वर्ष हो गये। अपने जन्मकाल से लेकर अबतक समिति ने अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं, जिनमें छोटे-छोटे ट्रेक्टों से लेकर मोटे-मोटे ग्रन्थ तक शामिल हैं। विभिन्न योग्यता, श्रेणी और वर्ग के पाठकों ने उनसे कितना लाभ उठाया है और जैन-जैनेतर जनता ने तथा विद्वानों और समालोचकों ने उनकी किस प्रकार मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, यह सब बतलाने का यह स्थान नहीं है। यहाँ हम सिर्फ इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि समिति एक मात्र 'निर्ग्रन्थ प्रवचन" जैसे अद्वितीय संग्रह के प्रकाशन से ही अपने उद्देश्य में सफल हो सकी है। लेकिन आज जो ग्रथरत्न हम पाठकों के हाथों में समर्पित कर रहे हैं उसका स्थान स्थानकवासी समाज के साहित्य में क्या होगा, यह स्वयं पाठक ही निर्णय करेंगे। वास्तव में समिति का यह प्रयास एकदम नवीन है। अभी तक इस शैली का कोई ग्रंथ प्रकाशित हुआ हो, यह हमारे देखने में नहीं आया। इस ग्रंथ का बाह्य और आन्तरिक रूप सुन्दर बनाने में हमें कितनी सफलता मिल सकी है, यह पाठकों के सामने ही है।

जिन देवता को निमित्त करके विशुद्ध भक्ति का यह 'अर्घ्य' प्रस्तुत किया गया है, उनके विषय में यहाँ कुछ न कहना ही उचित होगा। उनका व्यक्तित्व विराट है, समाज पर उनका उपकार व्यापक और विशाल है उनकी संयम-तपोमयी चिर-जीवन साधना गूढ है। इन्हें कुछ पंक्तियों में बद्ध कर देना संभव नहीं है। इन सब चीजों पर प्रकाश डालने वाला साहित्य कुछ तो इसी ग्रन्थ में अलग प्रस्तुत किया गया है और विशेष जिज्ञासा रखने वालों के लिए 'आदर्श मुनि' और 'आदर्श उपकार' आदि ग्रंथ इसी समिति की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं। यहा सिर्फ इतना ही कहना है कि जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता, जगद्वल्लभ प मुनि श्री चौथमलजी महाराज के असीम उपकारों को जो उन्होंने अपने, प्रभावशाली उपदेशों द्वारा और मुमुक्षु संतों के अनुरूप अनुकरणीय, संयमाराधना का आदर्श उपस्थित करके समाज के प्रति किये हैं, हम अत्यन्त विनम्रभाव से स्वीकार करते हैं। उन उपकारों के आगे श्रद्धा भक्ति के द्योतक इस ग्रंथ का मूल्य नगण्य है। यह तो सिर्फ विनम्र कृतज्ञता प्रकाशित करने का एक क्षुद्र प्रयास मात्र है।

हमारी बड़ी आकांक्षा थी कि ग्रंथ को ऐसा रूप दिया जाय जो जैन सिद्धान्त के सभी प्रमुख मन्तव्यों पर प्रकाश डाले। इसके लिए हमने भरसक प्रयास किया। फिर भी विद्वत्समाज का ध्यान हम पूर्ण रूप से अपनी ओर आकर्षित न कर सके। फिर भी जिन विद्वानों ने अपना कीमती समय और शक्ति लगाकर ग्रंथ को उपयोगी बनाने में योग दिया है, हम उनके अतीव आभारी हैं। इस ग्रंथ में विभिन्न जैन सम्प्रदायों के विद्वानों और कतिपय जैनेतर विद्वानों की रचनाएं सक

लित है। अपनी-अपनी रचनाओं में लेखकों ने अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किए हैं। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि प्रत्येक लेखक अपने विचारों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। सम्पादक या प्रकाशक सभी विचारों से सह-मत ही हैं, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है।

ग्रंथ की छपाई को यथा संभव सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी कहीं-कहीं प्रूफ-संशोधन संबंधी खटकने वाली भूलें रह गई हैं। लेकिन वह भूलें न अर्थ विपर्यास पैदा करती हैं और न अर्थभ्रम ही। अतएव अशुद्धि पत्र देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

कल्पना से बाहर की इस मँहगाई के युग में भी इतने बड़े ग्रंथ का जो मूल्य रखा गया है वह अधिक प्रतीत न होगा।

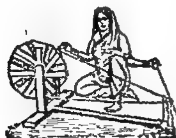
अन्त में हम इस ग्रंथ के लेखकों तथा अन्य सहायक महानुभावों के प्रति फिर आभार प्रदर्शित करते हैं। साथ ही आशा रखते हैं कि हमारे सहयोगी बन्धु भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग देते रहेंगे, जिससे समिति अधिक कार्यक्षम बने और उपयोगी साहित्य प्रकाशित करके समाज के श्रेय में उचित भाग ले सके।

निवेदक

देवराज सुराणा
प्रेसीडेन्ट

छगनलाल दुगड़
मन्त्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम (मालवा)



— भूमिका —

आर्यावर्त की युगयुगान्तरों से चली आने वाली गरिमा की सबसे बड़ी विशेषता ज्ञान के क्षेत्र में रही है। समय समय पर पैदा होकर अनेक मनस्वियों ने इस परम्परा का पूरी तरह से निर्वाह किया है। यह धारा केवल साधारण मानव के गृह से ही नहीं बढ़ी है वरन् कई राजप्रासादों से भी टकराई है। जिनके मस्तक पर राजमुकुट सुशोभित थे, जो महलों की सुन्दरियों के दृग्कोरों के परकोटे में आबद्ध थे, वे भी इस ससार की नश्वरता से मुह मोड जीवन के महान् सत्य की खोज में अग्रसर होते दिखाई दिये हैं। यह धारा अबाध थी, तथा आर्यदेश की परम्परा के अनुरूप थी।

भगवान ऋषभदेव द्वारा सस्थापित जैनधर्म की गरिमा को भगवान् महावीर ने सवर्द्धना प्रदान की। जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त के लिए भगवान् महावीर की शिष्य परंपरा ने पाद परिभ्रमण द्वारा देश में इस धर्म के प्रचार तथा प्रसार की विशाल चेष्टा की थी। एक समय वह था जब समस्त भारतवर्ष के मस्तक पर चढ़कर जैन धर्म बोलता था, प्रत्येक भारतवासी के हृदय में, श्रवणों में, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य के शांतिमय उपदेश विहार करते थे।

जैन दर्शन का मुख्य आधार अनेकान्तवाद तथा अहिंसा पर अवलम्बित है अनेकान्तवाद के द्वारा जैनधर्म ने समस्त जगत् के धर्मों के ऐक्य का विराट् प्रयत्न किया है, तथा अहिंसा के द्वारा समस्त सृष्टि के कल्याण की मंगल-कामना की है अनुयायी अल्पसख्यक होने पर भी जैनधर्म का प्रभाव आज भी प्रत्येक भारतीय धर्म के भीतर स्पष्ट दिखाई देता है। प्राचीन भारत का इतिहास मानव सस्कृति के विकास का इतिहास है। जिनेश्वर देव के विविध कल्याणसूचक सर्वज्ञ, जगत्प्रभु त्रिकालविद्, क्षीणकर्मा, तीर्थंकर, केवली अर्हत् एव जिन नामों से ही इस धर्म की गरिमा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस धर्म की महानता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। जैन धर्म का स्याद्वाद् सिद्धान्त अपने ढग का बेजोड सिद्धान्त है।

आज के युग में जब कि भारत ने गुलामी के पाश को छिन्न भिन्न कर मुक्ति की सास ली है, इसी धर्म के विश्व-विश्रुत सिद्धान्त अहिंसा के बल पर ही राष्ट्र निर्माण और विश्व व्यवस्था की स्थापना में सफलता की प्राप्ति सभव है। युग पुरुष गाधी ने पराधीन भारत को अहिंसा मंत्र के द्वारा ही स्वाधीनता का द्वार दिखाया है।

भगवान महावीर के आदर्श सिद्धान्तों का प्रचार करने, अपने उपदेश से भव जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाने का जिस विभूति ने अथक प्रयत्न किया है, जिसने अपने ऐहिक सुखों को क्षणमात्र में छोड़कर लोक कल्याण का मार्ग अपनाया, ऐसी महानात्मा के विषय में जितना भी लिखा जाय थोडा है। आज ससार

में ऐसे विरले ही नररत्न है, जिनके समक्ष लोक कल्याण का मंगलमय उद्देश्य हो, तथा जिनका लक्ष्य सृष्टि के छोटे से छोटे जीवों की रक्षा के साथ ही बड़े से बड़े प्राणी की मंगलकामना हो। संसार की चिन्ता भी वही कर सकता है, जिसे निज की कोई चिन्ता न हो, जिसने अपने व्यक्तित्व को समष्टि की सेवा में लीन कर दिया हो। जिसके समक्ष सोते जागते, उठते बैठते यही समस्या घूमती रहती हो कि समस्त संसार का कल्याण हो, किसी को भी दुख, क्लेश आदि सांसारिक संकट आकर अपने बंधनों में न बांधलें।

आज भारतीय स्वाधीनता के प्रथम प्रभात में जिस भयंकर रक्त-पात, नृशंसता, लूटमार, चोरी, बर्बरता आदि का प्राचुर्य हमें दिखाई दे रहा है, यह भारतीयता के लिए वास्तव में कलंक की बात है। भारत तो सदैव दूसरे राष्ट्रों के लिए आशा, श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक रहा है। आज के निराशाजनक घनान्धकार में केवल एक प्रकाश की किरण दिखाई देती है, वह है, राष्ट्रपिता गांधी और श्री जैन दिवाकरजी जैसे महानात्माओं के उपदेशों की शान्तिमयी विचार धारा। आज का भयाकुल मानव, संत्रस्त मानव, बर्बरमानव, यदि इन महात्माओं द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करे तो सचमुच भारत का ही नहीं वरन भारत के द्वारा समस्त विश्व का कल्याण कर सकता है।

द्वितीय महायुद्ध का विकट दैत्य अभी भी कराह रहा है। आज की कूटनीति फिर उसे उभाड़कर तीसरे महायुद्ध के लिए प्रेरित कर रही है। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर द्वारा प्रसारित भगवती अहिंसा ही एक ऐसा अमोघ मंत्र है, जो जीवन के समग्र व्यापारों में विश्व-शरीर के समस्त रोगों का उपचार कर सकता है।

यह ग्रंथ विश्व कल्याण के उपासक उन महात्मा के प्रति एक श्रद्धांजलि है जिन्होंने सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा अपना जीवन 'वसुधैव कुटुम्बकं' की साधना में निहित कर दिया है।

महात्मा जन्म जात होते हैं, बनाए नहीं जाते यह उक्ति श्री जैन दिवाकरजी के चरित्र के साथ कई अंशों में चारितार्थ होती है। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर बुद्धिमत्ता तथा मेधा से अल्पायु ही में बहुज्ञान प्राप्त कर, सांसारिक बाधाओं की परवाह न कर अपनी आदर्श माता के उपदेशों के अनुरूप ही मुनिवृत्ति धारण की। अपनी ५० वर्ष की दृढ साधना एवं बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा श्री जैन दिवाकरजी महाराज ने अस्वाद, अपरिग्रह, शरीरश्रम, निर्भयता, अस्पृश्यता निवारण द्वारा साधारण मानव ही नहीं वरन अनेकों नरेशों को उपदेश देकर सर्वव्यापी अहिंसा तथा जैन धर्म के आदर्श सिद्धांतों के द्वारा भारतीय भक्तिमार्ग की युगानुकूल चलीआने वाली मन्दाकिनी के स्रोत से देश के लाखों उद्‌बुद्धमना नरनारियों को स्वस्थ जीवन बिताने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। आपके शिष्य समुदाय में कई विचारक दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, महन्त, सन्त, समाज सुधारक लोक-सेवक आदि सम्मिलित हैं।

जनता के हृदय प्रदेश में जैन दिवाकरजी के प्रति श्रद्धा का भी एक बहुत बड़ा कारण है और वह है उनकी समष्टि के कल्याण चिन्तन के प्रति तादात्म्य भावना। आज दिवाकरजी की उपासना सचमुच उनके महान् व्यक्तित्व को विश्व रूप की कोटि तक ले जाकर प्रतिष्ठित कर चुकी है। अपने जीवन के पिछले पचास वर्ष जिस साधना में उन्होंने व्यतीत किये हैं, उसमें जड़ता, कटुता, स्वार्थपरता अहमन्यता, आदि को किंचित मात्र भी स्थान नहीं पाने दिया। जिन्होंने एक बार भी उनका उपदेश श्रवण किया वह उनका भक्त बन गया।

दिवाकरजी की वाणी का जादू सचमुच आज के समाज के मस्तक पर चढ़ कर बोलता है। जब वे अपने उपदेशों द्वारा, मानवात्मा के हृदय प्रदेश की ग्रन्थि टटोलते हैं तब सचमुच श्रोता मंत्र मुग्ध हो आत्मविभोर हो जाता है। निषाद के तीर से क्रौंच का वध करके विश्व कवि वाल्मीकि के हृदय में जो करुणा की धारा बहाई उसे पाकर रामचरित गाथा सचमुच विश्व काव्य की अमर देन बन बैठी है। यह करुणा की धारा आज भी कवि कंठों में विहार कर लोक कल्याण के मार्ग को सतत् आलोकित करती आयी है। युग के अनुरूप, परिस्थिति के अनुसार पैदा होने वाले संतों ने इस काव्य धारा का आश्रय लेकर जनता का विविध प्रकार से कल्याण ही किया है। भक्ति मार्ग की धारा के निर्गुण उपासक कई कवियों के बोल अटपटे हैं, कविता अटपटी है परन्तु वह जादू की तरह श्रोताओं के हृदय में असर पैदा कर ती है। श्री दिवाकरजी की कविता समझने में सुबोध एव ज्ञान के विपुल प्रकाश की उद्भावना करने वाली है। आज जैनधर्म की विशृंखलित परंपराओं को जैन दिवाकरजी जैसे मनीषी ही अपने गुरुज्ञान के आलोक से स्थिर किये हुए हैं, समस्त स्थानकवासी समाज में श्री जैन दिवाकरजी आदर्श मुनि के रूप में माने जाते हैं।

स्वर्ण जयन्ती महोत्सव चित्तौड़ के अवसर पर जिसने उस एकत्रित विशाल जन समुदाय को देखा होगा वह सचमुच आत्म-विभोर हो गया होगा। स्थानकवासी समाज के इतिहास में चित्तौड़ का आदर्श-उत्सव एक अभूतपूर्व घटना है। उस समय एकत्रित हुए हजारों नरनारियों के मुख मंडल पर खेलने वाले दीप्तिमय भावों से ही यह प्रकट हो जाता था, कि जिस महानात्मा के अभिनन्दन में इस उत्सव का आयोजन किया गया था, उसके प्रति उनके हृदय में कितनी भक्ति है। इस अवसर पर किये गये प्रत्येक आयोजन में अभूतपूर्व सफलता मिली। उस अपार जन समुदाय ने जिस उमंग एव श्रद्धा का प्रदर्शन किया वह भी श्री जैनदिवाकरजी की गरिमा का ही प्रभाव था।

इसी अपूर्व अवसर पर इस ग्रंथ को श्री जैनदिवाकरजी के कर कमलों में अर्पण करने का भी आयोजन किया गया था। कई कठिनाइयों से यह ग्रंथ उक्त अवधि तक संपूर्ण न हो सका था अतः मूल पाण्डुलिपि ही उनकी सेवामें अर्पित की गई थी। कई कठिनाइयों की सीढ़ियों को पार करता हुआ आज यह ग्रंथ रत्न

आप लोगों के हाथों में पहुँच रहा है। ग्रंथ में जहां तक हो सका विषयान्तर नहीं आने दिया गया है तथा तारतम्य की रक्षा की गई है। साहित्य, समाज, दर्शन, जीवन, पद्यखंड एवं संदेशादि विभागों में इस ग्रंथ के लेखों को विभक्त किया गया है।

इस ग्रंथ के लेखों के सम्बन्ध में मैं लेखक महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अपने बहुमूल्य लेख अल्प समय में ही हमें भेज देने की कृपा की है। यह सब उन कृपालु लेखक महानुभावों की सद्भावना का ही फल है कि ग्रंथ आज इस रूप में श्री जैन दिवाकरजी के भक्तों एवं जैन संस्कृति तथा इतिहास के प्रेमियों के समक्ष पहुँच रहा है।

इस अवसर पर मैं श्री जैन दिवाकरजी के सुशिष्य परम आदरणीय उपाध्याय साहित्यरत्न पं० मुनि श्री प्यारचंदजी महाराज को नहीं भूल सकता, जिन्होंने ग्रंथ तयार करने सम्बन्धी मेरे प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप देने में अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता एवं प्रगाढ पांडित्य का पूरा पूरा परिचय दिया। उपाध्यायजी श्री प्यारचंदजी महाराज स्वयं अनेक गूढ ग्रंथों के प्रणेता हैं एवं दिवाकरजी के अन्यतम शिष्यों में से हैं। अपने गुरु के यश सौरभ से दिग्दिगंत को उद्भासित करना आपका प्रथम लक्ष्य रहता है। यह ग्रंथ-रत्न ही उनकी प्रेरणा, सूझ, जागृत-बुद्धि एवं सतत् कार्यशील व्यक्तित्व का परिचायक है। इसकी सफलता का श्रेय सचमुच उपाध्यायजी महाराज ही को है।

अंत में मैं अपने सभी सहयोगियों विद्वानों एवं लेखकों को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे समय समय पर अपनी बहुमूल्य सम्मतियों से लाभान्वित कर इस गुरुतर कार्य को संपूर्ण करदेने में सहयोग प्रदान किया है।

जिस महापुरुष के कर कमलों में यह ग्रंथ-रत्न अर्पित किया गया है उनका व्यक्तित्व विशाल, पांडित्य गहन एवं प्रतिभा ओजस्विनी है। ऐसे महापुरुष कृष्ण की गीता के वाक्य "यदा यदा हि धर्मस्य" के अनुरूप ही जन्म लेकर लोक कल्याण करते हैं। आज के संत्रस्त मानव एवं पीडित मानवता का कल्याण इसी इसमें है कि ऐसे युग पुरुषों द्वारा प्रसारित सदुपदेशों के मार्ग का अवलम्बन करें, तथा उनके संदेशों से समस्त संसार में शांति एवं कल्याण की भावना का प्रचार करें। आजका भयाकुल, परवश, संत्रस्त संसार स्वतंत्र एवं सुखी हो।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख माप्नुयात्॥

मोतीलाल उर्फ ...

मुनि स्तुति

अथ निर्णीततत्त्वार्थो धन्या सविग्नमानसा ।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसभूतसुखनि स्पृहा ॥ १ ॥
भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धि समाश्रिता ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिन पुण्यचेष्टिता ॥ २ ॥
विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्त स्थिरीभूत स हि ध्याता प्रशस्यते ॥ ३
सत्सयमधुरा धीरैर्नहि प्राणात्ययेऽपि यै ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वरा । ४ ॥
परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वा कण्टकैर्दृढे ।
मनागपि मनो येषा न स्वरूपात्परिच्युतम् । ५ ।
क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरै ।
अजय्यैरपि विध्वस्त न येषा यमजीवितम् ॥ ६ ॥
मन प्रीणयितुं येषा क्षमास्ता दिव्ययोषित ।
मैत्र्यादय सता सेव्या ब्रह्मचर्येऽप्यनिन्दिते ॥ ७ ॥
तपस्तरलतीव्रार्चि प्रचये पातित स्मर ।
यै रागरिपुभि सार्द्ध पतङ्गप्रतिमीकृत ॥ ८ ॥
नि सङ्गत्व समासाद्य ज्ञानराज्य समीप्सितम् ।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूत विचेष्टितम् ॥ ९ ॥
अत्युग्रतपसाऽऽत्मान पीडयन्तोऽपि निर्दयम् ।
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥ १० ॥
स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिता ।
तृष्णार्चि शान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमा ॥ ११ ॥
अशेषसंगसन्यासवशाज्जितमनोद्विजा ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासघट्टघातका ॥ १२ ॥
वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदा ।
शरीराहारससारकामभोगेषु नि स्पृहा ॥ १३ ॥
विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशया ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्द्धय ॥ १४ ॥
स्वर्णाचल इवाकम्प्या ज्योति पथ इवामला ।
समीर इव नि सङ्गा निर्ममत्व समाश्रिता ॥ १५ ॥
हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पका ।
निरपेक्षा शरीरेऽपि सापेक्षा सिद्धिसङ्गमे ॥ १६ ॥
इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिता ।
ध्यानसिद्धे समाख्याता पात्र मुनिमहेश्वरा ॥ १७ ॥

" ज्ञानार्णव "

-: स्याद्वाद :-

लेखक—प्रसिद्धवक्ता पं० श्री सौभाग्यमलजी महाराज



जैन धर्म ने विश्व को स्याद्वाद का अनमोल उपहार समर्पित किया है। स्याद्वाद के सुसंगत सिद्धान्त के द्वारा विविधता में एकता, और एकता में विविधता का दर्शन कराकर जैन-धर्म ने विश्व की महान् सेवा की है। स्याद्वाद जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त है और अपने इस वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्त के कारण जैन धर्म विश्वधर्म होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक धर्म भी है।

आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ में ऐसे गुण हैं जिनका मानव जगत को पूरा ज्ञान नहीं है। हम पदार्थों को जिस रूप में देखते हैं वही उसका पूरा स्वरूप नहीं होता वरन् उसमें अनेकों अप्रकट गुण-शक्तियाँ विद्यमान हैं। विज्ञान का कार्यक्षेत्र इन वस्तु-धर्मों का अन्वेषण करना है। वर्तमान महायुद्ध में भयङ्कर क्रान्ति मचा देने वाला परमाणु-बम इसका उदाहरण है। दुनिया में पदार्थ उतने के उतने हैं लेकिन विज्ञान के अन्वेषण और आविष्कार के कारण उन पदार्थों के अन्दर रहे हुए अनेक गुणों का विश्व को ज्ञान हो रहा है। इस महा-युद्ध के पूर्णाहुति काल के पहिले अणु बम एक अज्ञात तत्त्व था वह आज प्रकट हुआ

है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुमात्र में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। हम जो वस्तु का स्वरूप देखते हैं वही उसका पूरा स्वरूप नहीं है। उसके अतिरिक्त भी वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। विज्ञान का यह सिद्धान्त और जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त समान है इससे यह प्रमाणित होता है कि स्याद्वाद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

स्याद्वाद की आधार शिला पर खड़ा हुआ जैन धर्म यह कहता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु (दीप से लगाकर आकाश तक की प्रत्येक वस्तु) में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों का विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से जब तक अवलोकन न किया जाय तब तक वस्तु का सत्य स्वरूप नहीं समझा जा सकता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु का अवलोकन करना ही स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि एक ही पदार्थ में में भिन्न २ वास्तविक धर्मों को सापेक्षतया स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है। यथा-एक ही पुरुष अपने भिन्न२ सम्बन्धीजनों की अपेक्षा से पिता पुत्र और भ्राता आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है, इसी प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में अनेक धर्मों की सत्ता प्रमाणित होती है। इस अपेक्षा भेद की उपेक्षा अथवा अवहेलना करने से वस्तु का स्वरूप अपूर्ण ही रह जाता है। वस्तु के किसी एक ही धर्म को लेकर उसका निरूपण किया जाय और उसे ही सर्वांश सत्य समझा जाय तो यह विचार भ्रान्त ही ठहरेगा। उदाहरणार्थ किसी एक पुरुष-व्यक्ति को लीजिए। उसे कोई पिता, कोई पुत्र, कोई मामा, और कोई भाई कह कर पुकारता है। एक पुरुष की इन भिन्न भिन्न संज्ञाओं से प्रतीत होता है कि उसमें पितृत्व, पुत्रत्व,-पितृव्यत्व, मातुलत्व और भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता मौजूद है। अब यदि उसमें रहे हुए-केवल पितृत्व धर्म की ही ओर दृष्टि रख कर उसे सर्वथा पिता ही मान बैठें तो बड़ा अनर्थ होगा। वह हरएक का पिता ही सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह-पिता भी है और पुत्र भी। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र कहलाएगा। इस तरह भिन्न २ अपेक्षाओं से इन सभी संज्ञाओं का उसमें निर्देश किया जा सकता है। जैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, आदि विरोधी धर्मों का पाया जाना अनुभव सिद्ध है उसी तरह हर एक पदार्थ में अपेक्षा-भेद से अनेक विरोधी धर्मों की सत्ता प्रमाण सिद्ध है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप एक समय में एक ही शब्द द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जा सकता है। इसी तरह वस्तु में रहने वाले अनन्त धर्मों में से किसी भी धर्म का अपलाप भी नहीं किया जा सकता है। अतः केवल एक ही दृष्टि बिन्दु से पदार्थ का अवलोकन न करते हुए, भिन्नभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से ही उसका पर्यालोचन करना न्यायसंगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप है। यही स्याद्वाद का तात्पर्य है।

स्याद्वाद के इस अनुपम तत्त्व को नहीं समझने के कारण विश्व में विविध धर्मों, दर्शनों मतों, पन्थों, और सम्प्रदायों में विवाद खड़े होते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य, मिथ्या बतलाते हैं। वे अपने ही माने हुए धर्म या मतको सम्पूर्ण सत्य मानकर दूसरे धर्मों का निषेध करते हैं। इस तरह संसार में धर्म के नामपर विवाद उपस्थित होते हैं। इसका कारण केवल एकान्तवाद ही है। एकान्तवाद वास्तविकता से बहुत दूर होने के साथ ही अपूर्ण होता है। इतना ही नहीं, वह अपूर्णता में पूर्णता का मिथ्या आरोप करता है। इस बातको सरलता से हृदयगम कराने के लिये एक दृष्टान्त उपयोगी है, वह यह है —

कुछ जन्म के अन्धों ने हाथी का नाम सुना। पर हाथी कैसा होता है, इस बातका उन्हें ज्ञान नहीं था। किसी व्यक्ति ने उनके सामने हाथी लाकर खड़ा कर दिया। वे लोग हाथी के अलग अलग अवयव छूने लगे। कोई हाथी के पाव के हाथ लगाता है, कोई सूंड पकड़ता है, कोई कान छूता है, कोई पेट टटोलता है, कोई पूंछ पकड़ता है। इस प्रकार अपने अपने हाथ में आये हुए हाथी के अवयव को वे हाथी समझने लगे। जिसने हाथी के पैर पकड़े थे वह कहने लगा कि हाथी स्तम्भ के समान होता है सूंड पकड़ने वाला बोला कि हाथी मूसल के समान होता है। कान टटोलने वाला कहता है कि हाथी सूप के समान होता है। पेट पर हाथ फेरने वाला बोला कि हाथी कोठी के समान होता है। इसीतरह पूंछ पकड़ने वाला बोला कि हाथी रस्से के समान होता है। इस प्रकार वे सभी अन्धे अपनी अपनी बात को पूर्ण सत्य समझकर परस्पर विवाद करने लगे और एक दूसरे को मिथ्या बतलाने लगे। ठीक यही हाल एकान्तवादी दर्शनों, धर्मों और मतों का है। उक्त जन्मान्धों का कथन एक एक अंश में सत्य अवश्य है पर जब वे अपनी ही धुन में एक दूसरे की बात काटने लगते हैं तब उन सबका कथन असत्य हो जाता है। हाथी को भली भांति जानने वाला सूझता आदमी जानता है कि उन्होंने सत्य के एक एक अंश को ही ग्रहण किया है और शेष अंशों का अपलाप कर दिया है। अगर ये लोग अपनी बातको ठीक समझते हुए अन्य को भी सच्चा समझें तो इन्हें मिथ्या का शिकार न होना पड़े। अगर सभी अन्धे अपनी २ एकदेशीय कल्पना को एकत्र करके हाथी का स्वरूप समझें तो उन्हें हाथी की सर्वाङ्ग सम्पूर्ण आकृति का ज्ञान हो सकता है। परन्तु अज्ञान और कदाग्रह के कारण वे एक दूसरे को मिथ्या कहकर स्वयं झूठ के पात्र बन रहे हैं। ठीक इसी तरह विश्व में प्रचलित धर्मों के विषय में समझना चाहिए। सत्य सर्वत्र एक है, अखण्ड है और व्यापक है। उसके सम्बन्धमें किसी तरह के विवाद को अवकाश नहीं है। तथापि धर्म के नाम पर विविध मान्यताएं प्रचलित हैं और विश्व में धार्मिक विवाद का एक बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित है। इस धार्मिक विवाद का कारण केवल कदाग्रह है। संसार के विभिन्न पथ और सम्प्रदाय सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं लेकिन उनकी अपूर्णता के कारण वे वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण कर सकते हैं। सत्य के एक

अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेने से झगडे होते हैं सभी धर्मवाले अपनी २ धुन में मस्त होकर दूसरे को झूंठा ठहराते हैं । इस कारण वे स्वयं झूंठे ठहरते हैं। जब एकत्रित होकर न्याय बुद्धि से पक्षपात छोड़कर धर्म का निर्णय करें तो धर्म का सच्चा स्वरूप मालूम हो सकता है।

जैन दर्शन का स्याद्वाद विश्व के समस्त धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और दर्शनों का समन्वय कर देता है । वह विश्व को यह शिक्षा देता है कि जगत् के सभी धर्म और दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही अंश हैं। परन्तु जब एक अंश दूसरे अंश से न मिलकर उनका तिरस्कार करता है तब वह विकृत हो जाता है और सत्य मिटकर सत्याभास हो जाता है। जब ऐसी स्थिति हो जाती है तब वह मान्यता उस मत के अनुयायियों के लिए नाव मिटकर पत्थर रूप हो जाती है। यह एकान्तवाद की स्थिति संसार के महासागर में डुबा देने वाली हो जाती है। परन्तु जो मत, पंथ या दर्शन दूसरे सत्य के अंशों को पचाने की क्षमता रखता है वह उदार और संगठित बनकर पूर्ण सत्य के मार्ग पर प्रगति करता है। स्याद्वाद यह सिखलाता है कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टि कोणों से देखो। तुम अपने दृष्टि कोण को सत्य समझो लेकिन जो दृष्टि कोण तुम्हें अपना विरोधी प्रतीत होता है उसकी सत्यता को भी समझने की कोशिश करो। उसे मिथ्या कहकर यदि अस्वीकार करोगे तो तुम स्वयं 'मिथ्यावादी' हो जाओगे। सम्पूर्ण वस्तु तत्व का अवलोकन करने के लिए सापेक्ष दृष्टि होनी चाहिये । सापेक्ष दृष्टि का तात्पर्य है कि जो वस्तु एक दृष्टि से जिस रूप में प्रतीत हुई हो उसे ही पूर्ण न मानकर दूसरे दृष्टि कोणों के लिये भी उसमें अवकाश होना चाहिये। इसी सापेक्षवाद को पारिभाषिक शब्द में 'नयवाद' कहते हैं।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर जो यथार्थ अभिप्राय होता है वह " नय " है। एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से उत्पन्न होने वाले विभिन्न अभिप्राय " नय " कहे जाते हैं । अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सम्बन्ध में अनन्त प्रकार के अभिप्राय और विचार हो सकते हैं अतएव नय भी अनन्त हैं। " सन्मति सूत्र " में सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्यवर सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है :-

" जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया

अर्थात — जितने वचन प्रकार हैं उतने ही नयवाद है। नयों के सम्बन्ध में यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि ये नय अपनी अपनी मर्यादा में ही सत्य होते हैं। जब ये अपनी मर्यादा से बाहर होकर एक दूसरे के प्रतिषेधक हो जाते हैं तो ये असत्य हो जाते हैं और अमान्य ठहरते हैं। जो नय अपने विषय ग्राहक होकर भी अन्य का निषेध नहीं करता है वही नय कहलाता है और जो नय दूसरे नय का निषेध करके प्रवृत्त होता है वह दुर्नय या नयाभास है। कहा भी है —

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥

अर्थात्—प्रमाण वस्तु के अनेक रूपों को ग्रहण करता है। नय वस्तु के एक अंश को विषय करता है। नय दूसरे धर्मों की अपेक्षा रखता है। जो दूसरे धर्मों का निराकरण करता है वह दुर्नय है।

नयवाद सापेक्ष (आंशिक) सत्य है। इस तत्त्व को सुबोधतया समझाने के लिए यह दृष्टान्त उपयोगी होगा। विशाल समुद्र की जलराशि में से थोड़ासा (घड़ाभर) पानी लीजिये। उस घड़ेभर पानी को न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र कह सकते हैं। अगर उस घड़ेभर पानी को ही समुद्र कह दिया जाय तो समुद्र का शेष जल असमुद्र हो जायगा अथवा अनेक समुद्र मानने पड़ेंगे। ये दोनों प्रत्यक्ष बाधित हैं इसलिए समुद्र के घड़ेभर पानी को हम समुद्र नहीं कह सकते। इसी तरह उसे असमुद्र भी नहीं कहा जासकता है। इसका कारण यह है कि वह जल समुद्र का ही है। अगर समुद्र के घड़ेभर पानी में अल्प भी समुद्रता नहीं है तो वह सब पानी में भी नहीं होसकती है। क्योंकि-जो धर्म अंशमें नहीं है वह, समुदाय में भी नहीं होसकता। जब समुद्र के घड़े-भर पानी में भी समुद्रता है नहीं है तो क्या कारण है कि वह शेष जल में मानी जाय ? समुद्र के घड़े-भर पानी में भी समुद्रता है ही, अन्यथा वह समुद्र का जल नहीं कहा जा सकता है। इससे यह तात्पर्य निकला कि समुद्र का घड़ा-भर पानी न तो समुद्र ही है और न असमुद्र ही है, लेकिन समुद्र का अंश है। ठीक इसी तरह नय द्वारा गृहीत वस्तु स्वरूप न तो पूर्ण वस्तु ही है और न अवस्तु ही है, लेकिन वस्तु का अंश है। कहा भी है—

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि ।
नायं वस्तु नचावस्तु वस्त्वंशो कथ्यते बुधैः ॥

अर्थात्—जैसे समुद्र के घड़े-भर पानी को न तो समुद्र और न असमुद्र कह सकते हैं लेकिन समुद्र का अंश कहते हैं उसी तरह नय द्वारा गृहीत वस्तु न तो पूर्ण वस्तु ही है और न अवस्तु ही। वह वस्तुका अंशमात्र है।

यह भलीभांति सिद्ध हो चुका है कि 'नय' वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है अतएव यह आंशिक और आपेक्षिक सत्य है। इस आपेक्षिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मानकर जो वस्तु के अन्य अंशों का अपलाप करता है वह नयाभास हो जाता है। वादिदेव सूरि ने कहा है—

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी नयाभासः—

अर्थात्— जो नय अपने गृहीत वस्तु के अंश को ही सत्य मानकर शेष अंशों का निषेध करता है वह नयाभास है।

विश्व में जितने एकान्तवादी मत या पन्थ हैं वे अपने ही माने हुए तत्त्व को पूर्ण सत्य मानकर शेष मतों का तिरस्कार करते हैं अतएव वे सभी नयाभास के उदाहरण बनते हैं और अमान्य ठहरते हैं। विश्व के सभी प्रचलित धर्म, दर्शन या पन्थ सत्य के अंश हैं। लेकिन उसके अनुयायी उसी अंश को सम्पूर्ण मान लेते हैं अतएव वह सत्यांश भी असत्य हो जाता है। उदाहरण के लिए बौद्ध दर्शन वस्तु के अनित्य धर्म को ही मान देकर नित्यधर्म का तिरस्कार करता है और कापिल दर्शन (सांख्य) वस्तु के नित्य धर्म को ही स्वीकार करता है और अनित्यता का अपलाप करता है। दोनों दर्शन अपने अपने पक्ष के आग्रही हैं और एक दूसरे को मिथ्या कहते हैं लेकिन वास्तविक दृष्टि से दोनों ही अपूर्ण हैं। वस्तु में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म पाये जाते हैं अतएव वस्तु नित्यानित्य है। यह कहकर जैन दर्शन का नयवाद उक्त दोनों विरोधी दृष्टिकोणों का समन्वय करता है।

जैन दर्शन का नयवाद द्वैत, अद्वैत, निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पुरुषार्थ, आदि वादों का बड़ी कुशलता के साथ समन्वय करता है। जैन दर्शन, विभिन्न विचारों के पीछे रहे हुए विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं को अवलोकन करके समन्वय के सिद्धान्त के द्वारा परस्पर के मनोमालिन्य को दूर करके सबमें एकता स्थापित करता है। नयवाद, विचार दृष्टि के लिए अंजन का कार्य करता है जिससे दृष्टि का वैषम्य दूर हो जाता है। नयवाद, प्रज्ञा की दृष्टि को विशाल और हृदयको उदार बनाकर मैत्रीभाव का मार्ग सरल बना देता है। समस्त कलहों का शमन करके जीवन-विकास के मार्ग को सरल बनाने में नयवाद, प्रधान और समर्थ अंग है। नयवाद के विमल जल से दृष्टि का प्रक्षालन होने से राग द्वेष का प्रचार बंद हो जाता है। इस तरह आध्यात्मिक और व्यावहारिक उभय दृष्टि से नयवाद विश्व हितकारी सिद्धान्त है। श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है —

नयास्तव स्यात्पद लाञ्छनाःस्यु रसोपविद्धा इव लोहधातवः
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः

अर्थात्—हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार विविध रसों द्वारा सुसंस्कारित लोह स्वर्णादि धातु अभीष्ट पौष्टिकता और स्वास्थ्य प्रदान करती है इसी तरह "स्यात्" पद से अंकित आप के नय अभीष्ट फल के प्रदाता हैं अतएव हितैषी आर्य-पुरुष आप को नमस्कार करते हैं।

इसी तरह स्याद्वाद की समन्वय शक्ति को प्रदर्शित करते हुए प्रखर तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशिका स्तोत्र में कहा है —

उद्धाविव सर्व सिन्धवःसमुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ।

—चतुर्थ द्वात्रिंशिका श्लो० १५

हे नाथ ! जैसे सभी नदियां समुद्र में आकर सम्मिलित होती है, इसी तरह विश्व के समस्त दर्शन आप के शासन में सम्मिलित हो जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों में समुद्र नहीं दिखाई देता है उसी तरह भिन्न २ दर्शनों में आप नहीं दिखाई देते (तथापि सब दर्शन समुद्र में नदियों के समान आपके शासन में समा जाते हैं।)

स्याद्वाद के समन्वय तत्त्व की मीमांसा कर चुकने पर अब यह बताना आवश्यक है कि पदार्थ अनन्त धर्मात्मक कैसे है ? उसमें नित्य और अनित्य, सत्-असत्, सामान्य विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि विरुद्ध धर्म कैसे पाये जाते हैं ?

—पदार्थों का व्यापक स्वरूप—

विश्व के पदार्थों का भलीभांति अवलोकन करने से यह ज्ञान होता है कि पदार्थमात्र उत्पत्ति विनाश और स्थिति से युक्त है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में श्री उमास्वाति ने कहा है—

" उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत् "

अर्थात् पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति वाला है। जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसका नाश होता है और जो ध्रुव रहता है वह पदार्थ है। जो उत्पन्न नहीं होता नष्ट नहीं होता और ध्रुव नहीं रहता वह पदार्थ ही नहीं है यथा आकाश कमल। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह आशंका की जासकती है कि जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह भला ध्रुव कैसे होसकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि उत्पत्ति और विनाश, बिना ध्रुवता के नहीं हो सकते और ध्रुवता बिना उत्पत्ति और विनाश के स्वतन्त्र नहीं रह सकती जहां हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं वहांपर उसकी स्थिरता का भी अविकल रूप से भान होता है। तथा च जहां ध्रुवताका भान होता है वहां कथंचित् उत्पत्ति और विनाश अवश्य प्रतीत होते हैं। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य यह त्रिपुटी एक दूसरे के अभाव में नहीं रहती। इस त्रिपुटी में से कोई भी स्वतन्त्र रूप से नहीं पाया जा सकता है। ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। उदाहरण के लिए एक सुवर्ण पिण्ड को ही लीजिए—

प्रथम सुवर्ण पिण्ड को गलाकर उसका कटक (कड़ा) बना लिया गया। फिर कटक का ध्वंस करके उसका मुकुट तैयार किया गया। यहा पर सुवर्ण पिण्ड के विनाश से कटक की उत्पत्ति और कटक के ध्वंस से मुकुटका उत्पन्न होना देखा जाता हैं। परन्तु इस उत्पत्ति, विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु सुवर्ण की सत्ता बराबर मौजूद है। पिण्डदशा के विनाश और कटककी उत्पत्ति दशा में भी स्वर्ण की सत्ता मौजूद है। इसी तरह कटक के विनाश और मुकुट के उत्पाद काल में भी स्वर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के आकार विशेष पर्यायका होता है न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु तो लाखो परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप स्थिरता से च्युत नही होती। कटक, कुण्डलादि स्वर्ण के आकार विशेष हैं, इन आकार-विशेषों की ही उत्पत्ति और विनाश होना देखा जाता है इनका मूल तत्व स्वर्ण उत्पत्ति और विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रतीत हुआ कि पदार्थ में उत्पत्ति विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभाव सिद्ध हैं। किसी वस्तु का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता वस्तु के किसी आकृति विशेष के विनाश से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह वस्तु सर्वथा नष्ट हो गई। आकृति के बदलने मात्र से किसी का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे बाल जिनदत्त, बाल अवस्था के छोडकर युवा होता है और युवावस्था को छोडकर वृद्ध होता है, इससे जिनदत्त का नाश नहीं कहा जासकता है। जैसे सर्प फणावस्था को छोड कर सरल होता है तो इस आकृति के परिवर्तन से उसका नाश होना नहीं माना जाता है इसी तरह आकृति के बदलने से वस्तु का नाश नहीं हो जाता है। इसी तरह कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन नहीं उत्पन्न होती है। अत जगत के सारे ही पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थितिशील हैं यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है। उत्पाद और व्यय को "पर्याय" और ध्रौव्य को "द्रव्य" के नाम से कहा जाता है। इस तरह वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक है। द्रव्यस्वरूप नित्य और पर्याय स्वरूप अनित्य है। कहा भी है —

"द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः,
पर्यायात्मना सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा"

अर्थात् —द्रव्य रूप से सभी पदार्थ नित्य हैं और पर्याय की अपेक्षा से, सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं अतएव अनित्य हैं। इस तरह सापेक्ष दृष्टि से एक ही वस्तु में नित्यानित्यत्व आदि विरुद्ध धर्मों का अविरोध व्यवस्थापन करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद है।

समर्थ विद्वान् श्री समन्त भद्राचार्य पदार्थों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एक और ही युक्ति द्वारा प्रमाणित किया है। उन्होंने लिखा है —

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

कल्पना करिये कि तीन व्यक्ति एक साथ किसी सुनार की दुकान पर गये। उनमें से एक को स्वर्ण घट की, दूसरे को मुकुट की और तीसरे को केवल स्वर्ण की आवश्यकता है। वहां जाकर वे देखते हैं कि सुनार सोने के बने हुए घड़े को तोड़कर उसका मुकुट बना रहा है। सुनार के इस कार्य को देखकर उन तीनों ही मनुष्यों के मन में भिन्न भिन्न प्रकार के भाव पैदा हुए। जिसे स्वर्णघट की आवश्यकता थी उसे शोक हुआ, जिसे मुकुट की आवश्यकता थी वह प्रसन्न हुआ और जिसे केवल स्वर्ण की ही आवश्यकता थी उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही। वह अपने मध्यस्थ भाव में ही रहा। यहां पर प्रश्न होता है कि इस प्रकार का भाव-भेद क्यों? अगर वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक न हो तो इस प्रकार के भाव भेद की उपपत्ति कभी नहीं हो सकती। घट-प्राप्ति की इच्छा से आने वाले पुरुष को घट के विनाश से शोक और मुकुटार्थी पुरुष को मुकुट की उत्पत्ति से हर्ष और स्वर्णार्थी को न हर्ष और न शोक ही हुआ। इससे यह प्रतीत होता है कि घट के विनाश काल में ही मुकुट उत्पन्न हो रहा है और दोनों ही अवस्था में स्वर्णद्रव्य स्थित है। तभी तो उन तीनों को क्रमश शोक, हर्ष और मध्यस्थ भाव हुआ। यदि घट-विनाश काल मे मुकुट की उत्पत्ति न मानी जाय तो घटार्थी पुरुष को शोक और मुकुटार्थी को हर्ष का होना दुर्घट-सा हो जाता है। एव घट मुकुटादि स्वर्ण पर्यायों में स्वर्ण रूप कोई द्रव्य न मान जाय तो स्वर्णार्थी पुरुष के मध्यस्थभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है परन्तु सुनार के इस एक ही व्यापार से शोक प्रमोद और माध्यस्थ तीनों प्रकार के भाव देखे जाते हैं। ये निर्निमित्तक नहीं हो सकते इसलिए वस्तु के स्वरूप को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त ही मानना चाहिए। एक और लौकिक उदाहरण से पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है —

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्व त्रयात्मकम् ॥

'जिस पुरुष को केवल दुग्ध ग्रहण का नियम है वह दही नहीं खाता। जिसको दधि-ग्रहण का नियम है वह दुग्ध का ग्रहण नहीं करता। परन्तु जिस व्यक्ति ने गो-रस का त्याग कर दिया हो वह न दूध ही खाता है और न दही ही। इस व्यावहारिक उदाहरण से दुग्ध का विनाश, दधिकी उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता ये तीनों ही तत्त्व प्रमाणित होते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है —

उत्पन्न दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरजानन् स्याद्वादद्विड्जनोऽपि कः ॥

अर्थात्-दूध जब दही रूप में परिणमता है तब दूध का विनाश और दधिका

उत्पाद होता है परन्तु गोरस द्रव्य स्थिर रहता है। ऐसी अवस्था में कौन स्याद्वाद का निषेध कर सकता है?

—ः नित्यानित्य निरूपणः—

पदार्थों के व्यापक स्वरूप में यह भलीभांति प्रमाणित कर दिया गया है कि पदार्थ मात्र उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। इस कथन से वस्तु के दो स्वरूप सिद्ध होते है— एक विनाशी और दूसरा अविनाशी। उत्पाद और व्यय विनाशी स्वरूप हैं और ध्रौव्य अविनाशी रूप है। पारिभाषिक शब्दों में इसे "पर्याय" और 'द्रव्य" कहा है। पदार्थ के विनाशी स्वरूप को 'पर्याय" और अविनाशी स्वरूप को "द्रव्य" कहते हैं। जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा अनित्य नहीं मानता है किन्तु वह सापेक्ष रूप से वस्तु में नित्यता और अनित्यता रूप दोनों धर्मों को स्वीकार करता है। वस्तु के अविनाशी स्वरूप द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य है और विनाशी स्वरूप पर्याय की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है, अतएव वस्तु नित्यानित्य उभय रूप है। वस्तु के इस अनेकान्त स्वरूप को न मानकर अगर केवल एकान्त नित्यवाद या अनित्यवाद स्वीकार किया जाय तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं बनता है। पदार्थ का लक्षण अर्थ क्रिया कारित्व है। यह लक्षण वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने पर ही घटित हो सकता है। एकान्त नित्य पदार्थ और एकान्त अनित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। एकान्त कूटस्थ नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती क्योंकि क्रिया होने में परिणति की आवश्यकता होती है। जहां परिणति है वहां कूटस्थनित्यता नहीं रहती है। एकान्त अनित्य पक्ष में भी अर्थक्रिया घटित नहीं होती क्योंकि पदार्थ प्रथम क्षण में तो अपनी उत्पत्ति में मग्न है और दूसरे क्षण मे सर्वथा नष्ट हो जाता है तो अर्थक्रिया कैसे सम्भव हो सकती है? इस तरह अनेकान्त पक्ष में ही अर्थ क्रिया घटित होती है।

हमारा प्रत्यक्ष अनुभव ही पदार्थों की नित्यानित्यता को बतला रहा है। स्वर्ण द्रव्य की कटक कुण्डल और मृत्तिका द्रव्य की घट, कुण्डिका आदि विभिन्न पर्यायें दृष्टिगोचर होती है। हम देखते है कि सोने का कटक कालान्तर में मुकुट बन जाता है, मुकुट टूटकर हार बन जाता है। इस तरह स्वर्ण द्रव्य के आकार-पर्याय में उत्पाद विनाश होता रहता है। उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं लेकिन स्वर्ण द्रव्य का ध्वंस कदापि नहीं होता। इसी तरह मिट्टी का घट बन जाता है घट फूटकर कपाल (ठीकरी) बन जाते हैं लेकिन मिट्टी कायम रहती है, उसके मूल रूप का कभी विध्वंस नहीं होता पर्यायों की परिणति होती है यह बात स्पष्ट है- अतएव पदार्थ को पर्याय की अपेक्षा से अनित्य मानना चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है क्योंकि विभिन्न पर्यायों में (कटक कुण्डलादि में स्वर्ण और घट, शराव आदि में मिट्टी) द्रव्य का अनुगत रूप से प्रत्यक्ष भान होरहा है अतएव वस्तु द्रव्यापेक्षा से नित्य पर्यायापेक्षा से अनित्य है। यह वस्तु का नित्यानित्य रूप ही वास्तविक है।

उक्त रीति से ही सामान्य विशेष, सद-असत, वाच्य-अवाच्य, भेद अभेद की विचारणा में भी पदार्थ उभय रूप ही है। जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने अन्य योग व्यवच्छेदकद्वात्रिंशिका में कहा है—

स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूपं वाच्य न वाच्यं सदसत्तदेव ।

त्रिपश्चितां नाथ ! निपीततत्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥

अर्थात्-पदार्थ कथञ्चित् अनित्य और कथञ्चित नित्य हैं। कथंचित् सामान्य रूप और कथञ्चित विशेष रूप है। कथञ्चित् वाच्य है और कथञ्चित् अवक्तव्य है। कथञ्चित् सत् है और कथञ्चित् असदरूप है। हे विद्वानों के नाथ ! ये सब आपके तत्त्वामृत के पान से निकले हुए उद्गार हैं।

इस विवेचना का सारांश यह है कि जैन दर्शन को वस्तु का एकान्त रूप अभिमत नहीं है वरन् उसकी दृष्टि में वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है।

'अनेकान्तात्मक वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।'

— आक्षेप परिहार —

अनेकान्तवाद के सुसंगत सिद्धान्त के रहस्य को भलीभांति न समझने के कारण जैनदर्शन के प्रतिद्वन्द्वी वेदान्त के आचार्य शंकराचार्य ने तथा अन्य विद्वानों ने स्याद्वाद सिद्धान्त पर अनुचित आक्षेप किये हैं और इसे अनिश्चितवाद, संशयवाद, और उन्मत्तप्रलाप तक कह डाला है। परन्तु शंकराचार्यादि ने इस सिद्धान्त के स्वरूप को यथातथ्य रूप से समझे बिना ही इसके खण्डन के लिए लेखनी उठाकर सचमुच जैनदर्शन के प्रति अन्याय किया है। अगर वे जैन दर्शन को स्याद्वाद का जो रूप अभिमत है, उसे समझने के बाद खण्डन करते, तबतो युक्ति संगत था परन्तु उन्होंने जिस स्याद्वाद का खण्डन किया है वह स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन नहीं मानता है। शंकराचार्य ने शांकर भाष्य में स्याद्वाद के विरुद्ध यह लिखा है —

'न ह्येकास्मिन्धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरूद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् ।'

अर्थात् शीत और उष्ण की भांति एक धर्मी में परस्पर विरोधी सत्व और असत्व आदि धर्मों का एक काल में समावेश नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शीत और उष्णता ये दो विरुद्ध धर्म एक काल में एक जगह पर नहीं रह सकते उसी तरह सत्व और असत्व का भी एक काल में एक स्थान पर रहना नहीं बन सकता इसलिए जैनों का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

उक्त भाष्य के अन्दर शंकराचार्य ने जो शंका की है वही प्राय सभी स्याद्वाद के विरोधियों की मुख्य आशंका और आक्षेप है। उनका कहना है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे ? जो अनित्य है वह नित्य कैसे ? जो सत है वह असत नहीं हो सकता। जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता, जो सामान्य रूप है वह विशेष रूप नहीं होसकता, जो भिन्न है उसे अभिन्न कैसे कहा जा सकता है ? ये विरोधी धर्म एक जगह कैसे रह सकते हैं ? यही स्याद्वाद पर मुख्य आक्षेप होता है।

इस प्रकार का आक्षेप करने वालों ने जैन धर्म के स्याद्वाद के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचाना। वे स्याद्वाद का यही रूप समझते रहे कि परस्पर विरोधी धर्मों को एक स्थान पर स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद है। परन्तु क्यों ? और कैसे ? इस बात पर किसी ने लक्ष्य ही नहीं दिया। यही कारण है कि वे स्याद्वाद के गूढ तत्व को नहीं समझ पाये। स्याद्वाद का अर्थ "परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक स्थान में विधान करना" नहीं है परन्तु अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अपेक्षा भेद से जो जो धर्म रहे हुए हैं उनको उसी अपेक्षा से वस्तु में स्वीकार करने की पद्धति को जैन दर्शन अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से उल्लेख करता है। जैन दर्शन का स्याद्वाद यह नहीं कहता है कि पदार्थ जिस अपेक्षा से नित्य है, सत् है, भिन्न है उसी अपेक्षा से वह अनित्य है, असत् है और अभिन्न है। जैन विद्वानों ने इस भ्रम को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में दूर करने का प्रयत्न किया है। जैन दर्शन अगर एक ही अपेक्षा से नित्य, अनित्य, सद् असद्, भिन्न अभिन्न आदि कहता तो विरोध दोष आता लेकिन जैन दर्शन भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न धर्मों की सत्ता स्वीकार करता है इसमें विरोध की गंध नहीं होसकती।

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व और पितृत्व धर्म संसार स्वीकार करता है। लेकिन वह एक ही अपेक्षा से नहीं किन्तु भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से। वह व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। इस प्रकार उसके पितृत्व और पुत्रत्व दोनों धर्म अविरोध रूप से पाये जाते हैं। इसमें विरोध को अवकाश ही कहां है ? विरोध तो तब होता जब उसे उसके पिता की अपेक्षा से भी पिता और पुत्र की अपेक्षा से भी पिता कहा जाता। अथवा अपने पुत्र की अपेक्षा से भी पुत्र कहा जाता। एक ही अपेक्षा से पिता पुत्र कहा जाता तो अवश्य विरोधी कथन होता लेकिन विभिन्न अपेक्षा से जब विभिन्न धर्मों का कथन किया जाता है तब विरोध नहीं होता है। अपेक्षा भेद से विरोधी धर्मों के स्वीकार करने में विरोध नहीं होता है जैसे "यज्ञदत्त छोटा भी है और बड़ा भी है" इस स्थल में देवदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त में छोटापन और विष्णुदत्त की अपेक्षा दीर्घत्व देखा जाता है। एक ही यज्ञदत्त व्यक्ति में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ये दोनों विरोधी धर्म जैसे अपेक्षा भेद से विद्यमान हैं इसी तरह अपेक्षा भेद से नित्या नित्यत्व, सत्व-असत्व, एकत्व-अनेकत्व, सामान्य-विशेष आदि विरोधी धर्म भी अविरोध रूप से एकत्र रह सकते हैं। इसमें विरोध की कोई आशंका नहीं रहती।

जैन दर्शन जिस रूप से वस्तु में सत्व मानता है उसी रूप में उसमें असत्व नहीं मानता है। जिससे विरोध की शंका नहीं की जा सकती। वह स्वद्रव्य, क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा वस्तु में सत्व और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से असत्व मानता है इसलिए अपेक्षा भेद से सत्व असत्व दोनों ही वस्तुओं में अविरोध रूप से रहते हैं। इसी तरह द्रव्यापेक्षा से वस्तु में नित्यत्व और पर्याय-अपेक्षा से अनित्यत्व भी अविरुद्धतया रह सकता है। इस अपेक्षा भेद से एकत्व अनेकत्व आदि समस्त विरोधी धर्मों की सत्ता पदार्थ में अविरोधरूप से प्रमाणित होती है।

आधुनिक विज्ञान के आचार्यों ने और प्राध्यापकों ने यह सिद्ध कर दिया कि अपेक्षावाद (The doctrine of Relativity) से ही वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप में जाना जा सकता है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त वैज्ञानिक सत्य है और इस सिद्धान्त का उपदेष्टा जैन धर्म विश्व धर्म और वैज्ञानिक धर्म है।

स्याद्वाद का विषय अति गहन है। ऐसे गहन विषय का संक्षेप में पूरा निरूपण नहीं होसकता है तदपि जैनधर्म के इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप द्वारा संसार प्रगति के पन्थ पर प्रयाण कर सकता है। यह सिद्धान्त जगत व्यवहार की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त की समन्वय शक्ति अनुपम है। यह विश्व के समस्त दर्शनों, धर्मों और विवादों का बड़ी कुशलता से समन्वय करके शान्ति का बीजारोपण करता है। जिस प्रकार महासागर में आकर सभी सरिताएं एकरूप हो जाती है इसी तरह जैन दर्शन रूपी महासागर में अन्य सभी धर्म समाविष्ट हो जाते हैं। यह सिद्धान्त परम उदार और व्यापक है। साथ ही यह खेद का विषय है कि स्याद्वाद तत्व के अनुयायी जैन ही स्याद्वाद के उदार स्वरूप को भूलकर संकीर्णता के चक्र में फँसे हुए हैं। स्याद्वाद जैसे हितकारी तत्व को केवल सैद्धान्तिक ही न मानकर इसे व्यावहारिक रूप यदि दिया जाय तो जैन संघ का ही नहीं दुनिया भर का संगठन होसकता है और सारा विश्व जैन धर्म के पवित्र झंडे के नीचे एकत्रित हो सकता है।

सर्व प्राणी वर्ग इस उदार तत्व का अनुशीलन करके कल्याण—मार्ग का पथिक बने। इतिशम्। शिवमस्तु सर्व जगत।



श्री भगवान् महावीर के अनेकान्तवाद
का
-:संक्षिप्त स्वरूप:-

—०×०—

ले. पं. रत्न श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री आनन्दऋषिजी महाराज



विश्व चराचर वस्तुओं का एक महान पिण्ड है। इसमें जीव अजीव आदि भेदों से युक्त अगणित पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेष, अस्तित्व नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों (गुण पर्यायों) से युक्त है उन पदार्थों के परिच्छेदक भी प्रमाण और नय रूप से दो प्रकार के ज्ञान हैं। पदार्थ के समस्त धर्मों का ज्ञान जिसके द्वारा हो उसको प्रमाण कहते हैं और प्रमाण से ग्रहण किये हुए अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश (धर्म) का बोध जिससे हो उस अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। ज्ञान के यथार्थ अयथार्थपन के अनुसार प्रमाण भी सम्यक् और मिथ्या हो जाता है। वैसे ही नय भी सम्यक् और मिथ्यारूप से दो प्रकार के होते हैं।-ग्रहण किये हुए वस्तुधर्म से भिन्न तद्धर्मों के प्रति गजनिमीलिका (उपेक्षा) मात्र रखने को सम्यग्नय और इतरधर्मों का सर्वथा खण्डन करने को मिथ्यानय अर्थात नयाभास कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे प्रकार कह सकते हैं कि नय तभी तक सुनय है जबतक कि एक दूसरे से सापेक्ष हो, न कि विरुद्ध। मतलब यह कि एक सूत्र में गुथी हुई मणियों की ही माला कहलाती है। अलग २ बिखरे हुवे सूत्र और मणिराशि को माला नहीं कहते।

उपरोक्त सन्दर्भ में यह दिखाया जा चुका है कि वस्तु अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मों से युक्त होती है। यदि ऐसा न हो तो घट में घटत्व के अस्तित्व के समान पटत्व आदि तदितर वस्तु धर्मों का भी अस्तित्व ही पाया जाना चाहिये, न कि नास्तित्व भी। और ऐसा होने से संसारभर में एक घट ही पदार्थ ठहरेगा, अन्य सभी पदार्थ उसी के अन्दर समाविष्ट रहेंगे। परन्तु यह व्यवहार विरुद्ध होगा, तथा हरएक पदार्थ में सभी पदार्थों को पाने से साङ्कर्य दोष भी आयेगा। इसलिये हरएक पदार्थ में तदितर पदार्थों की अपेक्षा नास्तित्व भी मानना चाहिये। इसी प्रकार यदि घट में घटत्वका, पटमें पटत्व का अर्थात हरएक पदार्थ में उसके स्वरूप का भी नास्तित्व मानें तो विश्व अभाव मात्र ही रह जायेगा। इसलिये प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अस्तित्व, तथा परद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व से युक्त है।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमानुसार संसार में विभिन्न मतवाले प्राणी होते हैं। एक वर्ग वस्तु के सिर्फ सामान्य धर्म को स्वीकारता है, तो दूसरा मात्र विशेष को, एक द्रव्यास्तिक नयाभिप्रायवान् है तो दूसरा पर्यायार्थिक नयवाले। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में भिन्न पर्यायों के अन्दर भी द्रव्य तो सरीखा ही दिखने से सामान्य और अस्तित्व का भान होता है, परन्तु पर्यायार्थिक नय बदलते हुवे परिणामों को ही लक्ष्य बनाता है। उसकी दृष्टि में सभी अवस्थाओं में समान रूप से रहने वाला कोई एक द्रव्य प्रतीत ही नहीं होता, इसलिये उसे विशेष तथा नास्तित्व का ही भान होता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न २ अभिप्रायों के कारण अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म अलग २ रूप से ग्रहण किये जाते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि नय तभी तक सुनय हैं, जब तक कि दूसरे का विरोध नहीं करते। वह एक समय था जबकि विश्व के अन्दर भिन्न २ मतवाले एक दूसरे से टक्कर ले रहे थे। इतना ही नहीं बल्कि एक दूसरे को मिथ्या कह कर उसे उखाड़ने में कटिबद्ध था, तो दूसरा उसके सिद्धान्तों पर ही कुठाराघात करता हुआ मुँह तोड़ दलीलें दे रहा था। एक ओर नैयायिक और वैशेषिक सामान्य विशेष को वस्तु धर्म से विभिन्न स्वतन्त्र और निरपेक्ष पदार्थ मानकर कतिपय पदार्थों में नित्यत्व को अंगीकार करते हुये, विशेषग्राही विज्ञानवादी बौद्ध मत के क्षणिकवाद का निरसन कर रहे थे तो दूसरी तरफ प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रमाण से स्थायी द्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध न कर सकने वाले बौद्धमत से क्षणिकवाद की सिद्धि पर ही जोर दिया जा रहा था। इस प्रकार स्वस्वाभीष्ट वस्तुधर्मों को ही एकान्त सत्य मानकर तदितर मान्यता का खण्डन करने के लिये सभी मत कलह में संलग्न थे।

यह अटल सिद्धान्त है कि किसी भी विवाद या कलह का अन्त समता या समन्वयवाद के सिवाय नहीं हो सकता। विवाद तत्पर शिष्यों को यथार्थ प्रकाश तो दक्ष सद्गुरु से ही मिलता है। इस नियमानुसार मुमुक्षु प्राणियों के लिये अनादि निधन परम श्रुत श्री स्याद्वाद के दिव्य प्रकाश का शरण मिला। यह स्याद्वाद ही मतमतान्तर की असहिष्णुतारूपी भयंकर रोग के लिये एक मात्र गुणकारी रामबाण महौषधि है।

स्याद्वाद पद का अर्थ और उसका स्वरूप

'स्याद्वाद' इस पद के अन्दर दो शब्द हैं, १–'स्यात्' यह अव्यय है और दूसरा है—वाद। स्यात् का अर्थ यहाँ पर कथञ्चित्–अपेक्षा सहित, किसी दृष्टि से ऐसा लेना चाहिये, नाकि विधि–विचारादि अर्थ। कहा भी है—

स्यादितिशब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो न पुनर्विधिविचार–

प्रश्नादिद्योती, तथा विवक्षापायात् ।   अष्ट सहस्त्री पृष्ठ २९६

सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः ।

पञ्चास्तिकायटीका श्रीअमृतचन्द्रसूरि ।

और वाद शब्द का अर्थ सिद्धान्त या मत होता है । इस प्रकार समुच्चय पद का भावार्थ "सापेक्ष सिद्धान्त" ऐसा निकलता है । अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथञ्चिद्वाद और स्याद्वाद ये सब एकार्थवाची शब्द हैं । इस सापेक्ष सिद्धान्त को आचार्य श्री अमृचन्द्र के शब्दों में "परमागमस्य बीजम्" अर्थात् उत्कृष्ट आगमका मूलाधार कह सकते हैं । मतलब यह है कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करन के लिये एकमेव उपयोगी साधन इस रूपमें हम स्याद्वादको पहचान सकते हैं ।

जिस समय हम किसी भी वस्तुके एक धर्म को लेकर उसका वही स्वरूप मानने लगजाते हैं और उसके अवशिष्ट समस्त धर्मों का अपलाप करते हैं तब वह एकान्त वाद का रूप बन जाता हैं, जो कि (एकान्तवाद) निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के विचारों की कसौटीपर कसने से मिथ्यारूप ठहरता है ।

उदाहरणार्थ—अज्ञान दशामें (अधत्व दशामें) पडे हुवे सात व्यक्ति किसी प्रसगपर एक हाथी के भिन्न २-अवयवों को स्पर्श कर स्वगृहीत अवयव विशेष को हा हस्ती का पूर्ण स्वरूप मानते हुये एक दूसरे के विरुद्ध झगडने लगे । उन्हें यह भान नहीं कि हम सभीका ज्ञान एकदेशीय मात्र है । वस्तुत हस्ती तो इन सभी अवय वों से परिपूर्ण कुछ और ही स्वरूप की वस्तु है । जिसकी समझ अल्पज्ञतावश हम लोगों को नहीं होपाती ।

ऐसेही किसी एक शहर के मध्य चोकमें एक विशाल यज्ञ विशेष की मूर्ति थी, जिसका अगला भाग सुवर्ण का और पिछला रजतमय था । एक बार दो घुड सवार उस भागसे होकर मूर्ति के इधर उधरसे निकल गये । आगे चलकर परस्पर में वाद-विवाद खडा हुआ । एक कहता था कि मूर्ति सुवर्ण की थी दूसरा कहता था कि चादी की थी । झगडा बढ गया । यहा तक कि परस्पर में युद्ध करने तक का भी प्रसग आगया, दोनों ही घायल हुये । अन्तत एक तीसरे जानकार व्यक्तिने बीचमें पड़कर दोनों का भ्रम दूर किया ।

इसी प्रकार एक व्यक्ति अपने भिन्न २ सम्बन्धों के कारण पिता, पुत्र मामा, भानजा आदि अलग २ रूपसे कहा जाता है उसे यदि कोई एक ही रूपमें माने तो क्या वह सर्वथा सत्य कहा जा सकता है ? कदापि नहीं, हा अपेक्षा से उसे देश सत्य कहें तो कहसकते हैं । इसी तरह एकान्तवाद में भी अपेक्षा दृष्टि से यत्किञ्चित् सत्यता मानी जा सकती है । परन्तु कदाग्रहरूपी महान् दोषसे ग्रसित होने के कारण यह अकिंचित्सा है । दूसरी बात यह कि हर एक सिद्धान्ती का ध्येय पूर्ण सत्य को समझने की तरफ झुका हुआ रहता है, इसलिये हमें उस मार्गका अवलंबन करना चाहिये जो वास्तविक सत्यका दर्शन कराने में समर्थ हो ।

यह पहले ही कहा जाचुका है कि वस्तुके यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये स्याद्वाद ही सच्चा उपयोगी साधन है। इसी से हम पूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकते हैं, युगप्रधान-प्रकाण्ड विद्वान् हेमचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ॥
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथ त्वमास्थः ॥ १ ॥

—अन्ययोग व्यवच्छेदिका

भावार्थ—पदार्थ सदेव (एकान्तवाद-दुर्नीति) सत् (नयवाद) और स्यात्सत (कथञ्चित सत् प्रमाण) इन तीन प्रकारों से जाना जाता है। हे भगवान ! यथार्थदर्शी आपने ही नय और प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है।

सारांश यह कि यथार्थ दर्शी को नय और स्यात्पद लाञ्छित प्रमाण मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिये। अमुक वस्तु ऐसी ही है यह कथन एकान्त- वादका और ऐसी भी है यह कथन अनेकान्तवाद (स्याद्वादका) का स्वरूप होगा। इसप्रकार दुराग्रह त्यागपूर्वक निष्पक्ष बुद्धिका होना ही स्याद्वाद कहलाता है। यह स्याद्वाद एकान्तवादियों की तरफ से होने वाले आक्षेपोंसे न भेदा जानेवाला अर्थात् दुर्भेद्य दुर्ग है।

स्याद्वाद से होनेवाले लाभ

यदि मानव समाज स्याद्वाद रूपी विशाल और उदार दृष्टि से देखना सीख जाय तो उसके जीवनमें बाधाओंका आनाही रुक जाय। आपत्तियों का भान तो ममता और संकुचित बुद्धिके कारण ही होता है। तटस्थ और विशाल दृष्टि को उन- का स्पर्श ही कैसा ? कहा भी है-

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ॥
शोकप्रमोद माध्यस्थ जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥

राजाने राजकुमारी के स्वर्णमय घटको तुड़वाकर राजकुमारके लिये मुकुट बनवा दिया। उसमें संकुचित और साग्रह दृष्टि होने के कारण उन दोनों को क्रमसे शोक और हर्ष हुआ। परन्तु माध्यस्थ और व्यापक दृष्टि वाले उस राजा को उसमें सुख दुःख कुछ भी नहीं हुआ।

स्याद्वाद हमें जैसे तैसे अर्द्ध सत्यों को ही पूर्ण सत्य मान लेने के लिये बाध्य नहीं करता, किन्तु वह पूर्ण सत्यका दर्शन कराने के लिये अनेक मार्गों की खोज कराता है, और समस्त जैनेतर दर्शनों को सापेक्ष सत्य मानकर सबका समन्वय करता है। स्याद्वाद में सहिष्णुता कूट २ कर भरी रहती है। समता उसका प्राण है जहां समता है वहीं कल्याण है अतः कल्याणार्थी प्राणी को स्याद्वाद का आश्रय अवश्य लेना चाहिये॥

जैनागम में स्याद्वाद

लेखक—साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर, जैन धर्मदिवाकर उपाध्याय
श्री आत्मारामजी महाराज (पञ्जाबी)



न आगमों में प्रत्येक पदार्थ को गुण पर्याय युक्त माना गया है—अर्थात् प्रत्येक द्रव्य गुण पर्याय युक्त है। गुण और पर्याय अनन्त होने से उनका कथन करने के लिये नय और प्रमाण की आवश्यकता है, सो नय और प्रमाण ये दोनों स्याद्वाद के मुख्य अंग हैं। अत जैनागमों ने प्रत्येक पदार्थ की व्याख्या स्याद्वाद के आश्रित हो कर ही की है। विद्वान जिज्ञासुओं को दिग्दर्शन कराने के लिये आगमों में जो सूत्र स्याद्वाद से सम्बन्ध रखने वाले हैं, उन का अवतरण वृत्ति के साथ इस लेख में किया जायगा। आशा है विद्वद्वर्ग इस को प्रेम पूर्वक पढकर स्याद्वाद के आशय को समझ कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करेंगे।

एगे भवं, दुवे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूयभावभविए भवं? सोमिला! एगेवि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं। से केणट्ठेण भन्ते! एवं वुच्चइ जाव भविएवि अहं? सोमिला! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खएवि अहं, अव्वएवि अहं, अवट्ठिएवि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविएवि अहं। से तेणट्ठेणं जाव भविए वि अहं।

टीका—एगेभवमित्यादि, एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवताऽऽत्मन कृते श्रोत्रादि विज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोग सोमिलभट्टेन कृत , द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहित , 'अक्खए भवं' मित्यादिना च पदत्रयेन नित्यात्मपक्ष पर्यनुयुक्त 'अणेगभूयभाव भविए भवं,' ति अनेके भूता—अतीता भावा—सत्तापरिणामा भव्याश्च भाविनो यस्य स तथा, अनेन चातीत भविष्यत्सत्ता प्रश्नेनानित्यतापक्ष पर्यनुयुक्त , एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति, तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वात्तमवलम्ब्योत्तरमदायि—'एगेवि अहमित्यादि' कथमित्येतत्? इत्यत आह—दव्वट्ठयाए एगोऽहं, ति जीवद्रव्यस्यैकत्वेनैकोऽहं न तु प्रदेशार्थतया, तथा हि अनेकत्वान्ममेत्यवयवादीनामेकत्वोपलम्भो न बाधक तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसंख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य ,स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्त—नाणदंसणट्ठयाए दुवेवि अहं 'ति न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते, एकोहि देवदत्तादि पुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वादीननेकान् स्वाभावाल्लभत इति, तथा प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयप्रदेशतामाश्रित्याक्षतोऽप्यहं सर्वथा प्रदेशानां क्षया-

भावात्, तथाऽव्ययोऽप्यहं कतिपयानामपि च व्ययाभावात् किमुक्तं भवति ? अवस्थितो ऽप्यहं नित्योऽहम्, असंख्येयप्रदेशिता हि न कदाचनपि व्यपैति अतो नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोष, तथा उवओगट्ठयाए, त्ति विविधविषयानुयोगाना थित्यनेकभूतभावभविकोऽप्यहम्, अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधानामात्मेन कथञ्चिदभिन्नाना भूतत्वाद् भाविताच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति।

(व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र शतक १८ उद्देश १० सूत्र ६४७)

इमाण भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया। से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ- सिय सासया सिय असासया ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चति तं चेव जाव सिय असासया, एवं जाव अधेसत्तमा ॥ इमाण भंते ! रयणप्पभा पु० कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! न कयाइ ण आसि ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सति ॥ भुविं च भवइ य भविस्सति य धुवा नियया सासया अक्खया अवट्ठिया णिच्चा एवं जाव अधेसत्तमा ॥

टीका—'इमाण भंते' इत्यादि, इय भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती अशाश्वती ? भगवानाह—गौतम ! स्यात्-कथञ्चित्कस्याभिप्रायेणेत्यर्थं शाश्वती स्यात्-कथञ्चिदशाश्वती ॥ एतदेव सविशेष जिज्ञासु पृच्छति-'सेकेणट्ठेण मित्यादि, से शब्दोऽथ शब्दार्थ स च प्रश्ने, केन 'अर्थेन' कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते यथा स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वतीति ? भगवानाह-गौतम ! 'दव्वट्ठयाए' इत्यादि, द्रव्यार्थतया शाश्वतीति, तत्र द्रव्य सर्वत्रापि सामान्यमुच्यते, द्रवति-गच्छति तान् तान पर्यायान् विशेषानिति वा द्रव्यमिति व्युत्पत्तेर्द्रव्यमर्थ—तात्विक पदार्थो यस्य न तु पर्याया—स द्रव्यार्थ द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादकनयाभिप्रायेणेति यावत् शाश्वती, द्रव्यार्थिकनयमतपर्यालोचनायामेवविधस्यरत्नप्रभाया पृथिव्या आकारस्य सदा भावात् 'वर्णपर्यायै' कृष्णादिभि 'गन्धपर्यायै' सुरभ्यादिभि 'रसपर्यायै' तिक्तादिभि स्पर्शपर्यायै' कठिनत्वादिभि 'अशाश्वती' अनित्या, तेषां वर्णादीना प्रतिक्षण कियत्कालानन्तर वाऽन्यथा भवनात्, अतादवस्थ्यस्य चानित्यत्वात्, न चैवमपि भिन्नाधिकरणे नित्यत्वानित्यत्वे द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदोपगमात्, अन्यथोभयोरप्यसत्त्वापत्ते तथा हि-शक्यते वक्तु पर परिकल्पित द्रव्यमसत् पर्यायव्यतिरिक्तत्वात्, बालत्वादिपर्यायशून्यवन्ध्यासुतवत्, तथा परपरिकल्पितापर्याया असन्त द्रव्यव्यतिरिक्तत्वात् वन्ध्यासुतगतबालत्वादिपर्यायवत् उक्तञ्च— द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिता । क कदा केन किंरूपा ? दृष्टा मानेन केनवा ? ॥ १ ॥ इति कृत प्रसङ्गेन विस्तारार्थिना च धर्मसंग्रहणिटीका निरूपणीया। से तेणट्ठेण ', मित्याद्युपसंहारमाह, से शब्दोऽथशब्दार्थं स चात्र वाक्योपन्यासे अथ 'एतेन' अनन्तरोदितेन कारणेन गौतम ! एवमुच्यते-स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वती, एव प्रतिपृथिवी तावद्वक्तव्य यावदध सप्तमी पृथिवी, इह यद्यपि तत्सम्बन्धाद् तदैतावन्त काल शाश्वद्भवति तदा तदापि शाश्वतमुच्यते यथा

तन्त्रान्तरेषु 'अकप्पट्ठाई पुढवी सासया' इत्यादि,तत सशय –किमेषा रत्नप्रभा पृथिवी सकलकालावस्थायी शाश्वती उतान्यथा यथा तन्त्रान्तरीयैरूच्यते इति ? ततस्तदपनोदार्थं पृच्छति—'इमा णं भंते' इत्यादि इय भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कालत 'कियच्चिर कियन्त काल यावद्भवति ? भगवानाह गौतम ! न कदाचिन्नासीत्, सदैवासीदिति भाव , अनादित्वात् , तथा न कदाचिन्न भवति सर्वदेव वर्तमान कालचिन्ताया भवतीति भाव , अत्रापि स एव हेतु सदाभावदिति, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, भविष्यचिन्ताया सर्वदेव भविष्यतीति भाव ,अपर्यवसितत्वात् । तदेव कालत्रयचिन्ताया नास्तित्वप्रतिषेध विधाय सम्प्रत्यस्तित्व प्रतिपादयति भुवि चे,त्यादि, अभूत भवति भविष्यति च, एव त्रिकाल भावित्वेन 'ध्रुवा ध्रुवत्वादेव 'नियता' नियतावस्थाना- धर्मास्तिकायादिवत्,नियतत्वादेव च शाश्वती शाश्वद्भाव प्रलयाभावात, शाश्वतत्वादेव च सततगङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पद्मपौण्डरीकहृद इवान्यतरपुद्गलविचटनेऽप्यन्यतरपुद्गलोपचयभावात, अक्षया अक्षयत्वादेवच अव्यया, मानुषोत्तराद्बहि समुद्रवत्,अव्ययत्वादेव 'अवस्थिता ' स्वप्रमाणावस्थिता, सूर्यमण्डलादिवत्, एव सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या जीवस्वरूपवत्, यदि वा ध्रुवादय शब्दा इन्द्रशक्रादिवत्पर्याय शब्दा नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुपन्यस्ता इत्यदोष , एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वक्तव्या यावद् व सप्तमी ॥

जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३ उद्देश १

पउमवरवेइया ण भते ! किं सासया ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया, से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ–सिय सासया सिय असासया, से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ–सिय सासया सिय असासया ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया वण्णपज्जवेहिं गधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चति-सिय सासया सिय असासया । पउमवरवेइया ण भते ! कालओ केवच्चिर होई ? गोयमा ण कयावि णासि ण कयावि णत्थि न कयावि न भविस्सइ, भुविंच हवइ य भविस्सइ य, धुवा णिइया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेइया ।

टीका —पउमवरवेइया ण भते ! किं सासया इत्यादि, पद्मवरवेदिका 'ण' मिति पूर्ववत् किं शाश्वती उताशाश्वती, आर्यन्ततया सूत्रे निर्देश प्राकृतत्वात् किं नित्या उतानित्येति भाव , भगवानाह गौतम ! स्यात शाश्वती स्यादशाश्वती, कथञ्चिन्नित्या कथञ्चिदनित्या इत्यर्थ , स्याच्छब्दो निपात कथञ्चिदित्येतदर्थवाची ' से केणट्ठेण ' मित्यादि प्रश्न सूत्र सुगम, भगवानाह गौतम ! द्रव्यार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते न पर्यायान, द्रव्य चान्वयिपरिणामित्वात् अन्वयित्वाच्च सकलकाल भावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती, वर्णपर्यायैस्तत्तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषरूपै एव गन्ध पर्याये रसपर्याये स्पर्शपर्यायै उपलक्षणमेतत तत्तदन्यपुद्गलविचटनोच्चटनैश्च अशाश्वती,

किमुक्त भवति ?–पर्यायास्तिकनयमतेन पर्यायप्राधान्यविवक्षायामशाश्वति, पर्यायाणा प्रतिक्षणभावितया कियत्कालभावितया विनाशित्वात् ' से एएणट्ठेण ' मित्या ग्रुपसहारवाक्य सुगम, इह द्रव्यास्तिकनयवादी स्वमतप्रतिष्ठापनार्थमेवमाह–नात्य न्तासत उत्पादो नापि सतो नाश ' नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ' इति वचनात , यौ तु दृश्येते प्रतिवस्तु उत्पादविनाशौ तदाविर्भावतिरोभावमात्र यथा सर्पस्य उत्फणत्वविफणत्वे, तस्मात्सर्व वस्तु नित्यमिति, एव च तन्मत- चिन्ताया सशय –किं पद्मादिवत द्रव्यार्थतया शाश्वती उत सकलकालमेकरूपेति, तत भगवापनोदार्थं भगवन्त भूय पृच्छति 'पउमवर वेइया ण' मित्यादि, पद्मवरवेदिका प्राग्वत् भदन्त ! कालत कियच्चिर कियन्त काल यावद्भवति ?, एवरूपा हि कियन्त कालमवतिष्ठति इति ? भगवानाह—गौतम ! न कदाचिन्ना सीत् सर्वदैवासीदिति भाव अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्तमानकालचिन्ताया भवतीति भाव सदैव भावात्, तथा न कदाचिन्न भवि ष्यति, किन्तु भविष्यच्चिन्ताया सर्वदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्य अपर्यवसितत्वात्, तदेव कालत्रयचिन्ताया नास्तित्वप्रतिषेध विधाय सम्प्रत्यस्तित्व प्रतिपादयति 'भुवि- च इत्यादि अभूच्च भवति च भविष्यति चेति, एव त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवा मेर्वादिवत् ध्रुवत्वादेव सदेव स्वस्वरूपनियता नियतत्वादेव च शाश्वती—शाश्वद्भ- वनस्वभावा शाश्वतत्वादेव च सतत गङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवानेकपुद्गलविघटनेऽपि तावन्मात्रान्यपुद्गलोच्चटनसभवादक्षया, न विद्यते क्षयो- यथोक्तस्वरूपाकारपरिभ्रंशो यस्या सा अक्षया, अक्षयत्वादेव अव्यया–अव्ययशब्द- वाच्या मनागपि स्वरूपचलनस्य जातुचिदप्यभावात , अव्ययत्वादेव सदैव स्वस्व- प्रमाणेऽवस्थिता, मानुषोत्तराद्बहिः समुद्रवत् एव स्वप्रमाणे सदावस्थानेन चिन्त्य माना नित्या धर्मास्तिकायादिवत ।

- राजप्रश्नीयसूत्र विमान वर्णन (सूत्र ३८)

अन्न उत्थिया ण भते ! एवमातिक्खति जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवभूय वेदन वेदेंति से कहमेय भन्ते ! एव ?, गोयमा ! जण्ण ते अन्नउत्थिया एवमातिक्खति जाव वेदेंति जे ते एवमाहसु मिच्छा ते एवमा हसु अह पुण गोयमा ? एवमातिक्खामि जाव परूवेमि अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एव भूय वेदण वेदेंति अ थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अनेवभूय वेदण वेदेंति से केणट्ठेण अत्थेगतिया ? त चेव उच्चारेयव्व, गोयमा ! जे ण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेदण वेदेंति ते ण पाणा भूया जीवा सत्ता एव भूय वेदण वेदेंति, जे ण पाणा भूया जीवा सत्ता एव भूय वेदण वेदेंति, जे ण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेदण वेदेंति तेण पाणा भूया जीवा सत्ता अनेव भूय वेदण वेदेंति से तेणट्ठेण तहेव । नेरइया ण भते किं एव भूयं वेदण वेदेंति अनेव भूय वेदण वेदेंति ? गोयमा ! नेरइया ण एव भूय वेदण वेदेंति

अनेव भूय पि वेदण वेदेंति । से केणट्ठेण त चेव ? गोयमा ! जेण नेरइया जहा कडा कम्मा तहा वेयण वेदेंति ते ण नेरइया एव भूय वेदण वेदेंति जे ण नेरतिया जहा कडा कम्मा णो तहा वेदण वेदेंति तेण नेरइया अनेव भूय वेदण वेदेंति, से तेणट्ठेण, एव जाव वेमाणिया ससारमण्डल नेयव्व (२०२)

टीका-तत्र च एव भूय वेयण' ति यथाविध कर्म निबद्धमेव प्रकारतयोत्पन्ना 'वेदना असातादिकर्मोदय 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, मिथ्यात्व चैतद्वादिनामेव-न हि यथा बद्ध तथैव सर्व कर्मानुभूयते, आयुकर्मणो व्यभिचारात् तथाहि-दीर्घकालानुभवनीयस्यायु कर्मणोऽल्पीयताऽपि कालेनानुभवो भवति,कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेश सर्वजन प्रसिद्ध• स्यात् ?, कथ वा महासयुगादौ जीवलक्षाणामप्येकदैव मृत्युरुपपद्येतेति ? 'अनेव भूयपि' ति यथा बद्ध कर्म नेवभूता अनेवभूता अनन्ता, श्रूयन्ते ह्यागमे कर्मण' स्थितिविघातरसविघातादय इति, 'एव जाव वेमाणिया ससार मण्डल नेयव्व' ति 'एवम्, उक्तक्रमेण वैमानिकावसान ससारिजीवचक्रवाल नेतव्यमित्यर्थ

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र शतक ५ उद्देश ५

इसी स्याद्वाद के विषय म कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचद्रजी इस प्रकार लिखते हैं।

सिद्धि स्याद्वादात् । १ । १ । २ । स्यादिति-अव्ययमनेकान्तद्योतकम् । तत स्याद्वादोऽनेकान्तवाद , नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्तु अभ्युपगम इति यावत् । तत सिद्धिर्निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा प्रकृताना शब्दाना वेदितव्या । एकस्यैवाहि ह्रस्व दीर्घादि विधयो ऽनेककारकसनिपात सामानाधिकरण्य विशेषेण विशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यते ।सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शन समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीय यदवोचाम स्तुतिषु अन्योन्यपक्षप्रतिपक्ष भावाद्यथा परे मत्सरिण प्रवादा ॥ नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समय स्तथाते ॥ १ ॥ स्तुति कारोऽप्याह 'नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातव ॥ भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण ॥१॥ इति । अथवा वादादितिशब्द प्रयोगात्सिद्ध सम्यग्ज्ञान तद्द्वारेण च निश्रेयस स्याद्वेदितिति शब्दानुशासनमिदमारभ्यत इत्यभिधेयप्रयोजन परतयापीद व्याख्येयम् ॥ २ ॥

न्यास—सिद्धि स्याद्वादात् ॥ दशधा सूत्राणि । सज्ञा १ परिभाषा २ (अ) धिकार ३ विधि ४ प्रतिषेध ५ नियम ६ विकल्प ७ समुच्चयाऽ ८ (अ) तिदेशाऽ ९ (अ) नुवाद १० रूपाणि । तत्र 'ओदन्ता स्वरा ' इति १ । 'प्रत्यय प्रकृत्यादे' इति २ । 'घुटि' इति ३ । 'नाम्यन्तस्थाकवर्गात' इति ४ । 'न स्त मत्वर्थे' इति ५ । 'नाम सिदय्व्यञ्जने' इति ६ । 'सौ नवे तौ' इति ७ । 'शद्वेऽता' इति ८ । 'इदिनो वा' इति ९ । 'तयो समूहवच्चबहुषु' १० इत्यादीनि सूत्राणि प्रत्येक ज्ञातव्यानि। मध्ये इदमधिकारसूत्रमाशास्त्रपरिसमाप्ते ॥ स्यादित्यव्ययमिति । विभक्त्यन्त्याभत्वेन स्वरादित्वाद्धाऽनेकान्त द्योतयति वाचकत्वनेत्यनेकान्तद्योतकम् ॥ अनेकान्तवाद

इति । अयति गच्छति धर्मिणमिति 'दम्यमि' इति तेऽन्तो धर्म । न एकोऽनेक । अनेकोऽन्तोऽस्यासावनेकान्त । तस्य वदनं याथातथ्येन प्रतिपादनम् तच्चाभ्युपगतस्येव भवतीति ॥ नित्यानित्यादीनि । आदिशब्दात्सदसदात्मकत्वसामान्यविशेषात्मकचाभिलाप्यानभिलाप्यत्वग्रह ॥ ' नेध्रुवे ' इति त्यचि, नित्यमुभया घन्तापरिच्छिन्नसत्ताक वस्तु । तद्विपरीतमनित्यम् ॥ आदीयते गृह्यतेऽर्थोऽस्मादिति उपसर्गाद्द कि इति कौ आदि । धरन्ति धर्मिणो धर्मिरूपतामिति धर्मा वस्तुपर्याया । ते च सहभुव सामान्यादय क्रमभुवश्च नवपुराणादय पर्याया । धर्मान्तरेण धर्मिण स्वरूपनाशात् ॥ शाम्यति निरूद्धे धर्मैर्युगपत्परिणतिमुपयाति 'शमेर्वच इत्यले शवलम् ॥ पन्यभेद गच्छति 'मीणशलि' इति के एकम्, वसन्ति सामान्यविशेषरूपा धर्मा अस्मिन्निति 'वसेर्णिद्वा' इति तुनि वस्तु । नित्यानित्यादिभिरनेक धर्मैः शवल यदेक वस्तु तस्य अपगम प्रमाणाविरुद्धोऽङ्गीकार ॥ तत एव शब्दानामिद्धि भवति नान्यथा-इति-अत आह एकस्यैवेति । तथा हि-यस्यैव वर्णस्य ह्रस्वत्व विधीयते तस्यैव दीर्घत्वादि । तस्य च सर्वात्मना नित्यत्वे पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्वकस्य ह्रस्वादिविधिरसभव । एवमनित्यत्वेऽपि जन्मानन्तरमेव विनाशात् कस्य ह्रस्वादिविधिरिति वर्णरूपसामान्यात्मना नित्यो, ह्रस्वादि धर्मात्मना त्वनित्य - इति ॥, तथा द्रव्याणा स्वपराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्तक सामर्थ्यं कारकम् । तच्च कर्त्रादि-अनेकप्रकारमेकस्याप्युपलभ्यते । यथा पीयमान मधु मदयति, वृक्षमारुह्य तत फलान्यवचिनोति, विषयेभ्यो विभ्यवनात्मवस्तेभ्य एवात्मान प्रयच्छन्नेरेव बन्धमाप्नोति इत्यादि । तच्च कथमेकस्य सर्वथा नित्यत्वे एकरूपा वृत्तिमवलम्बमानस्यावऽस्यान्तराभिव्यकरूपोपालम्भाभावाद्घटते इति साध्यसाधनरूपकारकव्यवहारविलोप ॥, अनित्यत्वेऽपि न घटते । तथाहि स्वातन्त्र्य कर्तृत्वम् । तच्च ' इदकमिय क्रिया करणमेतदेव क्रमोऽव्ययोऽयमनुषङ्गज फलमिद दशेय मम-॥ अय सुहृदय द्विषत्प्रकृतदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कय प्रयतत बुधो नेनर ' ? इत्येवमात्मकपरिदृष्टसामर्थ्यं कारकप्रयोक्तृत्वलक्षणम् । तदपि नानित्यस्य ,क्षणमात्रावस्थायित्वेनोपजननानन्तरमेव विप्रस्य युज्यते किं पुन ,कारक सनिपात इति नित्यानित्यात्मक स्याद्वादोऽङ्गीकर्तव्य ॥ तथा तमन्तरेण सामानाधिकरण्य विशेषण विशेष्यभावोऽपि नोपपद्यते तथाहि भिन्नप्रवृत्ति निमित्तयो। शब्दयोरेकत्रार्थे वृत्ति सामानाधिकरणम् । तयोश्चात्यन्तभेदे घटपटयोरिव नैकत्र वृत्ति । नाप्यन्त्यन्ताभेदे, भेदनिबन्धनत्वात्तस्य । नहि भवति नील नीलमिति ॥ किंच नीलशब्दादेव तदर्थप्रतिपत्तौ, उत्पलशब्दानर्थक्यप्रसङ्ग ॥ नचैक वस्तु सर्वैनेति नियम्यमाने विशेषणविशेष्यभावाभाव । विशेषणाद्विशेष्य ,कथंचिदर्थान्तरभूतमव गन्तव्यम् । अस्ति च चेह विशेषणम् । ,तस्य विशेष्य। वस्तु । तदेव वा स्यादन्यदेव वा । न तावत्तदेव । न हि तदेव तस्य विशेषणं भवितुमर्हति । असति च विशेष्ये विशेषणत्वमपि न स्यात । विशेष्य विशिष्यते येन तद्विशेषणमिति, व्युत्पत्ते । अथान्यत्तर्हि अन्यत्वविशेषात्सर्वस्य विशेषण स्यात् । समवायात् प्रतिनियतो विशेषण विशेष्यभाव इति चेत्, न । सोऽपि अविष्वग्भावलक्षण एवेष्यत । स्या-

न्तरपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्ग अतो नासावत्यन्त भेदेऽभेदे वा सभवति इति भेदाभेदलक्षण स्याद्वादोऽकामेनाप्यभ्युपगन्तव्य इति ॥ आदिग्रहणात्स्थान्यादेश निमित्त निमित्ति प्रकृति विकारभावादिग्रह ॥ किं च, शब्दानुशासनमिदम्, शब्द च प्रति विप्रतिपद्यन्ते नित्य इत्येके, अनित्य इत्यपरे, नित्यानित्य इति चान्ये । तत्र नित्यत्वानित्यत्वयोरन्यतरपक्षपरिग्रहे सर्वोपादेयत्व विरह स्यादिति आह—सर्वपार्षदत्वाच्चेति । स्वेन रूपेण व्यवस्थित वस्तु तत्त्व पृणाति पालयतीति 'प्र सद्' इति सदि पर्षद् । तत्र साधु 'पर्षदोण्यणौ', इति णे पार्षद साधारणमित्यर्थ । अथवा, पार्षद परिचारक उच्यते । स च पर्षत्सा धारण इत्यर्थ । पार्षदत्वेन च साधारणत्व लक्ष्यते । तेन सर्वेषा पार्षद सर्वसाधारण मित्यर्थ । इष्यते तत्त्वमकेदेशैरेभिरिति दर्शनानि नया । समस्तदर्शनाना य समुदाय तत्साधारणस्याद्वादस्याभ्युपगमोऽतितर निर्दोष इत्यर्थ ॥ अतिर मणीयमिति ॥ णिगन्तात् प्रवचनीयादय इत्यनीय एतदेव श्लोकेन द्रढयति- अन्योन्येत्यादि । साध्यधर्म वैशिष्ट्येन पक्ष्यते व्यक्तीक्रियते हेत्वादि भिरिति 'सावावादि' इति से पक्ष साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी । शब्दोऽनि त्य इत्यादि प्रतिकूल पक्ष । अन्योन्य पक्षप्रतिपक्षास्तेषा भाव, एकस्मिन्धर्मिणि परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास इत्यर्थ । तत ॥ यथेति दृष्टान्तोपन्यासे । परे भवच्छा सनादन्ये सातिशयो मत्सरोऽसहनतास्त्येषामतिशायने मत्वर्थीय मत्सारिण ॥ प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति 'व्यञ्जनाद् घञ' इति घञिप्रवादा प्रवचनानि ॥ यथा परस्परविरोधात्परे प्रवादमत्सरिणो न तथा त्वत्समयः इति ॥ अत्र विशेषणद्वारेण हेतुमाह पक्षपातीति । यतो रागनि- मित्तवस्तुस्वीकाररूप पक्ष पातयति नाशयति-एव शीलो रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात् ॥ अत्रैव हेतुमाह—नयानशेषानविशेषमिच्छन्निति । नयान् नैगमादीन् समस्तानविशेषमभेद यथा भवत्येवमङ्गीकुर्वन् । अथ भाव । नयाना समस्तेन दर्शना द्वागमयस्य पक्षस्य पतितत्वात्समयस्य मत्सरा भाव, परेषातु विपर्यात् तत्सद्भाव इति सम्यगेति गच्छति शब्दो अर्थमनेनेति 'पुन्नाम्नि' इति घे—समय संकेत । यद्वा सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादय. पदार्था स्वस्मिन्रूपे प्रतिष्ठा प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति समय आगम । मत्सरित्वस्य विधेयत्वत्तेनैव नञ सम्बन्धात् पक्षपाति शब्देन त्वस- म्बन्धात् प्रक्रमभेदाभाव ॥ परोक्तेनापि द्रढयति नया इत्यादि । नीयते प्राप्यते जीवा द्योऽर्थो एकदेशविशिष्टा एभिरिति नयाः निरवधारणा अभिप्रायविशेषाः । साव- धारणस्य दुर्नयत्वात । समस्तार्थप्राप्तिस्तु प्रमाणाधीनत्वात् । ते च नैगमाद्य सप्त तव स्यात्पदेन चिह्निता अभिप्रेत फलन्ति, लिहाद्यच् । अभिप्रेत फल येस्य इति बहुव्रीहिर्वा ॥ प्रणता इति । प्रणन्तुमारब्धवन्त ॥— हितैषिण इति । विशेषण द्वारेण हेतु हितैषित्वादित्यर्थ ॥ आराद्दूरान्तिकयो । सम्यग्ज्ञानाद्यात्मकमोक्षमार्गस्या- रात्समीपं याता प्राप्ता, दूर वा पापक्रियाभ्यो याता इत्यार्यो ॥ ननु अस्तु युक्ति युक्त स्याद्वादस्तदधीनत्वाच्छब्दसिद्धे, तथापि अनभिहिताभिधेयप्रयोजनत्वातकथमिद

प्रेक्षावत्प्रवृत्तिविषयमित्याशङ्क्याह अथवेति। विविक्तानामसाधुत्वविमुक्तानां शब्दाना प्रयुक्ते सम्यग्ज्ञानरूपा सिद्धि । साधुशब्दाश्चात्राभिधेया ॥ यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनमिति सम्यग्ज्ञानमन्तर प्रयोजन तद्द्वारेण तु निःश्रेयस परं परमिति। यत, 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति। १॥ व्याकरणात्पदसिद्धि पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति। अर्थात्तत्त्व ज्ञान तत्त्वज्ञानात्पर श्रेयः ॥ १॥ सम्बन्धस्तु-अभिधेयप्रयोजनयो साध्यसाधनभाव शब्दानुशासनाभिधेययोस्तु अभिधानाभिधेयरूप । स च तयोरेवान्तर्भूतत्वात्पृथग्नो पदर्शित इति ॥ २॥

श्री हेमशब्दानुशासनम् (बृहद्वृत्ति) लघुन्यास

—०×०—

निर्वाण का सुलभ मार्ग और उसका लक्षण

— ०×० —

(लेखिका श्रीमती विदुषीरत्न पण्डिता चन्दाबाईजी जैन, आरा)



कालवाद के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्न करते हैं । प्रत्येक जीव दुःख से छुटकारा चाहता है और अपनी कमजोरियों का अनुभव कर सुख दुःख के मिश्रित स्वरूप का उपभोग करता है। पर जिस जीव म जितना ज्ञान होता है वह उसी के अनुसार अपने जीवन का अध्ययन कर अपने मार्ग को समुन्नत बनाता हुआ अपनी अल्पज्ञताओं की पूर्ति करता है। देखा जाता है कि सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्त से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीव अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करते रहते हैं। निम्न श्रेणी के जीव, जिनका ज्ञान आच्छादित है, केवल आहार, निद्रा और मैथुन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही अपना कर्तव्य निर्धारित कर लेते हैं, किंतु जिनका ज्ञान विकसित है वे केवल आवश्यकताओं की पूर्ति को ही सब कुछ नहीं समझते, किन्तु इससे आगे भी विचार करते हैं। उनके जीवन का दायरा भोजन, वस्त्र और प्रजनन कार्य तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि वे जीवन की जटिलताओं को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ज्ञानी-प्राणी और अज्ञानी प्राणी के कार्यों में अन्तर यही है कि एक के कार्य विवेक पूर्वक होते हैं और दूसरे के विवेक रहित। एक केवल दुःखों को सहन करता रहता है, पर उनसे छुटकारा पाने के लिए यत्न नहीं करता, लेकिन दूसरा दुःखों को सहन करते हुए भी उनसे कातर हो कर निवृत्ति का उपाय ढूंढता है। वह संसार के प्रत्येक चल चित्र का अनुभव करता है और उन चित्रों को चंचल समझकर उन्हें त्यागने का प्रयास करता है। लेकिन यह प्रयास

चौरासीलाख योनियो में से केवल मनुष्य योनि मे ही सम्भव है यही योनि उत्थान के लिए श्रेष्ठ है, क्योंकि यहाँ आत्म-कल्याण के साधन सुलभता से मिल जाते हैं। यहाँ वे साधन प्राप्त हैं जिन के सदुपयोग से जीवात्मा चरम उन्नति रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहीं आत्मा की विशुद्धावस्था है, यहीं जीव को चरमोत्कृष्ट सुख मिलता है। यहाँ जीव को कर्म बन्धन रहित स्वतंत्रावस्था मिल जाती है और जन्म-मरण के दु खो से सदा के लिए छूट जाता है तथा अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन एवं अनन्तसुख आदि गुण प्रकट हो जाते हैं।

यह निर्वाणावस्था संसार के समस्त प्राणियों को जिनमें रत्नत्रय ग्रहण की योग्यता वर्तमान है, प्राप्त हो सकती है। जो निवृत्ति मार्ग पर चलते हैं उनके लिए यह अवस्था सुकर है, उन्हें संसार की यातनाओं से संतप्त होना नहीं पड़ता, किन्तु जो प्रवृत्ति मार्ग की ओर चलते हैं वे संकट के दलदल में फस जाते हैं, उनका उद्धार होना दुष्कर हो जाता है।

यद्यपि जो निवृत्ति मार्गावलम्बी हैं उन्हें आरम्भ में कष्ट सहन करने पड़ते हैं, पर अन्तिम परिणाम मधुर-सुखप्रद होता है। लेकिन प्रवृत्तिमार्गावलम्बियों को आरम्भ में क्षणिक सुख मालूम पड़ता है, पर अन्तिम परिणाम महादुखप्रद होता है। अत अन्तिम परिणाम का विचार कर श्रेष्ठप्राणी निवृत्तिमार्ग को ग्रहण कर आत्म कल्याण कर लेते हैं। तथा अज्ञानीजीव इसी संसारचक्र मे पर्यटन करते रहते हैं। इन आत्म-कल्याण करने वालों की संख्या बहुत थोडी है, क्योंकि अधिकांश प्राणी मोह और अज्ञान के फन्दे में ही फसकर अपनी शक्ति को नष्ट किया करते हैं।

इस निर्वाण या मोक्ष के मार्ग के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं उनमें से यहाँ कुछ का निरूपण किया जायगा। जैनदर्शन में मोक्ष का मार्ग रत्नत्रयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र माना है। जिस गुण के द्वारा सत्य की प्रतीति हो अथवा जिससे हेयोपादेय के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो वह सम्यग्दर्शन है। नय और प्रमाण के द्वारा होने वाला जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञानपूर्वक राग, द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूपरमण होता है वही सम्यक्चारित्र है। जब ये तीनों साधन परिपूर्ण रूप को प्राप्त होते हैं तभी मोक्ष संभव है अन्यथा नहीं। एक भी साधन की अपूर्णता में मोक्ष संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की तेरहवें गुणस्थान में पूर्णता हो जाने पर चारित्र की अपूर्णता के कारण मुक्ति नहीं होती, किन्तु चौदहवें गुणस्थान में तीनों की पूर्णता हो जाती है, तभी मुक्ति होती है। तथा इन्हीं से बन्ध का अभाव और निर्जरा सम्भव है। कुछ लोग केवल ज्ञान से ही मोक्ष मानते हैं, उनका खण्डन करते हुए स्वामी अकलंकदेव ने लिखा है कि—"ज्ञानादेव मोक्ष इति चेदनवस्थानादुपदेशाभाव—यस्य ज्ञानादेव मोक्षस्तस्यानवस्थानादुपदेशाभाव यथा प्रदीपस्य तमो निवृत्तिहेतुत्वात्प्रदीपे सनिन मुहूर्त-

मपि तमोऽवतिष्ठते । न ह्येतदस्ति प्रदीपस्य नाम ज्वलति तमश्चावतिष्ठत इति । नचात्मस्वरूपावबोधाविर्भावानन्तरमेवास्य मोक्षः स्यात्। न ह्येतद्युक्तिमत् ज्ञान च नाम मोक्षस्य कारणमस्ति न च मोक्ष इति । तथा ज्ञानानन्तरमेवास्य शरीरेन्द्रियनिवृत्ते प्रवचनोपदेशाभाव ।" अर्थात् सिर्फ ज्ञान मात्र से ही मोक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञानानन्तर में ही मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग आएगा तथा आत्मोपदेश भी नहीं बन सकेगा। कुछ लोग संस्कार क्षय से मोक्ष मानते हैं, पर यह भी मार्ग निर्दोष नहीं है, क्योंकि इसमें अनेक दोष आते हैं। जो ज्ञान और वैराग्य को मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं वह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है, आत्मोपदेश का अभाव होने से तथा यथार्थ वस्तु श्रद्धान के अभाव में ज्ञान और वैराग्य की अनुत्पत्ति होने से।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार निष्काम कर्म का आचारण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में कारण माना गया है अर्थात् निष्काम कर्मके सम्पादन से सत्त्वशुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धि का फल तत्त्वज्ञान का उदय है, जो मिथ्याज्ञान निवृत्तिरूप व्यापार के द्वारा मोक्ष का मुख्य कारण है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण और निष्काम कर्म परम्परा सहायक मानी गई है, लेकिन यह सिद्धान्त भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से आत्माके यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर भी आत्मा के स्वरूपध्यान के लिये आत्मेतर द्रव्यों की जानकारी आवश्यक है तथा आत्मा को विशुद्ध करने के लिये निवृत्ति मार्गरूप चारित्र भी परमावश्यक है, अतएव वैशेषिक सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित निष्कामकर्मपरम्परा कर्मबन्ध का साधन होने से कर्माभाव में सहायक नहीं हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कर्माभाव में कारण बन्धाभाव और निर्जरा ही है।

सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष तत्त्व शरीर तथा मन के ऊपर है, प्रकृति बन्धनों से उन्मुक्त होने वाला, अमरणधर्मा, अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है, यह जानलेना ही पुरुष कैवल्य है। वस्तु व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ के तत्त्वज्ञान से विवेकसिद्धि होती है जिसका फल निःशेष दुःखनिवृत्ति है। तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार भी ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग बतलाया गया, लेकिन विचार करने पर यह सिद्धान्त भी पहले के समान ही सदोष प्रतीत होता है। क्योंकि जड़ प्रकृति का धर्म ज्ञान बतलाना कहाँ तक युक्तिसंगत है?

बौद्धदर्शन के अनुसार बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में पहुंच कर अपने को अर्पण कर देने पर सदाचरण से निर्वाण प्राप्ति बताई गई है। लेकिन विचार करने पर यह मार्ग भी उत्तम नहीं होगा क्योंकि केवल सदाचरण से कैवल्य प्राप्ति संभव नहीं। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जैनाचार्य द्वारा अभिमत मोक्ष मार्ग ही समीचीन है।

निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी विभिन्न सम्प्रदाय के विभिन्न मत हैं। चार्वाक दर्शन बताता है कि—"स्वातन्त्र्येण स्थितिर्मरणं वा मुक्तिः" अर्थात् संसार में

आनन्द पूर्वक 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' वाली कहावत के अनुसार स्वतन्त्रता से रहना या मर जाना ही निर्वाण है। इस दर्शन का तात्पर्य यह है कि सांसारिक सुखों को ही मुक्ति माना गया है, सांसारिक इन्द्रिय-जन्य सुखों से भिन्न कोई मुक्ति नहीं है, क्योंकि इस मत के अनुयायी दार्शनिकों ने पुनर्जन्म, आत्मा की शरीर से भिन्न स्थिति मानी नहीं है, अतएव सुखपूर्वक शरीर की स्थिति रखना ही मुक्ति बताई है। लेकिन कोई भी समझदार व्यक्ति इस सिद्धान्त को नहीं मान सकता है, क्योंकि आजकल के वैज्ञानिकों ने अनेक पुष्टप्रमाणों से पुनर्जन्म और शरीर से भिन्न आत्मा की स्थिति सिद्ध कर दी है।

मीमांसक मत के प्रवर्तक स्वर्गादि सुखों को ही अपवर्ग बतलाते हैं, लेकिन यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वर्ग सुख भी इच्छा जन्य होने के कारण वास्तविक सुख नहीं हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि सांसारिक सभी इच्छाओं की पूर्ति जीवन में सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छाओं का यही स्वभाव है कि एक इच्छा के पूर्ण होने के पहले अन्य सैकड़ों इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और उन सब इच्छाओं की तृप्ति होना सम्भव नहीं, यदि हो भी तो तब तक वैसी ही हजारों इच्छाएं और पैदा हो जाती हैं जिनका पूर्ण होना इस जीवन में सम्भव नहीं। अतः संसार में इच्छा-पूर्तिजन्य सुख की अपेक्षा अपूर्ण-इच्छाजन्य दुःख अधिक रहता है इसीसे सांसारिक सुख को सुखाभास कहागया है, किन्तु निर्वाण के सुखकी स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि यहां इच्छाओं का अभाव रहता है और स्वाभाविक सन्तोष प्रकट होजाता है, इससे उसमें सन्तोषजन्य सुख ही सुख है तथा यह सुख नित्य और अविनाशी होता है, संसार के सुख के समान क्षणिक नहीं।

शून्याद्वैतवादी माध्यमिक कहते हैं कि आत्मसन्तति का उच्छेद हो जाना मुक्ति है अर्थात् मुक्त होने पर आत्मा शून्य में मिल जाता है। जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसका बुझने पर कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार निर्वाण हो जाने पर आत्मा भी शून्य में लय हो जाता है। विचार करने पर यह सिद्धान्त भी निराधार प्रतीत होगा। जिस निर्वाण में गांठ की पूंजी आत्मा ही नष्ट हो जाता हो, उस निर्वाण को कौन प्राप्त करेगा, यदि किसी व्यापारी को व्यापार में लाभ होने के बदले उसकी मूल पूंजी नष्ट होने की सम्भावना हो तो वह क्यों व्यापार करेगा?

विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध कहते हैं कि 'भावनाप्रकर्षान्निखिलदुःखवासनोच्छित्तौ विषयकारोपप्लवभावेन विशुद्ध विज्ञानसन्तानोदयो मोक्ष इति' अर्थात् भावना के प्रकर्ष से दुःख वासनाओं के नष्ट हो जाने पर विषयकार उपद्रव के अभाव से विशुद्ध विज्ञान सन्तति की उत्पत्तिही मोक्ष है। तर्क की कसौटी पर कसने पर यह सिद्धान्त भी खरा नहीं उतरता है, क्योंकि वासना और दुःख के नष्ट हो जाने पर केवल विशुद्ध ज्ञान का ही आविर्भाव नहीं होता, बल्कि अनन्तसुख, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्यादि गुण भी आविर्भूत हो जाते हैं। केवलज्ञान का नाम ही मोक्ष नहीं है, बल्कि ज्ञान के साथ चारित्र की पूर्णता से जो आत्मा को विशुद्ध अवस्था प्राप्त

होती है, वही मोक्ष है। इस विशुद्ध आत्मा में अनन्तगुण रहते हैं। अतः विशाला द्वैत के सिद्धान्तानुसार निर्वाण का लक्ष्य नहीं बन सकता है।

जरनैयायिकों का मत है कि " स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः मुक्तिः " अर्थात् प्रागभाव के असमान कालीन दुःख का ध्वंस हो जाना जिसे दुःख के नष्ट हो जाने पर दुःख का प्रादुर्भाव न रहे, उसका आत्यन्तिक विनाश हो जाना ही मुक्ति है। इस सिद्धान्त में छः इन्द्रियां, छः इन्द्रियों के विषय, छः बुद्धियां पदार्थों के ज्ञान, सुख, दुःख और शरीर के अत्यन्त विनाश हो जाने पर मुक्ति मिलती है। विचार करने पर यह सिद्धान्त भी गलत प्रतीत होता है क्योंकि जिस निर्वाण में ज्ञान और सुख नष्ट हो जाते हैं, उस निर्वाण को कौन स्वीकार करेगा ? संसार में जीव के लिए दो चीजें अभ्युदयकारक मानी जाती हैं—सुख और ज्ञान इन दोनों की पराकाष्ठा मोक्ष में होती है, इसीलिए जीव निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

प्रभाकर मतानुयायी कहते हैं कि " आत्मज्ञानपूर्वकवैदिककर्मानुष्ठानाद्धर्माधर्मयोः क्षये देहेन्द्रियाद्यत्यन्तोच्छेदः मुक्तिः " अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर वैदिक यज्ञ-यागादि कर्मों के अनुष्ठान से धर्म और अधर्म का नाश हो जाने पर शरीर और इन्द्रिय आदि का अत्यन्त विनाश हो जाना ही मुक्ति है। यह मुक्ति का लक्षण भी सदोष है, क्योंकि मोक्ष के लिए जिस सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है, उस सम्यक्चारित्र का कथन यहाँ नहीं किया गया है। यज्ञ-यागादि कर्मों के अनुष्ठान से तो सांसारिक कर्मों का ही बन्ध होगा, उनसे शरीर और तज्जन्य वासना का अभाव नहीं हो सकता है। अतः प्रभाकर सम्मत मुक्ति ठीक नहीं है।

शैव मतानुयायी बतलाते हैं कि " पशुपतिपूजनादेर्जीवरूपपशोर्बन्धनरूपपाशनिवृत्तौ नित्यं पशुपतिसमीपस्थितिरिति " अर्थात् शिवजी की उपासना से जीव रूप पशु को बन्धनरूप पाश से छूट जाने पर हमेशा पशुपति के पास रहना ही मोक्ष है। यह लक्षण अत्यन्त दोष युक्त है, क्योंकि केवल उपासना मात्र से आत्मा कर्मबन्धन रहित नहीं हो सकती है, कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए सम्यक् विवेक और सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है। शिवोपासना के लिए अनेक राग द्वेषमय आडम्बरों की आवश्यकता रहती है; पर आडम्बर सहित उपासना से मोक्ष कदापि संभव नहीं। एक बात विचारणीय यह भी है कि भक्ति राग का ही अंश है अतः रागात्मिका भक्ति से पुण्यबन्ध भले ही हो पर कर्मनाश कदापि नहीं हो सकता। कर्मनाश करने के लिए तो ध्यान रूपी अग्नि की आवश्यकता है, इसके बिना कर्मों की वृद्धि ही सम्भव है, ह्रास नहीं। अतः शैव सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है।

—वैष्णव धर्म मानने वालों का कहना है कि " पञ्चरात्रादिशास्त्ररीत्या वैष्णवधर्मानुष्ठानलब्धविष्णुप्रसादस्य विष्णुलोकस्थितिः " अर्थात् पञ्चरात्र आदि शास्त्रों में वर्णित विधि से वैष्णव धर्म का आचरण करने से विष्णु की कृपा होने पर

विष्णुलोग में रहना ही मुक्ति है । इस मत में भी शैव मत के समान दोष है, क्योंकि कर्मबन्धन से छूटने के लिए आत्मविस्तार अर्थात् सम्यग्दर्शनादि ही कारण हो सकते हैं। इसके लिए किसी की कृपा की क्या आवश्यकता है? यदि कृपा, अकृपा से मुक्ति मिल जाया करे तो फिर संसार में सदाचरण और तपश्चरण आदि की कुछ भी आवश्यकता न रहे । तथा कृपा राग का अंश होने के कारण कर्म नाशक नहीं हो सकती है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार जीव और ब्रह्म का अभेदरूप से साक्षात्कार हो जाने पर संपूर्ण उपाधियों से रहित आत्मा का शुद्धस्वरूप से अवस्थान ही मोक्ष है। युक्ति की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त भी सदोष मालूम पड़ता है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त और कोई ब्रह्म नहीं है। वेदान्ती ब्रह्म का अलग अस्तित्व मानते हैं और वे आत्मा को उसीका अंश बतलाते हैं, लेकिन यह संभव नहीं है। हम प्रत्यक्ष रूप से संसार में अनन्त आत्माओं का अस्तित्व देखते है, फिर एक ब्रह्म कैसे कहा जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की स्थिति भी सिद्ध नहीं हो सकती है, अतः ब्रह्मप्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं होसकता है।

रामानुज सम्प्रदाय वाले विशिष्टाद्वैतवादियों का कहना है कि "सृष्टिकर्तृत्व गुण जो ईश्वर का ही धर्म हो सकता है, उसे छोड़ अन्य सर्वज्ञत्वादि गुणों की प्राप्ति हो जाना ही मुक्ति है। पर यह लक्षण भी ठीक नहीं जँचता है क्योंकि कर्तृत्व आदि गुण सम्भव नहीं हैं तथा विशुद्ध आत्मा के अतिरिक्त और कोई ईश्वर सम्भव भी नहीं है अतः ईश्वर के सामीप्यलाभ को मुक्ति नहीं कह सकते हैं। अधिक विचार करने पर इस सिद्धान्त में और भी दोष आएँगे, क्योंकि निर्वाणावस्था में आत्मा में अनन्त सुखादि सभी गुण प्रकट हो जाते हैं, वहाँ स्वतन्त्रता रहती है, उसे ईश्वराधीन नहीं चलना पड़ता, उस समय तो आत्मा स्वयं ही ईश्वररूप होता है। क्या कोई भी विचारशील परतन्त्रतारूप मोक्ष को स्वीकार करेगा, जब सांसारिक कार्यों में लोग स्वतन्त्रता चाहते हैं तथा इस स्वतन्त्रता के लिए खून की नदियाँ बहाई जाती हैं, फिर मोक्ष में कोई परतन्त्रता कैसे चाहेगा।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार "गोलोके श्रीकृष्णेन सह रासलीलाद्यनुभवो मोक्ष इति" अर्थात् गोलोक में श्रीकृष्ण के साथ रासलीलादि क्रीड़ाओं का अनुभव कर लेना ही मोक्ष है। तर्क की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त और भी अधिक दूषित मालूम पड़ता है। रासलीला आदि क्रीड़ाएँ तो सांसारिक हैं, इन की उत्पत्ति भी वासनाओंसे होती है, अतः ये क्रियाएँ मोक्ष में कैसे बन सकती हैं। यदि रासलीला का नाम ही मोक्ष मान लिया जाए और श्रीकृष्ण के साथ गोलोक में रागात्मक क्रीड़ाएँ ही सब कुछ मान ली जाएँ तो संसार और मोक्ष में कुछ भी भेद नहीं रहेगा अतः विभिन्न मतों के द्वारा जो मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह ठीक नहीं है। केवल जैनदर्शन में जो मुक्ति का स्वरूप बताया है वह निर्दोष और बुद्धि-

ग्राही है। जैनाचार्योंने "वन्धहेत्वभावानिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष." यह मोक्ष का लक्षण बताया है। स्वामी अकलंक देव ने इस सूत्र की व्याख्यान करते हुए निम्न प्रकार लिखा है कि संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का अभाव होता है।

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभाव — मिथ्या दर्शनादीना पूर्वोक्तानामेव कर्मास्रवहेतूना विरोधिकारणभावात् कर्माभाव इत्यभिनवकर्मादानाभाव।

पूर्वोदितनिर्जराहेतुसन्निधाने चार्जितकर्मनिरास — पूर्वोदिताना निर्जरा हेतूना सन्निधानेऽर्जितस्य च कर्मणो निरासो भवति। ताभ्या वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशस्ततो भवस्थितिहेतुसमाकृतशेषकर्मावस्थस्य युगपदात्यन्तिक प्रत्येतव्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कर्मों के अभाव का नाम ही मोक्ष है, इस निर्वाणावस्था में सुख का वर्णन करते हुए बताया है कि —

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाण शुद्धसुख निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥
विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्य प्रह्लादतृप्ति शुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयोनिःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥

अर्थात् जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, दुःख से रहित, शुद्ध सुख सहित नित्य और निरन्तराय नि श्रेयस अर्थात् निर्वाण होता है। यहाँ का सुख अतीन्द्रिय होता है, वह केवल गूगे के गुड के समान अनुभवगम्य है, उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। अत सासारिक परावर्तन के चक्र को नष्ट करने के लिए जैनाचार्य द्वारा अभिमत रत्नत्रय मार्ग पर चलकर सर्वकर्मविप्रमोक्ष रूप निर्वाण को प्राप्त करना चाहिए।



शाश्वत प्रेम और त्याग का धर्म

श्री रामनाथ 'सुमन'



जैन और हिन्दू दोनों अपनी दैनिक जीवन-विधि में इतने मिल गये हैं कि सामान्य रूपसे हिन्दू समाज और जनसंख्या में ही जैनों की गणना की जाती है। आज के बौद्धों से जैनों में भारतीय संस्कृति और जीवन धर्म का अधिक स्वभाविक विकास दिखाई पड़ता है। खान-पान, रहन-सहन, भाषा, व्यवहार सब में हिंदू और जैन प्रायः एक हैं। हिन्दू संस्कृति को सार्वदेशिक रूप देने और विश्व-कल्याण की सञ्चाहिका शक्ति बनाने में जैन धर्म और दर्शन की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बाल की खाल निकालने वाले बाह्याचारवादी तार्किकों की बातों से ऊपर उठकर उदार तथा विशद दृष्टि से देखें तो जिसने जैनियों को नास्तिक कहा उसकी संकुचितता पर आश्चर्य और दुःख होता है। जैन दर्शन उच्च कोटि का आत्मवादी दर्शन है। वैदिक संस्कृति के विकास काल में इसका उद्भव हुआ। भारतीय सभ्यता के आदिकाल में स्वभावतः मानवहृदय की दो प्रवृत्तियों के दर्शन हमें होते हैं— १ जाति के गठन के लिए बाह्याचार प्रधान, ओजस्वी, युद्धप्रिय, अपने अस्तित्व की रक्षा में प्रयत्नशील लोगों की क्षात्र-प्रवृत्ति, २ आत्म-संस्कार, आत्मदर्शन आत्म-निरोध, त्याग-तप की ब्राह्मण संस्कृति। पहली बहिर्मुखी और दूसरी अन्तर्मुखी थी। स्वभावतः पहली में कर्मकाण्ड की प्रधानता आई और दूसरी में आत्मसंस्कार की भावना जगी। जब मैं इन्हें क्षात्र और ब्राह्मण वृत्ति कहता हूं तब इन दो वर्णों के स्थूलार्थ से भिन्न मेरा तात्पर्य है। एक ब्राह्मण तत्त्वतः अब्राह्मण हो सकता है, होता है, एक क्षत्रिय तत्त्वतः ब्राह्मण हो सकता है, होता है। वैदिक काल की सभ्यता ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी इन दो प्रवृत्तियों की विषमताए भी घनीभूत होती गई। समाज का एक वर्ग, ब्राह्मण और पुरोहित जिसके नेता थे, कर्मकाण्ड में इतना लिप्त होगया कि अपनी अन्वेषण शक्ति एवं चिन्तना को पंगु कर बैठा। वह मंत्रों के बाह्य अर्थ और शरीर से चिपटकर बैठ गया और स्वतंत्र चिन्तन एवं उन मंत्रों के व्यंगार्थों एवं आत्मा को समझने तथा ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इन दो भिन्न प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के दर्शन होते हैं कभी एक की प्रबलता हो जाती थी, कभी दूसरे की। विकास के साथ साथ इनमें स्वभावतः संघर्ष और विरोध हुआ। एक ने यज्ञ में पशु-बलि को प्रधानता दी, दूसरे ने यज्ञ का अर्थ आत्म-बलिदान किया और अहिंसा की जीवन-के रूप में प्रतिष्ठा की। इस प्रकार अहिंसा और हिंसा के समर्थकों का संघर्ष आरम्भ हुआ। यह संघर्ष बाद में इतना व्यापक होगया कि समस्त सम्प्रदाय

दो वर्गों में विभक्त होगया। ऋषियों में, तपस्वियों में भी हिंसा अहिंसा को लेकर दो सम्प्रदाय हो गये। इसीलिए वैदिक ऋचाओं में हम हिंसा और अहिंसा दोनों का समर्थन एक साथ पाते हैं। एक ओर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' कहकर जहाँ सर्व जीवों की हिंसा का निषेध है तहाँ 'सर्वमेधे सर्व हन्यात्' कहकर सर्वमेध यज्ञ में सब प्रकार के पशुओं की हिंसा का आदेश है। इससे प्रकट होता है कि ऋषिवर्ग भी दो सम्प्रदायों में विभक्त होगया था। विश्वामित्र और वशिष्ठ का संघर्ष इसका एक उदाहरण है। इस सम्बन्ध में सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि पशु-बलि का विरोध करने वालों में क्षत्रियों की प्रधानता थी। और पशु बलि के समर्थकों का नेतृत्व ब्राह्मणों तथा पुरोहित वर्ग के हाथ में था। ब्राह्मण काल में तो यह विरोध इतना उग्र होगया था कि कुरु पाञ्चाल प्रदेश के निवासियों को ब्रह्मावर्त्त के पूर्वीय प्रदेशों में जाने का निषेध किया गया। कुरुपाञ्चाल देश में पुरोहित वर्ग का प्राधान्य था, तथा काशी कोशल, मगध और विदेह में अहिंसक यज्ञ के समर्थक क्षत्रियों की प्रधानता थी। शतपथ ब्राह्मण में कुरुपाञ्चाल देश के पुरोहितों को इन प्रदेशों में न जाने का आदेश करते हुए कहा गया है कि पूर्व के आर्यों ने अपनी पवित्रता खो दी है, यज्ञ करने का वैदिक धर्म त्यागकर एक नूतन धर्म को ग्रहण किया है। जिसमें यज्ञ तथा पशुबलि का निषेध है। इसलिए उचित नहीं कि यहां के ब्राह्मण वहाँ जाकर अपमानित हों। यह एक उल्लेखनीय बात है कि आज भी इन पूर्वी प्रदेशों के हिन्दू, विशेषतः ब्राह्मण पश्चिमी भाग के ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक शाकाहारी है।

इन दो वर्गों एवं दलों का संघर्ष चलता रहा और उपनिषत्काल में पुरोहित वर्ग की प्रधानता नष्ट होगई - आत्मविद्या और तपस्या को उच्चतम मानवधर्म स्वीकार किया गया। कुरुपाञ्चाल के ब्राह्मण पूर्वी प्रदेशों की राजसभाओं में गये और उन्होंने नवीन धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इस नवीन धर्म में विश्वमैत्री एवं अहिंसा का जो तत्त्व आया उसी को जैन धर्म तथा बौद्धधर्म का आदि स्रोत कहना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य में शाश्वत प्रेम और शान्ति की जो प्यास थी उसी की पूर्ति एवं सिद्धि के प्रयत्न से एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ जिसका परवर्ती रूप श्रमण संस्कृति है। महावीर और बुद्ध दोनों ने इसी पूर्वीय प्रदेश में जन्म लिया। यहां एक और तथ्य की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के जितने अवतार माने गये, सबने प्रायः क्षत्रिय जन्म ग्रहण किया। बुद्ध भी क्षत्रिय राजकुटुम्ब में जन्मे। जैन धर्म में भी यही बात दिखाई देती है। ऋषभ से महावीर तक सभी तीर्थंकर उच्च क्षत्रिय राजकुटुम्बों में जन्मे।

इस विश्लेषण से दो निष्कर्ष निकलते हैं—

१ जैन धर्म, तत्त्वरूप में, वैदिक धर्म की भांति ही प्राचीन है,

२ वह वैदिक धर्म की अहिंसाप्रधान विचारधारा से निकला है। * उसे अवैदिक इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि उसने वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड का तिरस्कार करके उसकी प्राणभावना, उसकी आत्मानुसधान की वृत्ति का अधिक आदर किया।

बहुत दिनों तक यह भावधारा सैद्धान्तिक रूप में रही। परन्तु ईसा के जन्म के सात आठ सौ वर्ष पूर्व इसने सघटित रूप धारण किया। श्रमण सघ का जन्म हुआ। महावीर के समय में इसका सघठन और विस्तृत एव सुदृढ हुआ। बुद्ध के पश्चात् श्रमण सघ भी दो भागों (जैन और बौद्ध) में बट गया। दोनो की मूल भावना (अहिंसा जीवन धर्म है) एक ही थी। केवल व्यवहार विधि और व्याख्या में भेद था।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि श्रमण सघ, राजनीतिक दृष्टि से, लोक समूह की चेतना का प्रतिनिधि और प्रभुता प्राप्त वर्ग के प्रति विद्रोह का प्रतीक था। इसने धर्म को सरल किया, उसमें दया, प्रेम, अहिंसा समत्व की प्रतिष्ठा की। प्रचलित लोकभाषाओं को अपनाया और उन साधारण भाषाओं में जीवन सम्बन्धी जटिल और महत्वपूर्ण प्रश्नों की मीमासा की। इसने मानव-जीवन के आध्यात्मिक सत्यों और उन्हें प्राप्त करने के लिए सद्गुणों पर जोर दिया। इसने शुद्ध चिन्तन, शुद्ध विश्वास और शुद्ध कर्म पर जोर दिया। इसने जातियों एवं वर्णों के कठोर बन्धनों से लोगों को बाहर निकाला और प्रत्येक मनुष्य को आश्वासन दिया कि वह अपने कर्मों से, पुरुषार्थ से, शुद्ध एवं सच्चे जीवनविधान

* जैनधर्म जिस विचारधारा से निकला है, वह अहिंसाप्रधान विचारधारा वैदिक धर्म की थी, यह बात प्रमाणित करने के लिए विद्वान लेखक ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया जिस विश्लेषण का यह निष्कर्ष दिया गया है वह विश्लेषण भी अर्थात् भारतीय सभ्यता के आदिकाल की दो प्रवृत्तियों का क्षात्रप्रवृत्ति और ब्राह्मण सस्कृति का नामकरण भी सही शब्दों में नहीं किया गया है। यही कारण है कि आगे चलकर लेखक महोदय को स्वय बड़े आश्चर्य में पड़ना पड़ा है। लेखक कहते हैं—'सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि पशुबलि का विरोध करनेवालों में क्षत्रियों की प्रधानता थी, और पशुबलि के समर्थकों का नेतृत्व ब्राह्मणों और पुरोहित वर्ग के हाथ में था। मगर ऐसी कौन-सी घटना घटी कि क्षात्रप्रवृत्ति को ब्राह्मणों ने और ब्राह्मण सस्कृति को क्षत्रियों ने अपना लिया? वस्तुत यह परस्पर विरोधी कथन है। लेखक महोदय के कथन से साबित होता है कि भारतीय सभ्यता की आदिकालीन प्रवृत्तियाँ वह नहीं थीं, जो यहाँ बतलाई गई हैं। आदि काल से ही भारतीय सस्कृति में दो विचार धाराएँ प्रचलित अवश्य थीं, किन्तु वह बाह्याचार प्रधान क्षत्रियवृत्ति और आत्मसस्कार आदि प्रधान ब्राह्मण सस्कृति नहीं थीं, वरन् बाह्याचार प्रधान और आत्मसस्कार प्रधान विचारधाराएँ ही थीं, आगे चलकर वही क्रमश ब्राह्मणसस्कृति और श्रमणसस्कृति कहलाईं। ऐसी स्थिति में जैनधर्म को वैदिक धर्म की अहिंसा प्रधान विचार धारा से निकला कहना इतिहास के अनुकूल नहीं है।

—सम्पादक

मे सर्वोत्तम आध्यात्मिक मर्यादा प्राप्त कर सकता है। उसमें जटिलताओं एव कुटिलताओं के बन्धन से मानव को मुक्त करके तपस्या, त्याग और प्रेम व अहिंसा की ओर प्रेरित किया। अहिंसक होने के कारण स्वभावत उसमें जीवन में वैराग्य, तपस्या और अपरिग्रह पर जोर दिया और प्रत्येक वर्ग के लिए एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाली पर, सभव एव व्यावहारिक जीवन नीति का विधान किया। उसने सर्वकर्मक्षय द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष के जटिल रहस्यों में लोकजीवन को न डालकर उसके लिए सरल एव नीतिप्रधान जीवन व्यवस्था रची। उसने इस सत्य को अनुभव किया कि सर्वकर्मक्षय सामान्य मनुष्य की समझ में न आयेगा इसलिए बुरे कर्मों के त्याग का विधान उसके लिए किया। बुरे कर्मों को छोड़ने एव उसके लिए सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह को अपनाने से मनुष्य स्वयं शुद्ध अध्यात्म पथ एव लक्ष्य की ओर प्रभावित होगा। जब मनुष्य सत्य को अपनायेगा और असत्य का त्याग करेगा तो स्वत सर्वोच्च सत्य की अनुभूति उसमें जाग्रत होगी, इसीप्रकार जो अहिंसा को अपनायेगा वह बहुत से अकल्याणकर तथा मानव जाति के लिए हानिकर कर्मों से अपने को अलग रखेगा, अस्तेय को अपनाने से अन्य व्यक्तियों के अधिकार हड़पने से बचेगा तथा उपार्जन में भी दूसरा को हानि न पहुँचे इसका ख्याल रखेगा, ब्रह्मचर्य से शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक स्वास्थ्य कायम रखेगा, अपरिग्रह द्वारा समाज में विषमता उत्पन्न होने की क्रिया रुक जायगी।

जैनदर्शन के तत्त्वों की मीमांसा करने से अनेक गूढ सत्यों एव रहस्यों का ज्ञान होता है पर यहाँ मै उन जटिल प्रश्नों को न उठाऊँगा। उसके लिये विद्वानों की लेखनी है। मैंने तो विविध धर्मों के एक विद्यार्थी के नाते ये बातें लिखी हैं। मेरी समझ से जैनधर्म मानव हृदय के शाश्वत प्रेम तत्त्व का समाजीकरण है। और चूंकि प्रेम त्याग और वैराग्य के बिना टिकता नहीं, उसमें तो देना ही देना है, त्याग ही त्याग है, इसलिए अहिंसा और प्रेम के साथ त्याग और तप के प्रति गहरी निष्ठा इस धर्म में आई। सबसे बड़ी बात जो मैं देखता हूँ वह जैनधर्म का अनाक्रामक रूप है। इस विषय में वह अपने सहयोगी बौद्ध धर्म से भिन्न है। इसमें सहिष्णुता, सामञ्जस्य के तत्त्व बहुत अधिक हैं। इसने अन्य धर्मों द्वारा प्राप्त सत्यों का निषेध नहीं किया और न किसी ग्रथ विशेष में अपने को आबद्ध किया। इसने घोषित किया कि सच्चे वीतराग महात्माओं द्वारा प्रतिपादित शिक्षाएं ही धर्म का मूल है। जिसने सच्ची तपश्चर्या से इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त किया है, जिसका कर्मों के प्रति आग्रह नहीं रह गया है, जिसके हृदय में करुणा का स्वाभाविक उद्रेक है जिसके बन्ध नष्ट हो गये है और जो निर्ग्रन्थ हो गया है, उसकी बातों को मानना और उनका अनुगमन ही धर्म है। महावीर स्वय कहते है -

कुप्पवयणपासडी, सव्वे उस्मग्गपट्ठिआ ।
सम्भग्ग तु जिणक्खाव, एस मग्गे हि उत्तमे ।

भावार्थ यह है कि हिंसामय दूषित वचन बोलनेवाले सभी उन्मार्गगामी है। रागद्वेष रहित और आप्त पुरुषों का बताया हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है। और यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

उन्होंने गीता की अनाशक्ति भावना और साम्यत्व की भावना ग्रहण की। नीचे देखिए, मानो गीता ही बोल रही हो—

निम्ममो निरहकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निदापससासु, समो माणावमाणओ ॥

भावार्थ—महापुरुष वही है जिसने ममता, अहकार, सग, बडप्पन आदि का पूर्णत त्याग कर दिया है और जो प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखता है। (महापुरुष वही है) जो लाभ-हानि, सुख-दुख, जीवन-मरण, प्रशसा-निन्दा, मान-अपमान मे एक समान रहता है।

जैन धर्म ही ने जिस अहिंसा, अपरिग्रह और शान्ति का सन्देश मानव को दिया है, उनका महत्त्व आज तो और भी अधिक है स्वार्थ, धनलिप्सा, भौतिकता, और घोर हिंसा के इस युग में, जब मनुष्य ने मनुष्य के विनाश की क्रिया में दक्षता प्राप्त करली है, जब अधिपत्य की स्पृहा ही श्रेष्ठ सस्कृति की प्रतीक बन गई है तब महावीर की वाणी—

'हणन्त वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढई अप्पणो'

(वैर से वैर की शान्ति नहीं होती, अवैर से ही वैर जीता जाता है)

और

'लोभो सव्वविणासणो'

(लोभ ही सर्वनाश का मूल है)

अन्धकार में विद्युत् रेखा की भाँति चमक रही है। महावीर से गाधी तक भारत ने अहिंसा, प्रेम और शाश्वत शान्ति धर्म का सन्देश बराबर कायम रखा है। यही मानव जीवन का शाश्वत सन्देश है।

जैन आगम में प्रमाद का स्थान

लेखक—श्री बाबूरामजी सक्सेना एम. ए डी लिट्, प्रयाग

भारतीय दर्शन में, किसी सम्प्रदाय में प्रवृत्ति और किसी में निवृत्ति मोक्ष का साधन है। ईशोपनिषद् का यह आदेश—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी विषेच्छत समा ।

"कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे" तथा भगवद्गीता का यह उपदेश—

तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर ।

'इसलिए निसंग होकर निरन्तर करने योग्य काम कर।" प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करते हैं। भक्ति मार्ग भी प्रवृत्ति का ही एक निर्दोष रास्ता है। निवृत्ति का अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतिपादन जैन आगम में मिलता है जीव और अजीव का भेद समझ लेने पर और यह ज्ञात हो जाने पर कि पृथिवी आदि महाभूतों में भी जीव का अस्तित्व है, विवेकशील मनुष्य के लिए समस्त कर्म के त्याग के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। फिर तो यदि मनुष्य कर्म करता है तो केवल प्रमाद के वश में पड़कर। इस प्रमाद का बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन आचाराङ्ग-सूत्र में इस प्रकार कराया गया है—

वसे पमत्ते अहो य राओ परितप्पमाणे

कालाकालसमुट्ठाई सजोगट्ठी अत्थालोभी आलुम्पे सहसाकारे विनि-

निट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो-पुणो

और—

इह जे पमत्ता से हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पिता विलुम्पिता

उद्दवेत्ता उत्तासइता 'अकडं करिस्सामि' त्ति मन्नमाणे

[प्रमादग्रस्त जब दिनरात दुखी रहता है। समय कुसमय उठनेवाला, प्रयोजन रूपी बन्धन में लगा हुआ, धन लोलुप, लूट-खसोट करनेवाला, बलात्कार से काम करनेवाला, विविध चीजों में चित्त फसाए हुए (वह प्रमत्त) बार बार (अन्य जीवों का) शस्त्र 'हिंसक' बनता है (और इस कारण भवसागर को पार नहीं कर पाता)

इस संसार में जो प्रमाद में फँसा है वह (दूसरों को) मारता है, काटता है, तोड़ता है, लूटता है, नाश करता है, डराता है, धमकाता है। समझता है कि मैं ऐसी बात कर सकूगा जो अभीतक किसी ने नहीं की।

यह प्रमाद है। यही आस्रव जो हमें यहां बाँध रखता है। इसको ठीक ठीक स्वरूप देख लेने से और देखकर इसे छोड़ देने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। इसलिए विवेकी साधक को प्रमाद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

जैन संस्कृति की अमर देन

अ
हिं
सा

लेखक

कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज



जैन संस्कृति की संसार को जो सब से बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, एक दिन जैन संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा काण्ड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन संस्कृति का महान सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आसपास के संगी साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाएँ, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है या जिनको देना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करदे। जब तक मनुष्य समाज में अपनेपन का भाव न पैदा करेगा, अर्थात् दूसरे उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा तबतक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक बार नहीं, हजार बार कहा जा सकता है, कि नहीं हो सकता, एक दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली सा ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाय तो प्रकृति दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लाया हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होनेवाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है।

उनका आदर्श है कि प्रचार के द्वारा विश्वंभर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है दूसरों के सुखसाधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दु साहस करना। हा तो जबतक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है तबतक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। ज्योंही वह अपनी सीमा से हटकर आसपास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है बाढ़ का रूप धारण करती है तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य आ खड़ा होता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सबके सब मनुष्य अपने अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं तबतक कुछ अशान्ति नहीं, लड़ाई झगड़ा नहीं। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहां कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पांचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना। जैन संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का संग्रह कर रखना जैन संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण! दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह वृत्ति में ही ढूंढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति दोनों पर्याय शब्द हैं।

आत्मरक्षा के लिये उचित प्रतिकार-साधन जुटाना, जैनधर्म से विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संग्रहीत शक्ति, अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुख बनायेगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों में जो शस्त्र सन्यास का आन्दोलन चला था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जारहा रहा था, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून के द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े बड़े राजाओं को जैन धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्र संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है, प्रभुता की लालसा में आकर

वह कहीं न कहीं किसी पर चढ दौड़ेगा और मानव संसार में युद्ध की आग भडका देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अन्य अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध के समर्थन में लगते आए हैं, युद्ध में मरने वालो को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंग बताकर उसके लिये सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कट्टर रहे हैं। "प्रश्न व्याकरण" और "भगवती सूत्र" युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं? यदि थोड़ा सा कष्ट उठा कर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध विरोधी विचार सामग्री प्राप्तकर सकेंगे आप जानते हैं मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कट भक्त था। औपपातिक सूत्र में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न जल ग्रहण करना कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप कर्मों का भंडा फोड़ कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का कैसे समर्थक कर सकते थे।

जैन तीर्थंकरों की अहिंसा का भाव, आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता रूप भी न था। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार, विश्वबन्धुत्व करते थे। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरे को जीने दो,-जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था। उनका आदर्श था-दूसरों को जीने में मदद करो, बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो वे उस जीवन को कोई महत्व न देते थे, जो जन सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एक मात्र भक्तिवाद के अर्थ शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता हो। भगवान महावीर ने तो एक बार यहा तक कहा था कि "मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन दुखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है मैं उनपर प्रसन्न नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं मैं तो उन पर प्रसन्न हूँ जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है— प्राणिमात्र को सुख, सुविधा और आराम पहुँचाना।" भगवान महावीर का यह महान ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है। यदि हम थोड़ा बहुत सत्प्रयत्न करना चाहें ऊपर के सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हम में से कोई देखना चाहे तो उत्तराध्ययन-सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि वृत्ति में देख सकते हैं।

अहिंसा के अग्रगण्य, सन्देश-वाहक भगवान् महावीर हैं। आज दिन तक उन्हीं के शिष्यों का गौरव गान गाया जारहा है आप को मालूम है, आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महान अन्धकार पूर्ण युग माना जाता है । देवी देवताओं के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जातीथीं, मांसाहार और सुरापान का दौर चलताथा, अस्पृस्यता के नामपर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में ।पिस रहे थे, स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था।भगवान महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया जिससे भारत की काया पलट होगई। मनुष्य दानवी भावों से हट कर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु सब के प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे हैं। जल, थल, आकाश अभी अभी खून से रंगे जा चुके हैं और भविष्य में इस से भी भयंकर रंगने की तैयारियाँ होरही हैं। तीसरे महायुद्ध का दु स्वप्न अभी देखना बंद नहीं हुआ। परमाणु बम के आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाव चक्कर काट रहे हैं। अस्तु, आवश्यकता है आज फिर जैन संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान महावीर के, जैनाचार्यों के के 'अहिंसा परमो धर्म' की। मानव जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एक मात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है, और नहीं "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्"—समन्तभद्र।

जैनधर्म का अहिंसा तत्व

लेखकः— मुनि श्री छोगालालजी म० आत्मार्थी



य पाठको ! संसार के समस्त धर्मों में सार्वभौम, सर्व हितैषी जैन धर्म है। उसके सिद्धान्त अन्य धर्मों से उदार, विशाल प्रामाणिक एवं सच्चे हैं। उन्हीं सिद्धान्तो में एक प्रधान सिद्धान्त अहिंसा है। इसी अहिंसा के उपदेष्टा त्रिशलानन्दन भगवान महावीर थे। उनके समकालीन महात्मा बुद्ध ने भी अहिंसा का ही प्रचार किया था। लेकिन उनकी मौजूदगी में तथा उनके स्वर्गवासी होने पर इस अहिंसा में विकृति पैदा हो गई। लेकिन भगवान महावीर के निर्वाण को २४७२ वर्ष हो जाने पर भी उनकी अहिंसा का प्रचार और पालन पूर्ण रूप से हो रहा है। इसीसे ज्ञात होता है कि इस धर्म के सिद्धान्त कितने महत्वपूर्ण हैं।

भगवान् महावीर के जन्मकाल में वैदिक धर्म का प्रचार था। वैदिक धर्म के विधान अनुसार धर्म के नाम पर लाखों निरपराध पशु तलवार की धार उतार दिये जाते थे। इन मूक पशुओं के आर्त्तनाद से सारा संसार त्राहि त्राहि पुकार उठा। उनके करुणाक्रन्दन से आकाश फटने लगा। ऐसी अवस्था में आवश्यकता थी एक धर्मोपदेशक की जो इनके प्रति करुणा प्रदर्शित करे, हिंसावाद के आगे अहिंसा का झंडा फहरावे। अतः अहिंसा प्रचार का सुअवसर आया जान महावीर प्रभु ने अहिंसा का झंडा रोपा, और स्वयं कष्ट उठा कर भी जीवों को निर्भय किया।

आज संसार में अहिंसा के स्थान पर हिंसा का अखंड राज्य है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को, एक जाति दूसरी जाति को, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को खाने में संलग्न है। धनी निर्धनों का खून चूस रहे हैं, साहूकार, कर्जदार की गुदड़ी खींच रहा है। पशु-पक्षियों को तलवार के घाट उतारना मामूली बात है। प्रति दिन लाखों पशु मांसाहार के लिये मारे जाते हैं। जब कि भारत में अनाज, दूध-दही, मेवा आदि मौजूद हैं, फिर भी इन तृण भक्षी पशुओं की गर्दन पर छुरी चलाना क्या अन्याय नहीं है? इसी प्रकार संसार में चारों ओर हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। वैज्ञानिक लोग अपना प्रभाव जमाने के लिये परमाणु बम जैसे घातक, नर संहारक शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने में जुटे हैं, फिर इसके आगे अहिंसा की क्या बिसात है? उसका वर्णन करना तो नक्कारखाने में तूती की आवाज के समान है।

उस समय भी इसी प्रकार हिंसा का बाजार गर्म था "यज्ञ के लिये ही पशुओं की सृष्टि हुई है, यज्ञ में मारे जाने वाले पशु स्वर्ग को जाते हैं वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं होती है" इस प्रकार से लोगों ने धर्म का ढोंग रचकर कुटिल सिद्धान्तों की रचना की थी। इसीसे उनकी स्वार्थ वासना पूर्ण होती थी। कहां तक लिखें, उस समय नरमेध, गोमेध, अश्वमेध आदि यज्ञ होते थे। उन्हीं के द्वारा देवताओं को तृप्त किया जाता था। जिसको सुनकर आज भी कान खड़े हो जाते हैं। ऐसे भयंकर समय में भगवान् महावीर ने अहिंसा की ध्वजा फहराई। और उन्होंने उसकी आशातीत उन्नति की। लोगों को ख्याल होगा कि भगवान ने जोर जुल्म अत्याचार के द्वारा हिंसा बन्द की होगी, पर बात यह नहीं है। उन्होंने स्वयं कष्ट उठाकर प्रेम पूर्वक उपदेश दिया। जनता ने भगवान् के उपदेशों को सहर्ष स्वीकार किया यहीं से अहिंसा की नींव सुदृढ़ हुई।

—:अहिंसा परमो धर्मः—

आजकल कोई अहिंसा देवी के पुजारी नहीं हैं। क्या इससे अहिंसा की महत्ता, उसका गौरव एवं प्रतिष्ठा कम हो सकती है? कभी नहीं, पर "अहिंसा परम धर्म है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। संसार का ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसने अहिंसा को स्थान न दिया हो। क्या ईसाई, क्या मुसलमान क्या बौद्ध सभी ने

अहिंसा को धर्म माना है। संसार में अहिंसा के समान कोई धर्म का श्रेष्ठ अंग हो ही नहीं सकता। प्रकृति ने जीव धारियों को उत्पन्न किया, फिर हमें क्या अधिकार है कि उनके प्राण लें, उनकी हत्या करें। सचमुच प्राणियों का वध करना प्राकृतिक नियमों का भंग करना है मनुष्यता की दृष्टि से इससे घृणित और क्या कार्य हो सकता है कि हम विचारे मूक प्राणियों को मारें, जो हमें किसी प्रकार की हानी नहीं पहुँचाते, कुछ भी कष्ट नहीं देते हैं? अतः हिंसा के समान घोर पाप क्या हो सकता है?

अहिंसा आत्मा के उत्थान का साधन है। अहिंसाव्रती की आत्मा निरंतर उच्चता की ओर अग्रसर होती है। यदि अहिंसावादी बाह्य क्रिया-कांड नहीं भी करे तो भी वह पूज्य है, आराध्य है। अहिंसा से पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, मारकाट, लड़ाई झगड़ों का अन्त हो जाता है। अहिंसावादी का संसार में कोई शत्रु नहीं होता, यदि कोई उसे कष्ट देता है तो वह शान्तिपूर्वक सह लेता है।

अहिंसा, जीवन है, जीव-हिंसा, मृत्यु है। अहिंसा का शस्त्र अजेय है, अहिंसा, बिना प्राणी संसार समुद्र में गोता लगाता रहता है। अहिंसा, शान्ति देने वाली है। पर खेद है कि आजकल लोगों ने अपने क्रियाकांडों एवं दैनिक कार्यों को हिंसामय बना लिये हैं। ऐसे हिंसा-जन्य कार्डों से जीव दुर्गति में जाता है। अहिंसा परब्रह्म स्वरूप है। वह अपने उपासकों को भी अपने रूप में बना लेती है। अतः कहा गया है कि अहिंसा ही परम धर्म है। यथा—

'धम्मो मंगल मुक्किठ्ठं अहिंसा संजमो तवो'।

अहिंसा का पालन एक प्रकार की रसायन है। जैसे रसायन का सेवन करने वाला चिरंजीवी बन जाता है, उसी प्रकार इस अहिंसा रूपी रसायन का सेवन करने वाला सदा के लिये अजर-अमर हो जाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

हिंसा का स्वरूप—हिंसा का लक्षण मालूम न हो जाय तब तक अहिंसा की व्याख्या अधूरी एवं पंगु है।

जैन सिद्धान्त में हिंसा का लक्षण "प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमाद के वशीभूत होकर द्रव्य और भाव प्राणों को नष्ट करना हिंसा है, यह किया गया है। इस प्रमाद योग रूप विशेषण से स्पष्ट है कि जहां पर प्रमाद योग नहीं है, किन्तु जीवों के प्राणों का घात होता है वहां पर हिंसा, हिंसा नहीं कहलाती है। इसके विपरीत जहां पर प्राणों का घात नहीं भी है किन्तु प्रमाद योग विद्यमान है, वहां पर हिंसा जन्य पाप अवश्य लगता है। केवल किसी जीव का मारा जाना अथवा उसके अंगों का भंग करना मात्र ही हिंसा नहीं है किन्तु भाव हिंसापूर्वक की गई द्रव्यहिंसा हिंसा में गर्भित है। अतः सिद्ध है कि हिंसा हिंसाकर्त्ता के भावों पर अवलम्बित है यदि उसके भाव अच्छे हैं, उदार हैं, फिर भी उसके प्रमाद से हिंसा हो जाय तो वह उस पाप का भागी नहीं होगा। क्योंकि उसके भाव हिंसा

करने के नहीं थे जैसे एक डाक्टर ने रोगी की भलाई सोचकर चीरा दिया। डाक्टर का भाव रोगी को जल्दी अच्छा करने का था। किसी प्रकार का स्वार्थ या प्रमाद नहीं था। परन्तु दैवयोग से आयु के अभाव या चीरे के आघात से वह मर गया तो उस पाप का भागी डाक्टर नहीं है। क्योंकि उसके भाव अच्छे थे, मारने के नहीं थे।

दूसरे डाक्टर के पास रोगी आया। 'यह धनी है' ऐसा डाक्टर को मालूम हो गया। अत उसने रोगी की अच्छी तरह परीक्षा कर धन ऐंठने की गरज से अंड-बंड दवा दे दी। किन्तु उसके रोग का क्षय होने या आयुष्य प्रबल होने से वह बच गया, चंगा हो गया। रोगी डाक्टर का बड़ा उपकार मानता है। परन्तु डा० सा० तो हिंसा के भागी हो चुके। क्योंकि उन के विचार दुष्ट थे। अत इन दोनों उदाहरणों से सिद्ध है कि हिंसा का पाप लगना या न लगना भावों पर निर्भर है। क्योंकि बिना भावों के वध हो नहीं सकता। सारांश यह है कि दशों द्रव्य प्राणों को नाश करना और भाव प्राणों को दुखाना हिंसा है। हिंसा की तराजू भावों पर झूल रही है।

उपरोक्त भावों के साथ ही बाह्य-प्रवृत्ति का भी विचार करना आवश्यक है। जो पुरुष दौड़कर बिना देखे चलने लगे, बिना देखे भक्ष्याभक्ष्य खाने लगे, बिना छना पानी पीना, बिना देखे वस्तुओं को उठाना एवं रखना, इस प्रकार के कार्य करके कहना कि "मैं अपने भावों को ठीक रखूंगा, तो मुझे हिंसा नहीं लगेगी, चाहे मेरी बाह्य-प्रवृत्ति कैसी भी क्यों न हो। ऐसा कथनशील व्यक्ति बिना बाह्य प्रवृत्ति में जीव रक्षा का विचार किये जीव हिंसा से छूट नहीं सकता है। इसलिये बाह्य प्रवृत्ति को संयमित बनाने की अत्यावश्यकता है।

हिंसा के लिये गांधीजी लिखते है कि "बुरे विचार मात्र हिंसा है, उतावली (जल्दबाजी) हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है, जगत् के लिये जो वस्तु आवश्यक है उस पर कब्जा रखना हिंसा है।

पूज्य श्री जवाहरलालजी म०सा० ने कहा है कि हिंसा वह कृत्य कहलाता है कि जिसके द्वारा किसी प्राणी के जीवन का अन्त कर दिया जाय। आत्मा के पास आयुष्य प्राण है, उस को अकाल में जुदा कर देना, यानी आत्मा से प्राणों को जुदा कर देना, इसी का नाम हिंसा है। आत्मा के पास आयुष्य प्राण होते हुए भी छुरी, तलवार, आदि से दु ख पहुँचा कर शरीर का अन्त कर देना हिंसा है।

हिंसा के भेद— हिंसा के चार भेद हैं – १ संकल्पी, २ विरोधिनी, ३ आरंभिणी और ४ उद्योगिनी। इसके सिवाय मानसिक, वाचिक और कायिक भी भेद है। परन्तु इनका समावेश उक्त चारों भेदों में भी हो सकता है।

१ संकल्पिनी-हिंसा— "मैं इस जीव को मार डालूंगा, इसे दु ख पहुँचाऊँगा" इस प्रकार हिंसा के अभिप्राय से की गई होने से संकल्पिनी कहलाती है।

२ विरोधिनी हिंसा— अन्य के द्वारा आक्रमण या दुःख देने के अभिप्राय से हमला किये जाने पर अपनी रक्षा करने में यदि दूसरे का वध हो जावे तो वह विरोधिनी हिंसा है। "संकल्पी हिंसा" में मारने वाले के भावों में क्रूरता भरी हुई है, विरोधिनी हिंसा वाले के भावों में वैसी क्रूरता नहीं है परन्तु रक्षा का प्रयत्न मात्र है।

३ आरम्भी हिंसा— घर के कामों के करने में जो जीवों की हिंसा होती है वह अनिवार्य है। पानी छानना, चौका, चूल्हा, बुहारी झाड़ना, कपड़े धोना, रोटी बनाना आदि कामों में जीवों की विराधना हो जाती है। हाँ यह अनिवार्य हिंसा है, फिर भी यत्न रखने से अधिक बचाव हो सकता है। यदि गृहिणियाँ इस हिंसा से बचना चाहें तो उन्हें अनर्थदण्ड का स्वरूप समझा देना होगा, फिर वे स्वयं यत्न करना सीख जावेंगी।

४ उद्योगिनी हिंसा— किसी प्रकार के व्यापार में, अनाज भरने में, मिल खोलने में, दुकान करने में, खेती आदि करने में जीवों की हिंसा होती है। वह उद्योगिनी हिंसा है। इसमें भी विचार रखने से बहुत कुछ जीव वध रुक सकता है। लेकिन आजकल व्यापार आदि में यत्नाचार उठ गया है और जीव हिंसा के साथ भाव हिंसा की बहुलता हो गई है। इन हिंसाओं में संकल्पी हिंसा घोर मानसिक हिंसा है और वह श्रावक के लिए अवश्य ही त्याज्य है। इसके विषय में तंदुल मच्छ का उदाहरण दिया जाता है। यद्यपि तंदुल मच्छ शरीर से कुछ भी कार्य नहीं करता है, वह केवल मन में हिंसा की भावना मात्र ही करता है, फिर भी सातवें नरक में जाकर सागरों तक दुख उठाता है। क्योंकि उसने मानसिक हिंसा की है। हिंसा जन्य कुविचार अर्थात किसी की निंदा करना, अपमान करना, आदि से है जो हिंसा में ही गर्भित है।

अहिंसा का लक्षण:-मन, वचन, काया, कृतकारित अनुमोदना से किसी भी जीव को कष्ट न देना, कटु वचन न कहना। अर्थात् द्रव्य और भाव प्राणों का नाश न करना अहिंसा है। जैसे कांटा लगने से हमको दुःख होता है वैसे ही समस्त प्राणियों को होता है। अतः किसी को दुःख न देना अहिंसा है। सुख शांति-पूर्वक स्वयं जीना, दूसरों को जीने देना और जीने वाले का भला चाहना अहिंसा है। अहिंसा को दया भी कहते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है कि—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान॥

सत्यादि अहिंसा में ही गर्भित है—अहिंसा समुद्र है। उसमें सत्यादि नदियां आकर मिल जाती हैं। अतः यदि सूक्ष्म रीति से विचार किया जाय तो

अहिंसा में सभी धर्म कर्म गर्भित है। उससे भिन्न नहीं हैं। अहिंसा व्रत है। सत्य अचौर्य आदि उसकी शाखायें है। इसमें किसी को विरोध नहीं है। यथार्थ में सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसा के रूप ही हैं, परन्तु शिष्यों को समझाने के लिये पृथक विवेचन किया है। यदि इस प्रकार का विवेचन कर अहिंसा में ही गर्भित कर देते तो समझने एव पालन करने में क्लिष्टता प्रतीत होती है।

सत्य— झूठ बोलने का त्याग करना है। क्यों? झूठी बात कहने से आत्मा को दु ख होता है; सत्य बोलने से दु ख नहीं होता है, इसी दु ख का नाम हिंसा है। इसीलिये कहा गया है कि किसी दोष युक्त सत्य बात को भी प्रगट नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से दोषी की आत्मा को दु ख होता है, इसी दुख का अभाव अहिंसा है।

महात्मा गांधी ने लिखा है कि "मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता के लिये इसमें स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है, लेकिन कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता है।"

अहिंसा में प्रेम की आवश्यकता—संसार में प्रेम की महिमा अचिन्त्य है। प्रेम ही के कारण माता बच्चे के लिये नाना कष्ट सहकर उसका पालन करती है। आप-दुखी होकर बालक को सुखी रखती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य का प्रेम समस्त प्राणियों के प्रति हो जाय तो हिंसा की जड़ सदा के लिये कट जाय। अर्थात् समस्त जीवों को अपने समान देखना अहिंसा का प्रेम है। प्रेम का अभाव होने से अहिंसा का अभाव हो जाता है, बिना प्रेम के अहिंसा का पालन असंभव है। इस लिये समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम का संचार अवश्य करना चाहिये। जो समस्त प्राणियों के साथ सच्ची सहानुभूति एव प्रेम पूर्ण व्यवहार करता है वही सच्चा अहिंसक है।

प्रेम के होने पर भी यदि बुद्धि न हुई तो वह प्रेम भी किसी काम का नहीं। प्राय: देखा जाता है कि हिंसा प्रमाद और अज्ञान के कारण होती है। जिनमें कुछ बुद्धि का बल है वे हिंसा को दु खदायी समझ कर दूर रहते हैं और प्राणियों के प्रति प्रेम भी रखते हैं इसीसे बुद्धि की आवश्यकता है। इससे सिद्ध है कि अहिंसा के पालन में सच्चा प्रेम और निष्कपट बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है।

अहिंसा की अव्यवहारिकता—किसी का मत है कि अहिंसा व्यवहार के योग्य नहीं है। यह उनका कहना उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि विश्व में शान्ति स्थापित करने के जितने भी बाधक कारण हैं उनका निराकरण अहिंसा द्वारा हो जाता है। वर्तमान में यदि अहिंसा को मान लिया जाता तो इतना नरसंहार होता ही नहीं, कारण कि यह समस्त दुर्भावनाओं को हटाकर आपसी प्रेम स्थापित करता है, फिर लड़ाई का काम ही नहीं रहता है।

अचौर्य—चोरी न करना। मनुष्यों को धन ग्यारहवा प्राण कहा गया है। धन के चले जाने पर कई लोगों के धन के अभाव में प्राण भी चले जाते हैं। देखिये जब हमारा एक पैसा गुम जाता है तब कितना दुख होता है। फिर जिसका पूरा या आधा धन जाये तो उसकी क्या बात कहना है? अतः अहिंसा के पालनार्थ चोरी का त्याग करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य—विकार युक्त न होना। वीर्यभाव से आत्मा कमजोर हो जाती है। अन्ततः विषयी पुरुष कालग्रसित हो जाता है। यदि काल-कवलित न भी हो तो नाना रोगों से युक्त होकर सदैव दुखी रहता है। इसलिए अहिंसा के लाभार्थ ब्रह्मचर्य का पालना श्रेष्ठ है।

अपरिग्रह—इच्छाओं का रोकना। इच्छाओं का बढाना ही दुःख का कारण है। क्यों? इच्छाओं की बाढ आती रहती है, उनकी पूर्ति होना कठिन है। उनकी पूर्ति न होने से जीव दुखी होता है। अतः अहिंसा की रक्षा के लिये अपरिग्रह होना श्रेयस्कर है।

इसी अहिंसा में तप, संयम, शील, त्याग, क्षमा, दान, अस्वाद, आदि भी है जो पूर्ण अहिंसावादी हैं, वही सभी धर्मांग सपन्न हो सकता है।

अहिंसा का विकास क्रम—प्रथम ही मनुष्य के साथ प्रेम एव दया का बर्ताव करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य हमारी जाति है, मनुष्य मात्र को हम सुखी देखना चाहते हैं। यह कितने खेद की बात है कि हम अपनी मनुष्य जाति पर दया नहीं करते है पर कीड़ी नगरी पर दया करते हैं। जो मनुष्य मात्र पर दया करना जानता है, वह सभी प्राणियों पर दया कर सकता है। इसलिये पहले मनुष्य मात्र पर दया करना सीखना चाहिए, पीछे अन्य प्राणियों पर। क्योंकि मनुष्य, मनुष्य के साथ ही झूठ बोलता, चोरी करता, व्यभिचार करता, दगाबाजी और मुकद्दमेबाजी करता है। ये कार्य पशुओं के साथ नहीं हो सकते हैं। इसलिये अहिंसा का क्रम मनुष्य से शुरू कर के क्रमशः नीचे उतारना चाहिए पीछे सब पर दया करना चाहिए। मेरे लिखने का अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य जीवों पर दया की ही नहीं जावें। पर पंचेन्द्रिय की रक्षा कर चोइन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय फिर एकेन्द्रिय की रक्षा करनी चाहिए। ऐसा ही वीर प्रभु का उपदेश है।

अहिंसा और कायरता—अहिंसा और कायरता का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों में जमीन आसमान का फर्क है। यदि कायरता अहिंसा के होने से होती है तो हिंसक जीवों को निर्भय होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। इससे विपरीत हमने देखा है कि कई हिंसावादी डरपोक एव कायर है और कई अहिंसावादी निडर हैं। अतः यह नियम नहीं है कि अहिंसा ही मनुष्य को कायर बनाती है।

जब तक भारत में अहिंसा का प्रचार और पालन पूर्ण रूपमें होता रहा, तब तक सुख और शान्ति का साम्राज्य भी रहा। अशोक, चन्द्रगुप्त आदि राजा सभी

जैन होकर अहिंसावादी थे । सम्राट अशोक ने तो युद्ध के दृश्य को देखकर युद्ध न करने का ही निश्चय कर लिया था। चन्द्रगुप्त ने तो युद्ध करके भारत की शान रखी, सेल्यूकस जैसे को हराकर उसकी कन्या को अपनी रानी बनायी थी। इस बात का साक्षी उस समय का इतिहास है कि उनके समय में भारत गारत नहीं हुआ था। इससे विपरीत उन्नत एवं स्वाधीन, धन-धान्य से परिपूर्ण था। इससे यह बात सिद्ध है कि अहिंसा से भारत पराधीन नहीं हुआ, न अहिंसा की मर्यादा से भारत का राज्य विदेशियों के हाथ में गया। किन्तु इसका प्रधान कारण तो राजाओं की राज्य करने की शक्ति का अभाव एवं विलासिता है। यदि सच पूछो तो भारतवासियों की फूट ने ही भारत को गारत किया है। और जबतक भारत में फूट रहेगी, तबतक भारत का उत्थान असंभव है। फूट मिटाने के लिये प्रेम की, अहिंसा की आवश्यकता है। अतएव भारत में पुनः स्वतंत्रता की लहर पैदा करने के लिये अहिंसा का पालन होना चाहिए। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने इसी अहिंसा द्वारा भारत को स्वाधीन करने का प्रण किया है। उनने अहिंसा पालन पर पूरा जोर दिया है। और आशा भी है कि वे अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त भी कर सकेंगे। इसी अहिंसा शस्त्र से वैरियों को भी नीचा दिखाया जा सकता है।

प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के पास कई अक्षौहिणी सेना थी। उसी के बल पर उनने भारत के छः खंडों पर विजय पाई थी। फिर भी वे अहिंसा के आराधक मोक्षगामी पुरुषोत्तम एवं गृह वैरागी थे।

यदि कोई सबल मनुष्य किसी निर्बल को सता रहा है और वह निर्बल होने से कुछ नहीं कर सकता है, परन्तु उसने दुःखी होकर लोगों को दिखलाने के लिये कहा कि "मारो चाहे काटो, मैं तो अहिंसा का पालन करूंगा, तो यह कायरता है। यदि दोनों समान बलशाली हैं, दोनों आपस में लड जाते हैं, उनमें से एक चुपचाप बैठ कर दूसरे के अत्याचारों को सहन करता है और उल्टे कहता है कि आपको तकलीफ हुई होगी, क्षमा करना तो वह पक्का अहिंसावादी है। सबल और निर्बल में अहिंसा का प्रकाश रहता है। अतः सिद्ध है कि अहिंसा कभी भी कायरता नहीं सिखाती है, किन्तु वीरता का पाठ पढ़ाती है। जैन धर्म के ऊपर अज्ञानता से ही ऐसा आक्षेप किया जाता है जो निर्मूल है। क्रोध कभी क्रोध से शान्त नहीं होता किन्तु क्षमा से शांत होता है। इसी तरह ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण प्रेम, प्रमोद आदि से नष्ट होते हैं। अतः यह निश्चित है कि पूर्ण अहिंसा पालन ही विश्व में स्थायी शान्ति का एकमात्र व्यवहारिक उपाय है।

मांसाहार– संसार में अनंत जीवधारी हैं, वे सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, यहां दुखी जीव भी मरना नहीं चाहता है। यहां तक देखा गया है कि यदि उसके सामने मरने का नाम लो तो वह बड़ा दुखी होकर विलाप करने लगता है।

यह बात न्यायसिद्ध है कि प्रकृति की सृष्टि में स्वतन्त्रतापूर्वक जीने का सबको समानाधिकार है। किसी को दुःख देने या मारने का अधिकार किसी को नहीं है। यहां तक कि किसी से कटुक वचन बोलना भी न्याय विरुद्ध है। यदि अन्यायपूर्वक व्यवहार करता है तो मर्जी आप की है। अतः कहना पडता है कि जैसे हमको अपने प्राण प्यारे हैं, वैसेही दूसरों को भी प्राण प्यारे हैं। अतः उन बेचारे, मूक, असहाय प्राणियों को मार कर उदरस्थ करना घोर अन्याय है।

रचना—मनुष्य के शरीर की रचना फलाहारी जीवों जैसी है। उनकी पाचन शक्ति में मांस पचाने का गुण नहीं है, फल पचाने की शक्ति है। बहुधा देखा जाता है कि जो लोग मांस खाते हैं उनको दो तीन दिन तक भूख नहीं लगती, यही पाचन शक्ति की कमजोरी है। अतः शारीरिक रचना से भी मनुष्य का मांस खाना योग्य नहीं है। दूसरे मांसाहारी जीवों के हाथ पैर में नख होते हैं उनकी सूरत भयंकर होती है उनके शरीर से बदबू आती है, वे मनुष्य के समान पानी नहीं पी सकते हैं। चप-चप करके पानी पीते हैं। यह भेद शाकाहारी और मांसाहारी जीवों में है।

कोई कहते हैं कि मांसाहार के बिना मनुष्य बलवान नहीं हो सकता। यह सर्वथा असत्य है। गाय घास खाकर मीठा दूध देती है जिससे शरीर पुष्ट और बलवान् होता है। बैल भी घास खाकर मनों बोझ ढो सकता है तथा ताकतवर होता है। अतः केवल मांस खाने से शरीर पुष्ट होता है, यह बात सर्वथा असंभव सी प्रतीत होती है।

बन्दर फल खाकर ही हृष्ट-पुष्ट रहता है। इधर-उधर घूमने-फिरने वाले बन्दर एवं तोते, वगैरह पक्षी भी हमेशा निरोग एवं हृष्ट पुष्ट रहते हैं। इसके विपरीत मांसाहारी दुर्बल होते हैं, उनका शरीर सूख कर काटा हो जाता है क्योंकि मांस से गर्मी पैदा होती है। यह तामसिक भोजन है, इससे वीर्य संबंधी भयंकर बीमारी प्रमेह आदि हो जाती है। कई मांसाहारी बीमार हुए, उनका मांस खाना जब डाक्टरों ने बन्द कराया तब कहीं वे अच्छे हुए। मांस खाने से, जो बीमारी उस प्राणी को होती है वही बीमारी खाने वाले को हो जाती है। अतः स्वास्थ्य के लिहाज से भी मांस खाना योग्य नहीं है।

कीमत की गरज से भी मांस महंगा पड़ता है, जितना कि अन्नाहार नहीं। फिर भी मांसाहार, अन्नाहार या फलाहार के समान शरीर को पुष्ट नहीं कर सकता है।

कई लोग देवी देवताओं को पशु बलि चढाकर अपने पुत्र पुत्रियों की कुशल चाहते हैं, यह बात भी अनुचित सी प्रतीत होती है। क्योंकि जैसे हमारी एक अंगुली में जो पीड़ा है वह दूसरी अंगुली में नहीं आ सकती है, वैसे ही बलि से पुत्रादि की कुशलता नहीं हो सकती। यह तो अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। इसमें देवी-देवता कुछ नहीं कर सकते हैं। मेरी राय में यह सब जिह्वा की लोलुपता है। दूसरे देवी को माता कहते हैं, अतः छोटे बड़े सभी जीव मात्र उसके पुत्रवत हैं।

फिर वह दयालु माता एक को मारकर दूसरे को कैसे सुखी कर सकती है। यदि करती है तो वह दयालु माता नहीं है। देवी अपने मुख से यह कभी नहीं कहती है कि तुम मुझे बलि चढाओ। उसके भक्त अपनी वासना पूरी करने के लिये बलि चढ़ाते हैं और उस दयालु देवी को बदनाम करते हैं। यह सब लोगों का ढोंग मात्र है, कर्मवाद को नहीं समझने का फल है।

आज विदेशियों ने भी मांसाहार को सर्वथा त्याज्य सिद्धकर दिया है। और शक्ति-अश मांसाहार की अपेक्षा फलाहार में अधिक बताते हैं। यह बात सत्य भी है।

यूरोप में एक बार परीक्षा के तौर पर दो बालक एक साथ रखे गये थे। उनमें से एक बालक मांसाहारी और दूसरा फलाहारी था। उन दोनों की छै माह बाद परीक्षा की गई तो फलाहारी बालक बलवान् एव हट्टा-कट्टा, वजन में अधिक निकला इससे भी सिद्ध होता है कि मांसाहार मनुष्य के लिये उपयोगी नहीं है। इसलिये देश, धर्म एव धन के लिहाज से मांसाहार को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

सामाजिक-हिंसा— विचार करने से हृदय विदीर्ण हो जाता है, लेखनी आगे बढ़ने से रुकती है। देखिए, अहिंसा के पालकों के द्वारा कैसे २ अन्याय पूर्ण काम होते हैं। जिन्हें सुनते हुए कान भी थक जाते हैं। और अहिंसावादियों की दशा पर तरस आता है। सामाजिक हिंसा निम्न प्रकार की है —

१ बाल्य-विवाह—इस दुष्ट प्रथा से हजारों बालक असमय में काल ग्रसित होते हैं, वे खिलने के पूर्व ही मरोड कर नष्ट कर दिये जाते हैं— विषय की भट्टी में झौंक दिये जाते हैं। फिर उन्हींके मा-बाप, हाय हाय करके चिल्लाते हैं। जिनकी शादियां की जाती हैं, वे यह भी नहीं समझते है कि हम दोनों का सम्बन्ध क्यों और किसलिये हुआ है। हम कौन है ? यहा तक कि वे इतने अबोध होते हैं कि पति पत्नी के अर्थ को भी नहीं समझते हैं। फिर भी उनकी शादी करके बरबादी कर दी जाती है।

इन बालकों के शरीर की क्या दशा होती है, देखिये—गाल की हड्डी बैठ जाती है, आंखें धसी हुई हैं, शरीर की एक-एक हड्डी गिन लीजिये, थोडी दूर चलने से ही हॉप जाते हैं, वैद्य-डाक्टर की दुकान के चक्कर लगाते हैं, भैरू, भवानी की मिन्नते करते हैं, फिर भी बीमार ही रहते हैं। और हाय ! हाय !! कर सिर पीट कर रह जाते हैं। यह सब मा-बाप की करतूत है, बड़े खेद एव डूबमरने जैसी बात है।

२ अनमेल विवाह—इस बेजोड़ विवाह से भी समाज की बडी हानि हो रही है। व्यभिचार बढ रहा है। श्रीमान् तो श्रीमती के आगे जाकर लट्टू घुमाते हैं, दिन भर खेल की बातें सुनाते हैं, यह है अनमेल विवाह की दशा।

वृद्ध विवाह—६०, वर्ष, का वर और १२ वर्ष की कन्या की शादी होना बुढ़ापे की शादी है। इस विवाह से विधवाओं की संख्या बढ रही है। वे आस द्वार

डारकर रो रही है। गुप्त पाप होते हैं, भ्रूण हत्याएं होती हैं, कन्या-विक्रय की जड़ यही प्रथा है। चांदी के बल से श्मशान का यात्री बुड्ढा भी दूल्हा बनकर एक बालिका की जिंदगी खराब करता है। परन्तु समाज इसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता है। क्योंकि समाज के कर्णधार ये ही हैं इससे होने वाली विधवाओं की दशा शोचनीय है। ये सब कारण हिंसा के हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं जिनका वर्णन स्थानाभाव के कारण नहीं हो सकता है।

अहिंसा के उपासक—ईसा मसीह का नाम कौन नहीं जानता है? वे अहिंसा के बड़े भक्त थे। उनका कहना था कि यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर तमाचा मारे तो उससे कुछ न कहो, वरन् अपना दाहिना गाल भी तमाचा मारने वाले की ओर करदो। अहिंसा और सहन शक्ति का कितना अच्छा सिद्धान्त है। गौतम बुद्ध भी अहिंसा के बड़े प्रेमी थे, उन्होंने यज्ञों की हिंसा का अन्त किया था। महावीर तो अहिंसा के साक्षात् अवतार थे। इन्होंने अहिंसा का खूब प्रचार किया। हमारे राष्ट्र निर्माता महात्मा गांधी भी अहिंसा के पुजारी हैं। वे कहते हैं कि विश्व-शांति का एक मात्र उपाय अहिंसा ही है।

इस प्रकार अहिंसा का भी विवेकशील महापुरुषों ने समर्थन किया है और प्रचार भी किया है। आजकल अहिंसा के प्रचारकों में अन्यतम हैं—जैन धर्म दिवाकर, प्रसिद्धवक्ता, जगतवल्लभ मुनि श्री चौथमलजी महाराज अहिंसा का प्रचार आपकी जीवन साधना है। आपने अपने जीवन का स्वर्णकाल अहिंसा की आराधना और प्रचारणा में ही लगा दिया है और लगा रहे हैं।

" जैनधर्म में स्वतन्त्रता "

लेखक— चतरसेन एम. ए., मुजफ्फरनगर



तन्त्रता कितनी प्रिय वस्तु है? यह हर प्राणी जानता और अनुभव करता है, इसके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ एक पक्षी को ले लीजिये। वह जंगल में रहता है, फल फूल खाता है, जंगल की सर्दी गर्मी को सहता है फिर भी आनन्द से जीवन व्यतीत करता है। यदि उसको कोई नगर में ले आये, पिंजरे में बन्द करके और पिंजरे में ही एक बनावटी डाली पर बिठादे, नानाप्रकार के भोजन का प्रबन्ध भी करदे और किसी प्रकार का कष्ट भी उसे न दे और कोई कार्य भी उससे न ले, सवेरे शाम उसे घुमाने भी ले जावे और हर प्रकार से लाड प्यार करे तो भी इस प्रकार का जीवन उसे कष्टमय प्रतीत होता है। इसका क्या कारण है? केवल यही कि जंगल का जीवन स्वतन्त्र जीवन था और पिंजड़े का परतन्त्र।

The fifth Commandment of the Bible-Thou shalt not kill anybody, Bless them who curse you इस सिद्धान्त में और बौद्ध के अवैर भाव से क्या विशेषता है ?

Merits which accure from non-injury can never accure from injury, lotuses which grow only in water can never have fire at their sources

From Indra down to a worm like happiness and dislike pain. इस तरह ईसा प्रभु का उपदेश है।

मुहम्मद पैगम्बर साहब कुरान के चौथे तुक्के में कहते हैं कि – 'जीओऔरजीनेदो' अर्थात् खुद जीवो और दूसरों को भी जीने दो। ऐसे तो विश्व में कोई भी धर्म हिंसा करने की आज्ञा नहीं देता फिर भी जैनदृष्टि से अहिंसा पर लिखने की क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न भी सत्य है, क्योंकि गीता की अहिंसा गौतम बुद्ध का अवैरभाव, मुहम्मद साहब की अहिंसा, टॉलस्टाय का अप्रतिकार का सिद्धान्त, क्रेकर का शान्तिवाद Pacism और जैनी अहिंसा इन सब में साम्य है, फिर भी जैनों की अहिंसा और इसकी व्याख्या में विशेषता है इसीलिए यहाँ पर जैनदृष्टि से विचार किया जायगा —

जैनदृष्टि से विचार करने के पहिले जैन धर्म और विश्व के अन्य धर्मों में क्या विशेषता है, यह जानना जरूरी है। जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त अहिंसा और स्याद्वाद है। आचार में अहिंसा और विचार में स्याद्वाद यही जैन धर्म की विशेषता है। स्याद्वाद के सिद्धान्त को जैन धर्म के सिवाय अन्य किसी धर्म में स्पष्ट रूप से नहीं पाये जाते।

जैन धर्म यदि शरीर है तो स्याद्वाद और अहिंसा उसकी आत्मा है। जिस प्रकार शरीर में से आत्मा चला जाय और मिश्री में से मिष्टता चली जाय तो वह निस्सार मालूम पड़ती है उसी तरह स्याद्वाद व अहिंसा के चले जाने पर जैन धर्म शून्यरूप हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को ठीक तरह से समझने के लिए उसे विभिन्न दृष्टिओं से देखना-उसके अलग अलग पहलुओं से विचार करना, वस्तु के स्वरूप को भिन्न भिन्न अवस्था में देखना ही स्याद्वाद-अनेकान्तवाद-अपेक्षावाद कहलाता है। प्रश्न होता है कि क्या सर्वत्र स्याद्वाद का सिद्धान्त लग सकता है ? बहुतों की मान्यता है कि स्याद्वाद से किसी भी तत्त्व का पूर्ण निश्चय नहीं होता किन्तु शंका स्पष्ट रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि जैन धर्म का स्याद्वाद का सिद्धान्त मनुष्य को किसी भी वस्तु का ज्ञान करने के लिए आधे मार्ग तक ले जाकर शंकान्वित बनाकर ज्ञान नहीं होने देता। वस्तुतः यह गलतफहमी है। Absolute truth से शंका उत्पन्न नहीं होती किन्तु शंकास्पद स्थानों का निवारण होता है। जैसे न्यायनिष्ठ राजा के राज्य करने पर प्रजा उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती और वैसा करने पर प्रजा की स्वार्थहानि होती है, वैसे ही स्याद्वाद रूप राजा के राज्य

करने पर कोई भी वस्तु उसका उल्लंघन नहीं कर सकती और ऐसा करने पर अपने स्वरूप से वस्तुएं भ्रष्ट होती हैं, इसलिए जैन धर्म की अहिंसा का सम्पूर्ण रीति से ज्ञान करने के लिए उस पर अनेकान्त दृष्टि से विचार करना नितान्त आवश्यक है। और वैसा करने पर अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट तया समझ में आजाता है।

वाचक मुख्य श्री उमास्वामी तत्वार्थ-सूत्र में अहिंसा की व्याख्या बताते हुए कहते हैं कि - 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' मन, वचन और काया से प्रमादावस्था में किसी भी प्राणी का घात करना वही हिंसा है दूसरी भाषा में कहें तो कषायपूर्वक प्राणनाश को हिंसा कहते हैं इससे विरमना अर्थात् हिंसा का त्याग करना अहिंसा है। हिंसा किस कारण से होती है इसका निवेचन करने के पश्चात् ही हिंसा से निवृत्त होने का उपाय स्पष्ट होगा।

हरएक प्राणी को अपने अपने कर्मानुसार रूप गुणादि प्राप्त हैं। अब एक प्राणी दूसरे के रूपादि को देखकर ईर्ष्यापूर्वक लेने की इच्छा करता है लेकिन सामने वाले प्राणी से वह वस्तु अनायास प्राप्त नहीं होती। अतः उसे करने के लिए उसका नाश करना पड़ता है। जैसे कि एक शिकारी को हिरन का मांस प्रिय है। अब उस हिरण का मांस उसे यों तो नहीं मिल सकता इसलिए मांस को ग्रहण करने के लिए उसका वध अवश्य करना पड़ता है। अतः हिंसा का कारण यही है कि अन्य की वस्तु को किसी न किसी प्रकार अपने आधीन करना। किन्तु स्वायत्त वस्तु में सतोष रखना यही अहिंसा की सक्षेप में व्याख्या है क्योंकि संतोष होने पर कोई किसी का घात नहीं कर सकता। उपर्युक्त स्वार्थभावना होने से हिंसा अत्यन्त गर्हित है क्योंकि आचारांग में परमेश्वर कहते हैं कि -

'सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुहपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, णातिवाएज्ज किंचण॥'

अर्थात् सभी प्राणी अपने आयुष्य को प्रियकारी मानते हैं। सब जीवों को जीने की इच्छा है इसलिए किसी को मत मारो। अहिंसा की महत्ता के लिए इससे अधिक और क्या व्याख्या हो सकती है।

जैन धर्म ने अहिंसा का केवल उपदेश ही नहीं दिया है अपितु उसके अनुयायियों ने वैसा ही आचरण करके दिखलाया है। अन्य धर्मों ने तो अहिंसा की ऐसी व्याख्याएं की हैं जिससे उनकी अहिंसा मात्र उन उन धर्मों पर लागू हो। इस तरह वह सीमित ही रह गई है, और उसमें भी उन्होंने उसका बिल्कुल आचरण नहीं किया, लेकिन जैन धर्म में ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म ने अहिंसा की विस्तृत व्याख्या के साथ साथ उसका आचरण करने के लिये भी उतना ही भार दिया है और यही कारण है कि जैन धर्म अहिंसा के सिद्धान्त के कारण विश्वधर्म बन सकता है। परन्तु जैनधर्म विश्वधर्म न हो सका उसका एक मात्र कारण यह है कि जैनधर्म के इस महान् सिद्धान्त के यथार्थ स्वरुप को समझने के लिए बहुत

थोड़ मनुष्यों ने प्रयत्न किया है। जैनधर्म की अहिंसा के विषय में लोगों में बड़ी भ्रमजनक अज्ञानता फैली हुई है। कोई उसे अव्यवहार्य कहते हैं कोई अनाचरणीय बताते हैं, कोई आत्मघाती का दोष देता है, कोई राष्ट्र-नाशिनी का कलंक चढाता है। इसलिए यहा पर संक्षेप से इन बातों पर विचार करना आवश्यक है। इस अज्ञानता के निवारण के लिए ही जैन धर्म ने पद पद पर विचार करके अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। जैन धर्म का अहिंसा सिद्धान्त केवल बाह्याचार पर ही निर्भर नहीं है किन्तु बाह्याचार के भीतर रहने वाले परिणाम और उसके ध्येय पर निर्भर है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरिजी ने अहिंसा के स्वरूप का स्पष्टीकरण उत्तम रीति से किया है। वे कहते हैं कि –

१ कोई हिंसा न करके भी हिंसा का फल प्राप्त करता है।

२ कोई हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता। किसी की हिंसा का स्वरूप थोडा मालूम पड़ता है, किन्तु फल बडा होता है।

३ किसी की हिंसा महा हिंसा के समान मालूम पड़ती है और फल थोडा होता है।

४ एक ही हिंसा किसी को तीव्र फल देती है, किसी को मन्द फलदायक होती है। एक हिंसा अन्य हिंसा से तीव्र परिपाकवाली या मन्द फलस्वरूप होती है। इसलिए हिंसा हिंसा में अन्तर है।

हिंसा क्या है ? हिंसा किसकी की जा रही है ? हिंसक कौन है ? उसका फल क्या होने वाला है ? इन सब बातों का अच्छी तरह तत्वदृष्टि से विचार करके हिंसा का त्याग करना चाहिए। इससे मालूम होता है कि जैन धर्म में हिंसा अहिंसा के चार भेद हैं—अहिंसा रूप अहिंसा, हिंसा रूप अहिंसा, अहिंसा रूप हिंसा, हिंसा रूप हिंसा। प्रथम दो भेद अहिंसा के हैं जो कि कर्त्तव्य यानि उपादेय हैं और अन्य दो भेद हिंसा के त्याज्य हैं। पापस्वरूप हैं।

जैन धर्म की अहिंसा क्या है ? वह कितनी व्यापक और व्यवहार्य है ? इसका पता इसीसे मिल जाता है। समास से हम कह सकते हैं कि जैन दृष्टि से इन चारों भंगों में ही अहिंसा की व्याख्या समाविष्ट हो जाती है।

१—हिंसा-अहिंसा फल –न्यायरक्षा के लिए की गई प्राणिघात रहित सूक्ष्म हिंसा का फल हमें महान् हिंसा के फल के समान नहीं मिल सकता। बाह्यदृष्टि से वह हिंसा मालूम होती है किन्तु वह हिंसा नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह हिंसा हिंसा समझ के नहीं होती, किन्तु न्याय रखने के लिए की जाती है। न्याय के लिए की गई हिंसा व अहिंसा सदृश मानी जा सकती है। यदि उसमें निस्वार्थ भावना हो।

अहिंसा हिंसा फलः—

इससे विपरीत अन्याय अत्याचार के सामने अहिंसा का सिद्धान्त पकड़

कर निर्माल्य होकर रहना। जैसे किसी स्त्री पर कोई अत्याचार करता हो और उसे देखते हुए भी हिंसा के भय से स्त्रीरक्षण के लिये शत्रु का सामना न करे, वह अहिंसा हिंसा की ही द्योतक है। बाह्यदृष्टि से वह भले ही अहिंसा कही जाय, किन्तु वह अन्याय की पोषक होने से हिंसा ही कही जा सकती है।

अहिंसा से अहिंसा फलः—

जो बाह्य और आभ्यंतर दृष्टि से अहिंसा मालूम होती है वह अहिंसा अहिंसा फलदायी है।

हिंसा हिंसाः—अहिंसा से विपरीत-दोनों दृष्टियों से हिंसा मालूम हो वह हिंसा रूप हिंसा है।

इस तरह जैन धर्म की अनेकान्तरूप अहिंसा को भूलकर आज लोक की नजर सिर्फ द्रव्य हिंसा अर्थात् बाह्य हिंसा अहिंसा पर है। अहिंसा की ओट में छिपी हुई हिंसा और हिंसा के पीछे रही हुई अहिंसा को लोग देख नहीं सकते हैं, क्योंकि वे अपने मस्तिष्क की विचार-शक्ति को तिलाञ्जलि दे बैठे हैं।

यद्यपि जैनधर्म की अहिंसा अत्यन्त विस्तृत है इसलिए इस समय अल्पवीर्य होने के कारण उसका पूर्ण रीति से पालन करना अशक्य है, फिर भी उसे अव्यवहार्य या आत्मघातिनी कहना उचित नहीं है। क्योंकि इसे सभी विचारक स्वीकारते हैं कि इस अहिंसा तत्त्व के प्रवर्तकों ने इसका आचरण अपने जीवन में पूर्णतया किया था। फिर भी इनसे किसी को आत्मघात करने का अवसर नहीं मिला। साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण करना चाहिए कि सत्सिद्धान्त सर्व साधारण को सुलभ और सुपालनीय हो सकता है? सिद्धान्त एक आदर्श है और आदर्श जितना उच्च होगा उतना ही उससे प्राणियों का अधिक विकास होगा। यदि हमारा आदर्श ही शुद्ध होगा तब तो फिर विकास के लिए कोई मार्ग ही न रहेगा इसलिए जो अपने अत्यन्त विकास की अभिलाषा करते हैं, आत्मा को समस्त प्रकार के दुःखों से मुक्त कर चरम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए अहिंसा का महान् आदर्श होना आवश्यक है। इस प्रकार अहिंसा न तो अव्यवहार्य हो सकती है और न आत्मघातिनी ही। उपर्युक्त व्याख्या सर्वसाधारण द्वारा पालन नहीं की जा सकती। यह तो महान् पुरुषों के द्वारा ही पालने योग्य है। सर्व साधारण के लिए अहिंसा की व्याख्या यह की जा सकती है कि जिस हिंसा के बिना व्यवहार हो सकता है वैसी हिंसा का आचरण नहीं करना चाहिए। यह तो अहिंसा की संक्षेप में व्यावहारिक व्याख्या हुई।

हिंसा और अहिंसा भावना पर ही अल्प और महा फलदायिका होती है ऐसा कहें तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अहिंसा के प्रचारकों ने हिंसा की व्याख्या करते समय बाह्यदृष्टि से होने वाली हिंसा को ही दोष रूप न बतलाते हुए हिंसा के लिये होनेवाली भावना के अनुसार उसे दोष या अदोष रूप बतलाई। और वह

भावना है रागद्वेष की विविध ऊर्मियां तथा असावधानता जिसको आगम भाषा में प्रमाद कह सकते हैं। अगर ऐसी दशा में प्राणनाश हुआ हो तो वहाँ हिंसा कहलाती है।

शास्त्रों में भी बाह्यदृष्टि से दिखती हुई हिंसा को द्रव्य हिंसा कही गई है। और अशुभ भावनापूर्वक होनेवाली हिंसा को भाव हिंसा कहा है। मनुष्य अगर निम्नोक्त बातों को ध्यान म लकर उन्हें अपने जीवन में स्थान दे तो वह अहिंसा का पालन कर सकता है।

१ जीवन को सादा बनाले और अपनी आवश्यकताओं को कम करदे।

२ मनुष्य अज्ञान होने पर भी ज्ञान का पुरुषार्थ के अनुसार स्थान तो हैं ही इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय उस बात को ध्यान में रखना। स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने वाले रागादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।

तात्पर्य यह है कि जिससे चित्त की कोमलता घटे कठोरता पैदा हो, स्थूल जीवन की तृष्णा बढे वह हिंसा है और उससे विपरीत अहिंसा है। इसलिए वह अव्यवहार्य नहीं हो सकती।

अब हमें यहा देखना है कि यह अहिंसा राष्ट्रघातक सिद्ध हो सकती है या नहीं। अहिंसा कभी राष्ट्र घातक नहीं हुई है और न हो ही सकती है। अहिंसा से भारत आज गुलामी के बंधनों में जकडा हुआ है इस प्रकार की भ्रान्ति को आज हम सुनते हैं सो निरी अज्ञानता ही है। भारत की पराधीनता का कारण अकर्मण्यता अज्ञानता और असहिष्णुता है, अहिंसा नहीं। भारत का पुरातन इतिहास बतला रहा है भारत में जबतक अहिंसा प्रधान धर्मों का अभ्युदय रहा तब तक प्रजा में शान्ति-शौर्य-सुख और सतोष का साम्राज्य रहा। अहिंसा धर्म के महान् उपासक और प्रचारक भूपति श्रेणिक, चेडा और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त तथा अशोक थे। क्या उनके समय में भारत पराधीन हुआ? इतिहास तो स्पष्ट बतला रहा है कि इनके समय में भारत सब देशों का शिरोमणि था और कला व विद्या में सर्वोच्च शिखर पर था। इससे मालूम पड़ता है कि जिस अहिंसा के प्रचारक महान् पुरुष थे, स्वय शूरवीर और पराक्रमशाली थे, उस धर्म से भारत पराधीन कैसे हो सकता है? इस तरह अहिंसा से भारतवर्ष कभी पराधीन नहीं हुआ है। लेकिन मैत्री भावना के अभाव में, जबकि कुसग बढ़ गया, स्वार्थ, असहिष्णुता आदि से हिंसा का विस्तार हुआ और इसीसे भारत दूसरे लोगों के हाथों में आकर पराधीन बन गया। बहुत से यह यह भी मान्यता रखते हैं कि हिंसा से ही भारत आज़ाद होगा। यह मान्यता बिल्कुल भ्रमजनक है। इस बात का पता इसी से मिल जायगा कि रोमन साम्राज्य, जो अत्यन्त क्रूर, नृशस और मासहारी जिनका प्रधान भोजन है वह क्या शांति और सुख पूर्वक रह सका है? उसको तो दुनिया की गिनती से भी उठ जाना पड़ा यही दशा भारत की भी आज हम देखते हैं। जब हम शान्ति और अहिंसामूलक मैत्री

भावनापूर्वक रहते हैं तब हमारे ऊपर आक्रमण करने का दूसरों के लिए कारण ही नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अहिंसा से देश पराधीन नहीं होता है।

संक्षेप में लिखने का तात्पर्य यह है कि जैनधर्म का आसन अहिंसा धर्म के मानने वाले धर्मों में सबसे प्रथम है और इसका जैनधर्म का 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धान्त है।

जैनधर्म की यह आज्ञा कभी नहीं है जब सबल निर्बल को सतावे या कष्ट पहुँचावे तो उदासीन होकर बैठे रहना चाहिये। गृहस्थों के लिए यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्मानुयायी गृहस्थ पदलोलुप आततायी, बदमाशों, गुण्डों, विषय लम्पट पुरुषों, अबलाओं के सतीत्व और धर्म को नष्ट भ्रष्ट करने वाले अधर्मियों लुटेरे और डाकुओं के द्वारा होने वाले अन्यायों और अत्याचारों को चुपचाप बैठे २ किसी भी प्रकार सहन करें वरन विरोध करें। इसी प्रकार अहिंसा दृढ हो सकती है।

जैनियों की अहिंसा-व्यक्तिगत स्वाभिमान और आत्मसम्मान के मार्ग में कभी बाधक नहीं हो सकती और न इससे साहस वीरता जातीय गौरव की कभी हानि ही हो सकती है। जैनधर्म की अहिंसा कन्याओं के धर्म को बचाने को, देवियों के सतीत्व की रक्षा करने को, बिलखते हुए बच्चों को अपनी माता की गोदी से अलग न होने देने को अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझती है। जैनधर्म की अहिंसा केवल निषेधात्मक उपदेश मात्र ही नहीं है उसमें गूढ विधायकतत्त्व भी हैं। जैनधर्म की अहिंसा हमें वास्तविक नैतिक शिक्षा का सन्मार्ग दिखाती है। हमें अन्य की सेवा के लिए उत्साहित करती है, स्वार्थ की संकुचित वृत्ति से हटाकर 'वसुधैव कुटुम्बकं' के विश्वव्यापक मंडल में मिला देती है वह हमें प्राणि मात्र की सेवा करने का सुन्दर बल प्रदान करती है और गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्म कल्याण का सुगम मार्ग दिखाती है। अगर अब भारत आजाद हो सकता है तो हिंसा रहित अहिंसा शस्त्र के द्वारा ही हो सकता है।

देश के अनमोल रत्न पूज्य महात्मा गांधी इसी अहिंसा के पालन से ही विश्व-वंद्य हुए हैं। वे इसी बात पर जोर देते हैं कि अहिंसा ही स्वतंत्रतालाने के लिए परम और अमोघ शस्त्र है फिर चाहे वह देर से प्राप्त हो किन्तु अगर होगी तो इससे होगी। उन्होंने स्व. ला. लाजपतरायजी को अहिंसा के संबंध में अपने विचार दर्शाते हुए लिखा था:—

Our Shastras seem to teach that a man who really Practises Ahimsa its fullness has the world at his feet, he so affects, surroundings that even the snakes do him no harm

अब अन्त में अहिंसा की साधना के उपाय बताकर अपना लेख समाप्त करूँगा। अहिंसा की साधना के सात प्रकार हैं —

आदर्श दर्शनी – अपना जीवन ऐसा निष्पाप, दयालु व अहिंसामय बनाया जाय कि और लोग आकर्षित हों।

सत्याग्रही–अपनी सत्य बात के लिए प्राण देकर भी अन्याय, अत्याचार का प्रतिरोध करना।

वैकल्पदर्शनी साधना–अन्याय करने वाले के हृदय पर अपनी निर्भयता और शक्ति से सामने वाले के हृदय पर छाप लगाई जाय। जैसे किसी ने हमें एक तमाचा लगाया और हमने दूसरा गाल आगे करके कहा कि एक और मार लीजिए। यह अहिंसा की वैकल्प दर्शनी साधना हुई।

प्रेमदर्शनी साधना–पापी–दुष्ट के साथ ऐसा प्रेम दर्शाया जाय कि वह हमें अपना मित्र या उपकारी समझने लगे।

उपेक्षणी साधना–महावीर स्वामी की तरह उपसर्ग आने पर पापी की तरफ उपेक्षा भाव दर्शाया जाय।

उपदेश साधना–दूसरों को उपदेश देकर पापमार्ग से हटाया जाय।

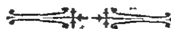
सहारिणी साधना–अन्याय व पाप से बचने के लिए अन्यायी को दण्ड दिया जाय इस प्रकार उचित स्थानों पर उपर्युक्त साधनाओं का उपयोग करना चाहिए।

अहिंसा के प्रचार के लिए निम्नोक्त बातों को लक्ष्य में लेना आवश्यक है।

(१) जाति पाति आदि का अनुचित भेद भाव लुप्त हो, जिससे अन्याय व पाप न बढ़े।

(२) बचपन से ही ऐसा सस्कारयुक्त शिक्षण दिया जाय जिससे कि बालक को अन्याय, हिंसा, अत्याचार आदि से घृणा उत्पन्न हो।

अहिंसा से क्या फल मिलता है यह भी जानना जरूरी है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में परमेश्वर अहिंसा का विवेचन करते हुए फरमाते हैं कि इस अहिंसा भगवती के द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ तक कि मोक्ष भी हस्त गत कर सकते हैं। आज हिंसा का परिणाम हम नजरों से देखते हैं। हमें कहीं नरकादि में जाकर देखने की जरूरत नहीं। आज रणदेवी सग्राम भूमि को अपना सुरापान का स्थान बना रही है। भीषण जनसहार हिंसा के फल को दिखलाने वाला मामूली दृश्य नहीं है। इसलिए जब तक विश्व में अहिंसा का प्रचार नहीं होगा तब तक विश्व में युद्ध की परम्परा चलती रहने वाली है। जैनधर्म की अहिंसा ही हमें एक मात्र श्रेय मार्ग दिखा सकती है और विश्व में फैलने पर विश्वबन्धुत्व की भावना पैदा कर सकती है। इत्यलम्।



जैन धर्म की देन

लेखक राष्ट्रभक्त सेठ अचलसिंहजी, आगरा



धर्म मनुष्य के जीवन का एक मुख्य अंग है। पर केवल सत्य धर्म ही मनुष्य को शान्ति देता है और सुमार्ग पर लाता है। धर्म ने संसार में बड़ा काम किया है। पर अज्ञानी और स्वार्थी लोगों ने धर्म के नाम पर संसार में बड़े २ अत्याचार किए हैं और करते रहते हैं, धर्म के नाम पर संसार में खून की नदियाँ बही हैं। योरोप में ईसाइयों और मुसलमानों ने धर्म के नाम पर हजारों नहीं बल्कि लाखों आदमियों को मौत का शिकार बनाया है। धर्म के नाम पर लोग मांस खाते, शराब पीते और व्यभिचार तक करते हैं। इससे पूर्व महावीर भगवान के समय में भारत वर्ष में धर्म के नाम पर लाखों मूक पशु ही नहीं मनुष्य तक भी बलि वेदी पर आये दिन चढ़ाए जाते थे। महावीर भगवान ने इस प्रकार की क्रूर हिंसा को मिटाने के वास्ते घोर प्रयत्न किया, और एक बड़े दर्जे तक कामयाबी भी हासिल की। पर अफसोस है कि आज तक भी मनुष्य अज्ञान और स्वार्थ-वश देवी-देवताओं के नाम पर हजारों लाखों पशुओं की बलि कर देते हैं। सच्चा धर्म वही है जिससे प्राणी मात्र को संतोष व तसल्ली हो। जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं है। संसार के मानव धर्मों में केवल जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसमें हर प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। जैन धर्म के आचार्यों ने हिंसा के कई भेद किए हैं। उन्होंने गृहस्थ, मुनि, राजा, न्यायाधीश आदि के लिए हिंसा की मर्यादा का बड़े सरल और रोचक ढंग से वर्णन किया है। अगर संसार में मनुष्य ठीक ठीक जैन धर्मानुसार आचरण करे, तो विश्व में शान्ति व सुख स्थापित हो सकता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा को सूक्ष्म रूप में अपनाया है।

अब तक हम लोग जैन धर्म को, अर्थात् अहिंसामय धर्म को कायरों का धर्म बताते थे पर आज महात्मा गांधीजी ने सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा धर्मवीरों का धर्म है। धर्म की कसौटी अहिंसा और सत्य ही है। जिस धर्म में ये दोनों सिद्धान्त विद्यमान हों वही सच्चा धर्म है।

जैन-दर्शन में हिंसा व अहिंसा के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। हिंसा के मुख्य चार भेद कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं –

(१) संकल्पी-हिंसा (२) आरम्भी हिंसा (३) व्यवहारी हिंसा और (४) विरोधी हिंसा।

(१) किसी भी प्राणी को संकल्प अर्थात् इरादा करके बुरे परिणामों से मारना, उसे 'संकल्पी हिंसा' कहते हैं। जैसे कोई चींटी जा रही हो उसे केवल हिंसक भावना से जान बूझकर मार डालना।

(२) गृह कार्य में, स्नान में, भोजन बनाने में, झाड़ू देने में, जल पीने आदि में जो जो अप्रत्यक्ष जीव-हिंसा हो जाती है, उसे 'आरंभी हिंसा' कहते हैं।

(३) व्यापार में, व्यवहार में, चलने में, फिरने में जो हिंसा होती है उसे 'व्यवहारी हिंसा' कहते हैं।

(४) विरोधी से अपनी आत्म रक्षा करने के निमित्त अथवा किसी आततायी अथवा हमला करने वाले से अपने राज्य, देश अथवा कुटुम्ब की रक्षा करने के निमित्त जो हिंसा करनी पड़ती है, उसे 'विरोधी हिंसा' कहते हैं।

इसके पश्चात् अहिंसा के भी मुख्य मुख्य भेद बतलाये गए हैं। उसको जैनाचार्यों ने ६ भागों में विभाजित किये हैं —

(१) भूल से, अज्ञानता से, अनजानपने से यह ख्याल करते हुए कि कोई जीव मर न जाय अगर किसी चलते फिरते जीव की हिंसा होजाती है तो उसे स्थूल अहिंसा कहते हैं।

(२) जान करके या अनजान में किसी भी प्रकार के प्राणी को कष्ट तक न पहुँचाने को 'सूक्ष्म अहिंसा' कहते हैं।

(३) किसी प्रकार के जीव को अपने शरीर से कष्ट देने का भाव न रखने को 'भाव अहिंसा' कहते हैं।

(४) किसी भी प्रकार की आंशिक अहिंसा की प्रतिज्ञा को 'देश अहिंसा' कहते हैं।

(५) सार्वदेशिक अहिंसा की प्रतिज्ञा को 'सर्व अहिंसा' कहते हैं।

वर्तमान समय में ससार की सारी राजनीति हिंसा व अहिंसा पर ही निर्भर है। महात्मा गांधीने बड़े स्पष्ट शब्दों में और अपने कार्यों से यह सिद्ध करके बता दिया है कि ससार में बगैर अहिंसा के शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। अभी हाल ही में जो ससारव्यापी महायुद्ध बंद हुआ है वह हिंसा की ही देन था। कहने के वास्ते तो मित्र राष्ट्र और धुरी राष्ट्र दोनों यही घोषित करते थे कि यह युद्ध न्याय और विश्व शान्ति के वास्ते लड़ा जा रहा था। पर वास्तविक बात यह नहीं थी। यथार्थ में तो यह युद्ध स्वार्थ और एक बड़े देश द्वारा दूसरे छोटे देश को गुलाम बनाने के वास्ते ही लड़ा जा रहा था। इस युद्ध में लाखों करोड़ों आदमी मारे गए और उसकी वजह से लाखों स्त्रियां विधवा व बच्चे अनाथ हुए। हवाई जहाज द्वारा बम गिरा कर देश के देश नष्ट भ्रष्ट कर दिए गये। इस लड़ाई के परिणाम स्वरूप कई देशों में अकाल पड़े जिस के फल स्वरुप लाखों आदमी एकर दाने के वास्ते तरस तरस कर व अस्थि पंजर बनकर कीड़े-मकोड़ों की मौत मरगए। यद्यपि एक ताकतने परमाणु बम डालकर एक क्षण में दूसरे देश के लाखों मनुष्य, जानवर, मकान आदि वस्तुओं को नष्ट भ्रष्ट करके युद्ध बंद कर दिया, पर क्या यह निश्चय है कि अब भविष्य में युद्ध न होगा ? नहीं-नहीं। यह निश्चित है कि जब परमाणु बम के

मुकाबले दूसरी प्रलयकारी चीज बनजायगी, तब एक ताकत दूसरी पर हमला बोल देगी। महात्मा गांधीजी के शब्दों में संसार में विश्व शान्ति बिना अहिंसा के कभी नहीं हो सकती। हिंसा की प्रवृत्ति से हिंसा बजाय घटने के उसी प्रकार बढेगी जिस प्रकार कि खून से सना हुआ कपडा खून से धोने पर खून में और सन जाता है। पर अगर आप कपडे को स्वच्छ पानी से धोवेंगे तो अलबत्ता कपडा साफ हो सकता है। इस प्रकार केवल अहिंसा के मार्ग से ही संसार में शान्ति और सुख-समृद्धि स्थापित हो सकती है।

पर अफसोस इस बात का है कि हम जैन लोग भी अहिंसा के सिद्धान्त को, उसके सच्चे रूप में पालन नहीं करते हैं। अगर हम लोग भगवान महावीर के बताए हुए अहिंसा धर्म का निस्वार्थ भाव से पालन करें, तो हम अपने जीवन को एक आदर्श जीवन बना सकते हैं और साथ२ संसार पर एक गंभीर छाप डाल सकते हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह को कार्य रूप में परिणत कर संसार को चकित कर दिया है। आज समस्त संसार के बडे २ लोग इस बात पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर रहे हैं कि संसार में स्थायी और सच्ची विश्व शान्ति किस प्रकार हो सकती है। अंत में विद्वान लोग इस परिणाम पर आ चुके हैं कि संसार में अगर शांति स्थापित हो सकती है तो केवल अहिंसा के सिद्धान्त द्वारा ही हो सकती है, पर यह सिद्धान्त बगैर स्वार्थ-त्याग के कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकता और इस स्वार्थ को बडी २ ताकतें छोड़ने को तैयार नहीं हैं।



भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त

भिक्षा मुनि श्री चन्दनमलजी महाराज



श्ववंद्य नरेण्य-विभूति भगवान महावीर अध्यात्मिक अभ्युदय के लिये तथा विश्व के आंगन में शान्ति-सुधा का सिञ्चन करने के लिए अपने श्री-मुख से बडे ही अनुपम तत्वों का उपदेश प्रदान किया है। प्रभु महावीर के सिद्धान्त उच्च श्रेणी के हैं एक प्रसिद्ध इटालियन विद्वान टेसीटोरी लिखता है कि 'जैन दर्शन बडीही उच्च श्रेणीका दर्शन है इसके सिद्धान्त विज्ञान शास्त्रके आधार पर रचे गये हैं। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान उन्नति करता जारहा है त्यों त्यों इसके सिद्धान्तों की सत्यता प्रमाणित होती जारही है"। एक और यूरोपियन विद्वान् लिखता है कि "जैन धर्म के सिद्धान्त जीवन में शान्ति का सञ्चार करने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं"।

वस्तुत भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के मूल में आध्यात्मिकता के साथ ही विश्व शान्ति का अनुपम पुट लगा हुआ है। अगर दुनिया महावीर के सिद्धान्तों को समझने और उनका अनुशीलन करने का प्रयत्न करे तो विश्व शान्ति जो आज के संक्षुब्ध वातावरण में आकाश कुसुमवत् असभवसी प्रतीत होरही है— अति सुलभ हो सकती है। इन सिद्धान्तों के मूल में ही विश्वकी शान्ति सन्निहित ह।

भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक उन्नति और विश्व शान्ति के लिए पाच व्रतों का उपदेश दिया है। वे व्रत इस प्रकार हैं — [१] अहिंसा व्रत [२] सत्य व्रत [३] अचौर्य व्रत [४] ब्रह्मचर्य व्रत और [५] अपरिग्रह व्रत। इन पाच व्रतों में से यहा केवल अपरिग्रह व्रत पर ही विवेचन किया जायगा।

अपरिग्रह शब्द परिग्रह के अभाव को सूचित करता है। परिग्रह का अर्थ-ममत्वपूर्वक वस्तु का ग्रहण करना होता है। जिन वस्तुओं पर ममत्व भाव होता है वे समस्त वस्तुए परिग्रह के अन्तर्गत हैं। शास्त्रकारों ने परिग्रह को वन्धन का मुख्य रूप माना है। श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रारम्भ में ही सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी प्रश्न करते हैं कि—

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बधरा परिजाणिया
किमाह बधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ ॥ १ ॥

अर्थ—वन्धन को जानकर उसका छेदन करना चाहिए। ऐसा उपदेश दिये जानेपर जम्बुस्वामी प्रश्न करते हैं कि वीर भगवान् ने वन्धन का क्या स्वरुप बताया है और क्या जानकर जीव वन्धन को तोड़ता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मास्वामी फरमाते हैं कि—

चित्तमतमचित्त वा परिगिज्झ किसामवि ।
अन्न वा अणुजाणाइ एव दुक्खाए मुचइ ॥

भावार्थ—जो व्यक्ति, द्विपद चतुष्पद आदि चेतन प्राणी को, अथवा चैतन्य रहित सोने चादी आदि पदार्थों को अथवा तृणादि तुच्छ पदार्थों को भी परिग्रह रूप से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है वह दु ख से मुक्त नहीं होता है।

इस आगमोपदेश से यह मालूम होता है कि परिग्रह वन्धन है। शास्त्रकार ने परिग्रह को मुख्य वन्धन कहा है। यह विचार करना चाहिए कि परिग्रह को मुख्य वन्धन कहने का क्या आशय है ? साधारण लोग परिग्रह को पाप नहीं मानते बल्कि उनकी दृष्टि में जो जितना बडा परिग्रही है वह उतना ही बड़ा पुण्यात्मा और आदरणीय भी है। धन और धनवानों की महिमा से समस्त जगत का साहित्य भरा पड़ा है। बडे बडे राज्यशासन और बड़े बड़े विद्वान भी धनवानों के इशारों पर नाचते रहते हैं। आज "बडा आदमी" शब्द का बहु-प्रचलित और सुगम अर्थ

"श्रीमान्" है। ऐसी अवस्था में परिग्रह को पाप कहने का आशय अवश्मेव विचारणीय है। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि परिग्रह क्या है? परिग्रह कैसे बढ़ा? परिग्रह से क्या हानियां हैं? इन प्रश्नों का समाधान होने पर यह स्वयमेव प्रतीत हो जायगा कि परिग्रह को मुख्य बन्धन क्यों कहा गया है।

जैन शास्त्रानुसार जब मनुष्य भोग भूमि में था उस प्रकृति प्रदत्त (कल्पवृक्षों द्वारा दिये गये) साधनों द्वारा उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था। उस समय उसकी आवश्यकताएं थोड़ी थीं और प्राकृतिक सम्पत्ति अधिक थी इसलिए उस समय किसी प्रकार का संग्रह नहीं किया जाता था। आखिर इस युग का अन्त आया प्रकृति से ही अब निर्वाह नहीं होने लगा। कर्मभूमिका युग उपस्थित हुआ और मनुष्य को परिश्रम करना पड़ा। साथ ही मनुष्य की आवश्यकताएं यहां तक बढ़ीं कि एक मनुष्य से सारी आवश्यकताएं पूरी न हो सकीं। इसलिए कार्य का विभाग कर दिया गया और मनुष्य पूरा सामाजिक प्राणी बन गया। सब मनुष्यों की योग्यता और रुचि बराबर नहीं थी। कोई परिश्रमी थे, कोई आरामतलब। कोई बुद्धिमान थे कोई साधारण, इसलिए यह स्वाभाविक था कि मनुष्यों के कार्यों में भेद हो। जो अधिक काम करते वे बदले में अधिक प्राप्त करते। उन्हें भोगोपभोग की सामग्री अधिक दीजाने लगी। सामग्री अधिक देने का आशय तो यह था कि वह उस सामग्री का उपभोग करलें परन्तु धीरे धीरे उपभोग करने के बदले संग्रह की भावना बढ़ती गई। समाज ने उसे अधिक सामग्री केवल इसलिए दी थी कि वह अपनी सेवा के बदले सेवा ले सके, न कि इसलिए कि वह सदा के लिए रखले, भले ही उसके बिना दूसरे भूख मरते रहें। यहीं से परिग्रह बढ़ने लगा और दुनिया में अशांति का बीजारोपण हुआ। यह संग्रह बुद्धि ही समाज में विषमता उत्पन्न करने वाली हुई। इससे समाज का एक वर्ग अत्यधिक धनसम्पन्न होने लगा और दूसरा वर्ग कंगाल होने लगा वह अपनी जीवनोपयोगी वस्तुओं को पाने में भी असमर्थ हो गया। यह स्वभाविक है कि अगर कहीं ढेर होगा तो अवश्य कहीं न कहीं खड्डा होगा ही। जब जीवनोपयोगी वस्तुओं का एक जगह संग्रह होने लगा तो दूसरे व्यक्ति भूखों मरने लगे। धीरे धीरे मुद्रा का प्रसार हुआ और लोग मुद्रा का संग्रह करने लगे। मुद्रा का संग्रह करना भी जीवन की जरूरी सामग्री के संग्रह के समान ही हानिकर है क्योंकि इससे भी दूसरे लोग मुद्रा से वञ्चित रह जाते हैं तो वे क्या देकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें? इसलिए संग्रह का परिणाम हुआ सामाजिक विषमता, कंगाली उत्पीड़न।

वैज्ञानिकों का कथन है कि जीवन के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ प्रकृति इस परिमाण में उत्पन्न करती है कि जिससे सबकी आवश्यकता की पूर्ति होसके। ऐसा होते हुए भी संसार में नङ्गे भूखे लोग दिखाई देते हैं इसका क्या कारण है? इसका कारण है बढ़ी हुई संग्रह बुद्धि। कुछ लोग अपने पास आवश्यकता से अधिक

पदार्थ संग्रह कर रखते है और दूसरे लोगों को उन पदार्थों के उपयोग से वञ्चित रखते हैं। इसी कारण लोगों को नंगा भूखा रहना पडता है। एक ओर तो कुछ लोग अपने यहा अत्यधिक अन्न जमा रखते है जो सड जाता है और दूसरी ओर कुछ लोग अन्न के विना हाहाकार करते हैं। एक ओर पेटियों में भरे हुए वस्त्र सड़ रहे है और दूसरी ओर लोग ठड से मर रहे हैं। एक ओर कुछ लोगों के पास इतनी ज्यादा भूमि है कि जिसमें कृषि करना उनके लिए बहुत कठिन है और दूसरी ओर कुछ लोगों को जमीन का इतना टुकडा भी नहीं मिलता जिस पर खेती करके अपना पेट पाल सके। कई लोगों के पास रूपयों पैसों का इतना अधिक संग्रह है कि उसे जमीन में गाड रखा है और दूसरी ओर लोग पैसे २ के लिए तरस रहे हैं। इस विषम स्थिति की वजह से ही रूसमें बोल्शेविज्म का जन्म हुआ है। जब रूस में यह वैषम्य बहुत बढ गया था तब वहा के पीड़ितों ने क्रान्ति कर दी। तब से वहा साम्य वाद का प्रचार हुआ। वस्तुतः किसी भी समाज या देश के लिए यह विषम परिस्थिति असह्य ही होती है। जिस व्यक्ति ने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है कम से कम उसे यह तो जन्म सिद्ध अधिकार होता है कि वह भरपेट भोजन पा सके, पर्याप्त वस्त्रों से अपना बदन ढक सके उसे रहने के लिए कोई स्थान प्राप्त हो इस तरह जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों का प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी का जन्म सिद्ध अधिकार है। गाधीजी के 'स्वराज्य' का भी यही वास्तविक अर्थ है कि देश का प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवनोपयोगी वस्तु प्राप्त कर सके ऐसी सुव्यवस्था ही स्वराज्य है।

परिग्रह के वशमें पड़ा हुआ प्राणी संग्रह करके ही नहीं रुक जाता है परन्तु वह आगे भी भयकर पाप बढाता है, वह नये नये अत्याचारों को जन्म देता है। उससे साम्राज्यवादरुपी राक्षस पैदा होता है। जिसके दातों के नीचे करोडों मनुष्य पिस जाते हैं। करोडों मनुष्यों की स्वाधीनता लूटली जाती है। उन्हें पशुओं की मौत मरना पड़ता है। ससार के सभ्य देश पराधीन बनाये जाते हैं और अमानुषिक अत्याचारों के बलपर उनका व्यापार नष्ट कर दिया जाता है। अफ्रिका, और भारत पर विदेशियों द्वारा ढायेगये अत्याचार इसके उदाहरण हैं। भारत के कारीगरों पर ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने ऐसे अमानुषिक अत्याचार किये जो सभ्य जाति के लिए घोर कलक की बात है। भारत के व्यापार को किस प्रकार नष्ट किया गया यह कालीकथा बहुत लम्बी चौडी है। तात्पर्य यह है कि पूजीवाद के विकास के लिए साम्राज्यवाद होता है। बड़े बडे राज्यों का सचालन पूजीवाद द्वारा ही हो रहा है। इस पर से यह प्रतित हो जाता है कि परिग्रह क्यों पाप है ? यह भयकर से भयकर पापों को जन्म देता है। इसलिए परिग्रह पाप है और शास्त्रकारों ने इसे पाप का (बन्धनका) प्रधान कारण बतलाया है।

यदि विश्वमें होनेवाले पापों प्रपन्चों, अत्याचारों और अन्यायों का मूल शोधा जाय तो मालूम होगा किइसके मूल में परिग्रह ही है। दुनियाके इतिहास में जितने

युद्ध लडे गये हैं वे अधिकाश कनक और कामिनी के हेतु लड़े गये हैं। परिग्रह के लिए ही राम और रावण का युद्ध हुआ। कोणिक और चेडा शास्त्र प्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए हुआ। सर्वत्र हाहाकार मचा देने वाला योरोपीय महायुद्ध भी इसी परिग्रह के कारण हुआ। परिग्रह के कारण मनुष्य मनुष्य की हत्या करते हुए नहीं सँकुचाता। वह अपने पिता, पुत्र, भाई, माता, मामा, स्त्री, पति आदि को भी मृत्यु के हवाले कर देता है। परिग्रह के कारण व्यक्ति अपने जन्म देने वाले माता पिता के साथ भी द्रोह कर सकता है। इसके लिए कोणिक, कस और औरगज़ेब के उदाहरण मौजूद हैं। कोणिक ने अपने पिता श्रेणिक राजा को, कस ने उग्रसेन को औरगजेब ने अपने बाप शाहजहा को कारागार में डाला था। मनुष्य परिग्रह के पीछे अन्धा होकर क्या क्या पाप नहीं करता !! परिग्रह के कारण ही जयचन्द और अमीचन्द जैसे पामर प्राणी देशद्रोहका घातक पातक कर बैठते हैं। हा परिग्रह ! तू क्या नहीं कराता ? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, ईर्षा, समाजद्रोह, जातिद्रोह, देशद्रोह, छल, कपट, कलह, क्रोध, मान, माया, चापलूसी इत्यादि सभी दोषों के मूल में परिग्रह जमा हुआ है इसीलिए तो कहा गया है कि लोभ पाप का बाप है। परिग्रह सभी पापों का मूल कारण है इसीलिए सूत्रकृताङ्ग सूत्रमें परिग्रह सर्व प्रथम बन्धन कहा गया है।

परिग्रह को बन्धन का कारण बतलाकर सूत्रकार यह उपदेश देते हैं कि जो प्राणी सचित्त या अचित्त अल्प मात्र भी परिग्रह रखता है या परिग्रह रखने की अनुज्ञा करता है वह दुख से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। शास्त्रकार जहा परिग्रह से दुख का होना प्रतिपादित करते हैं वहा हम देखते हैं कि ससार में सर्वत्र परिग्रह को ही सुख का एक मात्र साधन समझा जारहा है। येन केन प्रकारेण धन संग्रह करने में ही मनुष्यों ने सुख समझ रखा है और इसके लिए ससार में धमा चौकड़ी मची हुई है। प्राणी दुख की परवाह न करता हुआ धन का उपार्जन करने में मशगूल रहता है। वह धन के लिए बडे २ पर्वतों को लाघता है, समुद्र यात्रा करता है, विदेशों में भटकता फिरता है, नये नये कल कारखाने खोलता है, दिनरात परिश्रम करता है, भोजन पानी क कष्टों को सहन करता है और न जाने क्या क्या करता है। भयकर यातनाओं को सहकर भी और गरीबों का शोषण करके भी प्राणी धनवान बनना चाहता है। आज सारे ससार को सुख का खजाना धन में ही दृष्टिगोचर होरहा है और इसीलिए सारा विश्व सब कुछ भुलाकर धन प्राप्ति के पीछे पड़ा हुआ है। धन प्राप्ति में इसे सुख का आभास हो रहा है, ठीक इसी तरह जैसे मृगतृष्णा में मृग को जल का आभास होता है।

विश्व किस भूल भुलैया में फसा है ! कल्पित सुख के पीछे कैसा भ्रान्त हो रहा है ? धन की कैसी विडम्बना है ?

धन के मोह में फसा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता कि आखिर इस अपार

धनराशि का अन्तिम परिणाम क्या होगा। क्या उपार्जित अगणित धनराशि सच्चा सुख दे सकेगी? क्या यह धन अन्त तक साथ आवेगा? हे धनलिप्सु प्राणियों! बताओ कि दुनिया का कौन धनवान् धन के द्वारा सुखी हुआ है? क्या कोई ऐसा उदाहरण बता सकते हो जिसमें धन पाकर मनुष्य सच्चा सुखी बना हो? भूतकाल देखो, वर्तमान का अवलोकन करो, भावी पर नजर दौड़ाओ और बताओ कि कौन परिग्रही सुख को पासका? दुनिया में बड़े बड़े सम्राट् चक्रवर्ती, धनकुबेर हो गये हैं, क्या एक व्यक्ति अपनी अपार धनसम्पति अपने साथ लेगया है? क्या इन धनकुबेरों ने सुख का साक्षात्कार किया है? नहीं! नहीं! इन सब प्रश्नों का उत्तर नहीं के सिवाय और नहीं हो सकता। महान विजयी सिकन्दर मृत्यु के समय अपनी समस्त सम्पत्ति को एकत्रित करके उस पर आँसू बहाता है कि इस अपार सम्पत्ति में से एक कोडी भी मेरे साथ आने वाली नहीं है यह सब यहीं रह जायगी। जिसके लिये मैं लडा, अनेकों देशों को तबाह किया, लाखों का संहार किया आखिर वह मेरी न हुई। सिकन्दर ने अपनी भूल महसूस की और समझ लिया कि धन में सुख नहीं है। दुनिया का कोई दूसरा प्राणी इस प्रकार भूल न करे इसके लिए उसने अपने चोबदार को कहा कि मेरे मर जानेपर मेरे दोनों हाथ जनाजे से बाहर रखेजावें। ऐसा करने का कारण भी उसने उसे बतादिया। बादशाह यह कह कर मरगया। उसकी अन्तिम आज्ञानुसार उसके दोनों हाथ कफन से बाहर रखेगये। जब उसका जनाजा मुख्य रास्तेपर आया तब चोबदार ने कहा कि-आपके बादशाह ने अपनी अन्तिम इच्छा यह बतायी थी कि उनके दोनों हाथ जनाजे के बाहर खुले रखे जावें। उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए आपके आश्चर्य के बावजुद भी, ऐसा किया गया। बादशाह सिकन्दर ने ऐसा करने का कारण यह बताया कि-मैंने अनेक देशों को जीता बहुत सी सम्पत्ति एकत्रित की पर सब यहीं रहगई है। देखलो, ये मेरे दोनों ही हाथ खाली हैं, इसलिए जैसी गलती मैंने की वैसी गलती और कोई न करे। यह शिक्षा देने के लिए बादशाह के दोनों हाथ जनाजे के बाहर खुले रखे गये हैं। कहा है—

सिकन्दर जब चला दुनियां से दोनों हाथ खाली थे।

इस पर से यह भली भांति विदित होता है कि धन की प्राप्ति में सुख का निवास नहीं है। अगर धन में सुख होता तो सिकन्दर को पश्चाताप न होता। ऐसा होते हुए भी प्राणी पर मोह का नशा ऐसा चढा हुआ है कि वह हिताहित का विवेक भुला बैठा है। वह इच्छाओं का दास बना हुआ है। इच्छाएँ उसे नाच नचाती हैं। वह प्राणी इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है लेकिन वह यह नहीं जानता कि सागर की असख्य उर्मियों की तरह इच्छाओं का अन्त नहीं हो सकता। एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म देकर लय होती हैं। इस तरह इच्छाओं की परम्परा अविच्छिन रूप से चालू रहती है। जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है उसी तरह कामनाओं और इच्छाओं का भी अन्त नहीं है। आगम में कहा है- "इच्छा

हुआगास समा अणतिया"। जिस तरह शराब पीने से शराब पीने की इच्छा नष्ट नहीं होती अपितु बढती जाती है उसी तरह एक इच्छा की पूर्ति होने से इच्छा शान्त नहीं होती वरन् अनेक नवीन इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं। एक हिन्दी कवि ने कहा है—

जो दस बीस पचास भये शत लक्ष करोर की चाह जगेगी।
अरब खरब लौं द्रव्य बढयो तो धरापति होने की आश लगेगी॥
उदय अस्त तक राज्य मिल्यो पर तृष्णा और ही और बढेगी।
'सुन्दर' एक संतोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी॥

चाहे जितनी सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णा कभी शांत नहीं होसकती। कपिल ने राजा से दो माशा स्वर्ण मांगने का विचार किया लेकिन आखिर वह सम्पूर्ण राज्य मांगने पर भी संतुष्ट न हुआ। ज्यों ज्यों लाभ होता है त्यों २ लोभ बढता जाता है। मम्मण सेठ के पास ९९ क्रोड सौनेया का धन था। उसने यह धन मणि, रत्न जवाहरात से जड़े हुए स्वर्ण के एक बैल की रचना में लगा रखा था। उसे इतने धन से भी संतोष नहीं हुआ। वह इस बैल की जोड़ी का एक बैल और बनाना चाहता था और उसके लिये इतने कष्ट भी उठाता था कि अर्द्ध रात्रि के समय श्रावण मास में पूर आई हुई नदी में से लकड़िया लेने का काम भी करता था। इस लोभ का भी कोई अन्त है? नहीं नहीं नहीं !!! इस पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है— परिग्रह की भावना का त्याग! पदार्थों के प्रति आत्मीयता का त्याग।

जब तक प्राणी पर पदार्थों में आसक्त होकर उनसे सुख पाने की आशा करता है तब तक वह शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। दुनिया के पदार्थ आगे या पीछे अवश्यमेव अलग होने वाले हैं, अतएव उनको अपने समझने की भूल कदापि न करनी चाहिये। जो व्यक्ति पर पदार्थों में ममत्व का आरोपण करता है वह उस समय अत्यन्त वेदना का अनुभव करता है जब वे पदार्थ स्वाभाविक या बलात् अलग हो जाते हैं। विनश्वर पदार्थों को प्राणी अपनाता है और चाहता है कि ये कभी मुझ से अलग न हों। कितनी अज्ञानता है! अज्ञान के वशवर्ती हुआ प्राणी सुख को बाहर ढूंढने का प्रयत्न करता है। वह संसार के इन पदार्थों में सुख की कल्पना करता है। वह समझता है कि धन में सुख है, राज्य में सुख है, पुत्रादि में सुख का निवास है, ऊँचे महलों में निवास करने में सुख है। अतएव वह इन्हें प्रयत्न करने में मशगूल हो जाता है परन्तु इन्हें पाकर भी दुखी ही रहता है। उसे सुख का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह जहां सुख समझ रहा है वहां वास्तव में सुख नहीं है। सुख का वास्तविक खजाना आत्मा में है। आत्मा में आत्मस्वरूप में— रमण करने से ही सुख का साक्षात्कार हो सकता है। आत्मरमण तबतक असंभव है जबतक बाहर की वस्तुओं के प्रति आसक्ति और कामना है। जब बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति कम हो जायगी तब आत्मस्थिति का भान

होगा और आनन्द का अनुभव हो सकेगा। हे प्राणियो! अगर सुख की अभिलाषा है तो परिग्रह का त्याग करो और आत्मा के अक्षय निधान का आनन्द लूटो। भगवान् महावीर ने इसीलिए अपरिग्रह व्रत का उपदेश दिया है।

अपरिग्रह व्रत का पालन करने के लिए सर्व प्रथम लालसा का अन्त करने की आवश्यकता है। जबतक किसी भी बाह्य पदार्थ की लालसा है, तबतक कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही नहीं हो सकता। जिसमें लालसा है-उसके पास कोई स्थूल पदार्थ न हो तब भी वह परिग्रही ही है। हृदय में पदार्थों की लालसा बनी हुई है लेकिन पदार्थों के प्राप्त न होने से जो अपने आपको अपरिग्रही समझ लेता है वह बड़ी भूल करता है। एक दरिद्र व्यक्ति भी लालसा के कारण बड़ा भारी परिग्रही हो सकता है और एक सम्राट् चक्रवर्ती भी असक्ती के अभाव में -अपरिग्रही हो सकता है। परिग्रह का मुख्य सम्बन्ध मूर्छा-लालसा के साथ है। इसीलिए तत्वार्थसूत्र में ' मूर्छा परिग्रह " कहा गया है। साधु भी वस्त्र रजोहरण, पात्र आदि पदार्थ रखते हैं लेकिन वे परिग्रही नहीं कहे जाते हैं। इसका कारण यह है कि उन पदार्थों पर उनका ममत्व नहीं होता है। ममत्व के अभाव से वे अपरिग्रही कहे जाते हैं। एक भिखारी के पास वस्त्र भी पूरा नहीं है और खाने को भी नहीं है फिर भी वह परिग्रही है क्योंकि उसमें लालसा बनी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि परिग्रह का सम्बन्ध ममत्व भाव के साथ है अतएव अपरिग्रही बनने के लिए ममत्व का त्याग करना आवश्यक है।

यद्यपि भगवान् का उपदेश संसार के समस्त जीवों के कल्याण को लक्ष्य में रखते हुए होता है तदपि ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि सभी प्राणी अपरिग्रही हो सकें। संसार व्यवहार में रहनेवाले प्राणी को संसार के कतिपय पदार्थों का रखना आवश्यक होता है। वे सभी पदार्थों का त्याग करके अपना संसार व्यवहार नहीं चला सकते। ऐसे व्यक्तियों के लिए भी भगवान महावीर ने व्रत का निर्देश किया है। भगवान ने फरमाया है कि सर्वथा निष्परिग्रही होने का लक्ष्य सामने रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को परिग्रह का परिमाण करना चाहिए। इसे परिग्रह परिमाण अथवा इच्छा परिमाण व्रत कहा गया है। इस इच्छा परिमाण व्रत में क्षेत्र (खेत आदि भूमि) वस्तु (निवास योग्य स्थान) हिरण्य (चांदी) सुवर्ण (सोना) धन, धान्य, द्विपद चतुष्पद, और कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषध) आदि कीमर्यादा की जाती है। इन नव भेदों में संसार के समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है। इस व्रत के साथ ही साथ श्रावक भोगोपभोग के पदार्थों की भी मर्यादा करता है। इस मर्यादा का यदि विवेक पूर्वक ध्यान रखा जाय तो संसार में होने वाले रक्तपात और और संघर्ष का सदा के लिए अन्त आजाय। अगर परिग्रह परिमाण व्रत को दुनिया अपनाले तो विश्व की बड़ी से बड़ी समस्या हल होजाती है। आज दुनिया की सब से बड़ी समस्या यह है कि एक तरफ करोड़ों लोगों के सामने रोटी का सवाल है जबकि दूसरी तरफ धन और साम्राज्य के विस्तार की अमर्याद महत्वाकांक्षा।

स विषमता की चक्की में विश्व की शान्ति बुरी तरह पिस रही है। इस वैषम्य के कारण दुनिया एक भयकर वातावरण से गुजर रही है। इस सारी समस्या का हल भगवान् महावीर के इस अपरिग्रह मत के पालन में है। अगर ससार चिर शान्ति की सुखमय गोद में खेलना चाहता है तो भगवान् महावीर का यह अपरिग्रह सिद्धान्त ही उसे शाश्वत शान्ति प्रदान कर सकता है।



ज्ञान की खोज मे

(लेखक राव जगन्नाथसिंह, झाला " विशारद ")

परब्रह्म परमात्मा की प्रकृति (माया) के द्वारा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होकर, उनके शरीरों की रचना हुई, एव प्रकृति अनुसार उनकी बुद्धि, विचार इत्यादि बने। उन प्राणीयों में " मानव जाति " जो आज इतनी सभ्य बन चुकी है, उसके मूल पुरुष, स्त्री, इत्यादि बने, परतु उनमें, उन दूसरे प्राणियों से एक विशेषता थी, और वह थी " ज्ञान की खोज " इसी प्राकृतिक महाशक्ति के द्वारा मानवजाति का विकास, दिन प्रतिदिन, देश, काल, जल, वायु के अनुसार होता रहा। एव इसी परिस्थिति में आज जो जो परिस्थितिया दृष्टिगोचर हो रही हैं, वह सब परिणत हुई।

मूल जन समाज के स्त्री, पुरुषों की वृद्धि एव ज्ञान के विकास से, उनकी बुद्धि के साथ ज्ञान बढ़ा और एक मानव समाज की स्थापना हुई, मनुष्य जाति का उत्थान पतन समाज पर रहा। क्योंकि – मनुष्य में सामाजिकता है, याने मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रकृति से वह समाज चाहता हैं, समाज के स्थापित होने के बाद उन्हें शासन, कृषि इत्यादि का ज्ञान हुवा, और वह एक स्थान पर छोटे २ जन समाज स्थापित करके रहने लगा। जिसमें गाव, देश, स्थापन होकर ज्ञान का विकास हुवा। ज्ञान के विकास के बाद, भिन्न२ देश की मूल प्रकृति के अनुसार, बने हुये मानवों के भिन्न २ विचारों का एकीकरण नहीं होने से लोग एक दूसरे से अपने को श्रेष्ठ समझने लगे और अपने विचारों का सघर्ष करने लगे, और यह हुई सग्राम या युद्ध की पुर्व भूमिका। युद्ध में वाक्‌युद्ध के बाद शरीर युद्ध, शस्त्रयुद्ध, अस्त्रयुद्ध प्रारम्भ हुवे। और जन समाज की विभिन्न प्रकृति के अनुसार भिन्न २ सगठित समाज बनगये।

एक दूसरे के साथ युद्ध में सघर्ष करने से जब मानव जाति को उलटा दुःख भोगना पड़ा, तब उनमें जो श्रेष्ठ एव बुद्धिमान थे, उन्होंने विचार किया कि—

ऐसा कोई उपाय ढूढना चाहिए कि जन समाज का एकीकरण सब में शाति स्थापित हो और सब एक सूत्र में बध जाएं। इस खोज में पडने के बाद उन्होंने " धर्म " की स्थापनाए देश, काल, परिस्थिति के अनुसार समाज को विशाल शात बनाकर समाज का एकीकरण करने का प्रयत्न किया। बाद में अपने विचारों को सदैव जन समाज में कायम रखने के लिए "रचना" का आरम्भ हुआ और धार्मिक ग्रथों का निर्माण हुवा, और इस प्रकार मानव समाज में धर्मों का विकास फैला है।

प्राचीन धार्मिकता की खोज के बाद मूलग्रथ "वेदों" के द्वारा धार्मिक समाज का पता लगता है, और विदित होताहै,कि –उस समय का धार्मिक सगठन कोई खास "यज्ञ" के समय होता था। जिसे वेदों में"अश्वमेध"इत्यादि वर्णित किया है।

पता चलता है, कि – जिस समय ' दुष्ट दानव" इत्यादि उत्पन्न होकर जनता को दु:ख पहुचाता था उस समय यज्ञ में जन समाज एकत्रित होकर "प्रजापति' की स्थापना करते और सगठित " शक्ति" पैदा करके उस समय के उस दानव या राक्षस या समाज का नाश करते और उसी को धार्मिकता मानते थे। और यह श्रेष्ठ भी थी, क्योंकि – उस सगठित समाज के द्वारा एक अन्यायी व्यक्ति या अन्यायी जाति का नाश करके अन्य समाजों में शाति स्थापित की जाति थी और यही उस समय योग्य माना जाता था।

मनुष्य में मूल प्रकृति के गुण के साथ अवगुण भी विद्यमान रहते हैं। मनुष्य काम, क्रोधादि अवगुणों का वशवर्ती होकर, नाश करने में सलग्न हो जाता है। और यह दुर्गुण समाज में फैलाकर सारे समाज को दूषित कर देता है।

इस मानवी दूषितता के कारण, महायज्ञों में भी दोष फैला, और यही यज्ञ उलटे रक्तपात का कारण हो गये। उस समय जन समाज में शान्ति स्थापित होने के लिये मानव धर्म की अधिक खोज हुई, और "भगवान बुद्ध" ने असीम तपश्चर्या के बाद ससार को शान्त बनाने का सब से बडा उपाय "अहिंसा व्रत" ढूढ निकाला और उसके द्वारा विश्व में शान्ति स्थापित करके जन समाजों को विस्तृत शान्त और विशाल बनाया।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से विश्व में भी धार्मिक जागृति हुई, अरब में एक परमेश्वर बन्दना के द्वारा प्रसन्न करने वाले मुहम्मद पैगम्बर, और परमार्थ के लिये देह त्याग करने वाले ईसा इत्यादि हुवे जिनने विदेशों में धार्मिक जागृति की।

इस प्रकार मानवी धर्म का विकास होने के बाद धार्मिक जागृति पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। उस समय परमात्मा की असीम कृपा से मानवी धर्म के वास्तविक ज्ञाता "भगवान् महावीर" का जन्म हुआ। आपने वास्तविक धर्म की अन्वेषणा के लिए अधिक परिश्रम (तपश्चर्या) करके जन धर्म "जैन धर्म" की नींव डाली—

नोट—जैन धर्म अनादि है। महावीर स्वामी ने जैन धर्म की नींव नहीं डाली बल्कि जैन धर्म का प्रचार किया था।

अत्यन्त परिश्रम करके मानवी धर्म की अधिक खोज की गई, और द्वादशाग शास्त्र निर्मित हुए। धर्म को समस्त वर्णों और जन साधारण को समझाने के लिये शास्त्र लोक प्रचलित प्राकृत और मागधी भाषा में लिखे गये। मानवी धर्म का वास्तविक रूप प्रत्येक व्यक्ति की समझ में आवे, ऐसा प्रयत्न किया गया।

जैन धर्म उस समय के क्षत्रियों में अधिक तादाद में फैला, क्योंकि —इस धर्म के आचार्य ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय थे। बहुत से क्षत्रिय-वश अपने साथियों के साथ जैन बने और इस प्रकार जैन धर्म की जागृति हुई।

भारतवर्ष में जिस समय धार्मिक जागृति हो रही थी, उस समय दुर्भाग्य-वश मुसलमानों का आक्रमण हुआ, जिससे प्रत्येक धर्म समाज के रूप में सीमा-बद्ध हो गये। और यही गति जैन धर्म की हुई। वह जैन धर्म के रूप में परिणत हुआ। तभी वह जैनधर्म कहलाने लगा। उसी का यह स्वरूप है, जो वर्तमान जैन धर्म के रूप में है।

वर्तमान शिक्षा के युग मे प्राय समस्त समाजों तथा धर्मों की जागृति हो रही है और उन्हें उन्नत दशापर लाने की कोशिश की जारही है। इस शिक्षा के युग में, पुन इसे मानव धर्म या जनधर्म को ससार में विकसित करने के लिये, महात्मा श्री चोथमलजी महाराज का जन्म हुआ है। आपने दीक्षा ग्रहण करके पुन इस धर्म की जागृति की है।

आपने शास्त्रों का आधार लेकर वर्तमान भाषा में ग्रंथ निर्माण किये एव भारत वर्ष के अनेक प्रान्तों में पैदल भ्रमण करके समस्त समाज व समस्त धर्मावलम्बियों को जनमत की वास्तविक शिक्षा दी। आपने यह सिद्ध किया कि –" जैन धर्म जन धर्म है"

प्रत्येक समाज और प्रत्येक धर्मावलबी का अधिकार है, और वह धर्म ससार में शांति, और वास्तविकता के निर्माण के लिये है। सीमाबद्ध नहीं।

परमात्मा की असीम कृपासे और महात्मा की दिव्यात्मा के द्वारा इस समय प्रतिदिन वास्तविक जन धर्म की उन्नति भारतवर्ष में होरही है। हजारों की तादाद में मनुष्य एकत्रित होकर आपके वचनामृत श्रवण करते हैं। आप प्रतिवर्ष धर्म ग्रन्थों का निर्माण करते हैं।

यह मानवी धर्म या जन धर्म, जैन धर्म के रूपमें विकसित होकर सारे भारतवर्ष में ही क्या, समस्त भूभाग में विकसित हो यह लेखक की हार्दिक आकांक्षा

जैन फिलॉसॉफी का हृदय

लेखकः - मगनलाल धनजीभाई, माटलीआ

जैन दर्शन का मूल क्या है ?



रतवर्ष में जितने भी दर्शन है उन सब के खास खास मौलिक तत्त्व भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने के कारण अलग अलग रहते आये हैं । जैसे कि सांख्यदर्शन का नित्यवाद और बौद्धदर्शन का क्षणिकवाद इत्यादि । जैन दर्शन भी एक आर्य दर्शन है और उसका मौलिक तत्त्व स्याद्वाद है जो कि कथचित्वाद, अनेकान्तवाद, सापेक्षवाद, सप्तभंगीवाद, इत्यादि नामान्तर से भी पुकारा जाता है। सम्पूर्ण जैनदर्शन की विचारधारा इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। एक दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैनधर्म का आधारभूत अहिंसा सिद्धान्त भी इस स्याद्वाद का ही भाषान्तर है।

स्याद्वाद की स्थापना और उसका विकास -

वैसे तो यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन माना गया है, लेकिन आधुनिक समय में प्राप्त ऐतिहासिक साधनों पर से मालूम पड़ता है कि यह स्याद्वाद का सिद्धान्त भगवान् महावीर के पहले हुए भगवान् पार्श्वनाथ के समय का है। लेकिन आज कल पार्श्वनाथ का शास्त्र सम्बन्धी कथन वस्तुत नहीं मिलने के कारण हम कह सकते हैं कि महावीर ने स्याद्वाद की स्थापना करके उसको सुव्यवस्थित बनाया और उनके पीछे होने वाले आचार्यों ने उसको शुद्ध तार्किक क्षेत्र में लाकर विशद रूप दिया ।

भगवान् महावीर के उपदेशभूत आचारागादि सूत्रों को देखने से मालूम पड़ता है कि उन्होंने स्याद्वाद का स्वरूप " उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा " इस प्रकार बिलकुल सरल रूप में रक्खा। उन्होंने खण्डन मण्डन का जटिल जाल नहीं बनाया। लेकिन उनके बाद जो आचार्य हुए उन्हें मीमांसकादि दर्शनकारों के साथ दार्शनिक क्षेत्र में वाद विवाद आदि करना पड़ा। अत उन्होंने स्याद्वाद का पद्धति से विकास किया और दूसरों को परास्त करके स्याद्वाद का अधिक पोषण किया। उन्होंने दार्शनिक पुस्तकें सैकड़ों के प्रमाण में लिखीं जिनको यदि आज एकत्रित किया जाय तो एक अच्छा दार्शनिक पुस्तकालय बन सकता है।

स्याद्वाद की शोधका उद्देश्य

कोई भी व्यक्ति अपने सिद्धान्त का उद्देश्य मोक्ष से जरा भी कम नहीं मानता। कामशास्त्र और नीतिशास्त्र के कर्त्ताओं ने भी अपनी अपनी पुस्तकों में मोक्ष को ही

साध्य माना है। भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण सत्य प्राप्त करने का मार्ग निकाला।

जैन वाङ्मय मे स्याद्वाद के वाङ्मय का स्थान

जैन वाङ्मय का अर्धपर्यन्त भाग स्याद्वादी विषयक साहित्य ने रोक रक्खा है। अत उस साहित्य का जैन साहित्य में क्या स्थान है यह समझना आसान है।

जैसा और जितना सस्कृत साहित्य म व्याकरणशास्त्र का महत्व है उतना ही जैन वाङ्मय में दर्शनशास्त्र विषयक ग्रन्थों का है। जैन दर्शन शास्त्रों से ही जैन वाङ्मय अनुप्राणित होता है। जैन सिद्धान्तों की चर्चा मूल दार्शनिक शास्त्रों में है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि है जैन दार्शनिक साहित्य से अनभिज्ञ मनुष्य जैन सिद्धान्तों का मर्मज्ञ नहीं हो सकता है।

स्याद्वाद का आध्यात्मिक रूप

यद्यपि आध्यात्मिक शास्त्रों में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन मिलता है, लेकिन वह पहले शुद्ध था या अशुद्ध ? अशुद्ध किस तरह हुआ और जो शुद्ध होता है वह कभी अशुद्ध हो सकता है या नहीं ? इत्यादि बातों को जाने बिना मुमुक्षु की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। स्याद्वाद इन सब प्रश्नों का समाधान करता है। इसलिये स्याद्वाद तो मोक्ष का प्रथम सोपान है।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक शास्त्र आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध दिखलाते हैं जब कि दर्शन शास्त्र सिद्ध करते हैं कि जीव भी ज्ञानवान् है, परमात्मा भी ज्ञानवान् है इसलिये इस दृष्टि से दोनों एक हैं। जीव की सभी ज्ञानशक्तिया व्यक्त नहीं हुई हैं जब वे प्रकट होंगी तब आत्मा और परमात्मा ऐसा भेद नहीं रहेगा।

व्यावहारिक जीवन में स्याद्वाद की उपयोगिता

न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि—

जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगतवायस्स ॥

इस पर से यह प्रतीत होता है कि व्यावहारिक क्षेत्रों में जैसे इतिहास राजनीति एव अर्थशास्त्र उपयोगी हैं, वैसेही स्याद्वाद भी बहुत उपयोगी है।

राष्ट्रकी स्वतन्त्रता एव परतन्त्रता के समय किस तरह रहना चाहिए और सामाजित एव राष्ट्रीय समस्याओं को कैसे हल करना चाहिए यह स्याद्वाद ही सिखा सकता है। स्याद्वाद कोई किताबी चीज़ नहीं है। उसका क्षेत्र सर्वत्र है और उससे सम्पूर्ण विश्व की प्रत्येक समस्या पर प्रकाश पड़ सकता है।

वर्तमान जैन समाज में स्याद्वाद का अभाव

जीवनके धर्म, कर्म, समाज एवं राष्ट्र, इतने क्षेत्र हैं इनमें कहीं पर भी जैनियों ने स्याद्वाद को अपनाया नहीं है। मात्र पुस्तकों में भर दिया है। जैसे धर्म के क्षेत्रको लेकर देखते हैं तो जैनों के मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और दिगम्बर इस तरह तीन फिरके हैं। दिगम्बर और मूर्तिपूजकों में तो कोई खास तात्विक मतभेद न होने पर भी वे परस्पर लड़ते रहते हैं। मन्दिरों के विषयमें इतने लड़े हैं कि उसमें बहुतसे मनुष्योंने अपनी जानें गवा दी हैं। इन लड़ाइयों के इतिहास को पढ़कर रोमाञ्च हो जाता है कि यह धर्म क्या चीज है। एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदाय के विचारों को जानना भी नहीं चाहते। एक दूसरे को भी मिथ्यात्वी कहते हैं और अपने अनुयायी गृहस्थों को भी साम्प्रदायिक बन्धन में बांध लेते हैं। क्या जैन दर्शन यही सिखाता है? क्या इन बातों को देखकर जैन दर्शन का हृदय गद्गद् नहीं होता होगा।

जैन दर्शन का यही हृदय और मूलमन्त्र है कि अनेकतामें एकता करना। जिस प्रकार बिखरे हुए फूलों को एक करने के लिये उनको तोड़ मरोड़ कर एक टोकरी में रख देने की जरूरत नहीं है, लेकिन उनके अस्तित्व को मिटाये बिना ही जिस प्रकार मालाकार उनको एक सूत्रमें पिरो कर माला बनाता है वैसे ही जैन दर्शन भी यही सिखाता है कि मालाकार की तरह तुम भी बनो। सच्चा जैन तत्ववेत्ता सहिष्णु होता है। वह दूसरे के विचारों को सुनता है और प्रत्येक प्रश्नकी दोनों बाजुओंको देखता हैं। यही तो जैन फिलॉसॉफी का हृदय है। जैन फिलॉसॉफी का उद्भव भी अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न मनुष्य के हृदय की जिज्ञासाओं का समाधान करने के प्राथमिक ध्येयको लक्ष में रखकर हुआ था।

कर्म के विषय में भी जैन लोग एकान्त पकड़कर बैठे हैं। सामाजिक क्षेत्र में तो स्याद्वाद को जरा भी नहीं लाया गया है। केवल धर्म स्थानकों में जब हम जाते हैं तब कुछ वहां सुनते हैं कि आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है।

जैन तत्ववेत्ताओं से

सिद्धसेन, समन्तभद्र, हरिभद्र आदि जैन तत्ववेत्ताओं ने अपने आपको सामाजिक क्षेत्र से अलग रखकर अनेकान्त को आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक रूप से रक्खा और उन्होंने जो जो साहित्य लिखा उसमें सामाजिक समस्याओं पर विचार नहीं किया।

आधुनिक जमाने के जैन तत्ववेत्ता भी उसी पहलू पर चलते हैं और कहते हैं कि जब सिद्धसेन और समन्तभद्र जैसे समर्थ विद्वानों ने सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त को नहीं रखा तो फिर हम क्यों रक्खें। लेकिन मैं कहता हूं कि सिद्धसेनादि आचार्यों ने अपने आपको सामाजिक क्षेत्र से अलग रक्खा था तो वह उनके लिये

अच्छा था, क्योंकि उस समय की सामाजिक व्यवस्था अहिंसा मूलक थी। लोग एक दूसरे के प्रति प्रेमपूर्वक रहते थे, अतः उस समय उन आचार्यों ने सामाजिक क्षेत्र से अलग रहकर केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में स्याद्वाद को विकसाया तो यह हानिकर नहीं था। लेकिन आजकल परिस्थिति बदल गई है। आज मानव मानव का खून चूसने को तैयार है। धनवान जिस हाथ से लाखों का दान करते हैं उसी हाथ से बेचारे गरीब लोगों के गले पर छुरी चलाने में जरा भी अधर्म नहीं मानते। धर्मगुरू भी धर्मस्थानकों में जाकर अहिंसा, दया, क्षमा इत्यादि विषयों पर बड़े बड़े भाषण देते हैं लेकिन आपस में इतने लड़ते हैं कि जिसकी कोई सीमा नहीं। मास्टर लोग कालेज में अच्छे अच्छे नीति के पाठ पढ़ाते हैं लेकिन घरपर जाकर अनीति से चलने में जरा भी पाप नहीं समझते।

गरीब लोग रातदिन मजदूरी करते हैं फिर भी उनको खाने को नहीं मिलता उनके बच्चों को पीने को दूध, खाने को घी और पहिनने को कपड़े भी नहीं मिलते बीमारों को दवाई नहीं मिलती।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को फौरन छीन लेता है और अपने को अच्छा मानता है। चारों ओर हिंसा और शोषण का साम्राज्य फैल गया है। इस प्रकार आधुनिक समाज व्यवस्था हिंसामूलक बन गई है, अत अब स्याद्वाद को और अहिंसा को भी पुस्तकों में और उपाश्रयों में रखने से जरा भी काम नहीं चलेगा।

अब तो विश्व की नवीन समाज रचना के लिये जैन तत्ववेत्ताओं को अपना कदम पहले उठाना चाहिये। खुद भगवान् महावीर ने भी इस स्याद्वाद के सिद्धान्त द्वारा ही उस समय की सामाजिक समस्याओं को हल किया था।

आजकल के नवजवानों को धर्म के विषय में रस नहीं है उसका कारण केवल यही है। वे हमारे पास आते हैं और पूछते हैं कि क्या स्याद्वाद में समन्वय कराने की शक्ति नहीं है? अगर है तो फिर श्वेताम्बर दिगम्बर मामूली बातों पर क्यों लड़ते हैं। विधवा विवाह, बाललग्न, वृद्धलग्न इत्यादि समस्याओं को हल करने की ताक़त यदि जैन फिलॉसॉफी में नहीं है तो केवल उसका आसरा लेकर हम क्या करें?

देखिये तो जरा, कि गांधीजी और जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई और राजेन्द्रबाबू इत्यादि देश नेताओं का आचार हमारे जैनतत्ववेत्ता साधु मुनिराजों के आचारों से अधिक ऊँचा नहीं है। मेरे ख्याल से वे जैन साधुओं की आचार के विषय में बराबरी कर ही नहीं सकते, लेकिन आज सारा भारतवर्ष तो क्या सारी दुनिया भी गांधी और जवाहरलाल की ओर देख रही है। हमारे साधु मुनिराज पैदल विहार करके उपदेश देने जाते हैं, लेकिन उनकी कोई नवयुवक सुनता भी नहीं। समस्त विचारशील वर्ग गांधीजी की ओर आकर्षित है। इसका कारण क्या है? इसका कारण स्पष्ट है कि आजकल जमाना बदल गया है। आज तो साइन्स का जमाना आगया है फिर भी जैन साधु और तत्ववेत्ता अपने को सामाजिक क्षेत्र से ज्यों

बन सके त्यों अलग ही रखना चाहते हैं। और स्याद्वाद एवं अहिंसा को केवल पुस्तकों में ही रखने का आग्रह नहीं छोड़ते।

प्राचीन ब्राह्मण तत्त्ववेत्ताओं की तरफ जरा देखियेगा तो मालूम पड़ेगा कि वे राजाओं के द्वारा पूजे जाते थे। राजा के न्यायालय में उनका मुख्य स्थान था। राजा के वे विश्वासपात्र थे। राजनैतिक समस्याओं पर वे राजा को सलाह देते थे।

यूरोप की ओर देखते हैं तो सोक्रेटीज, प्लेटो और एरीस्टोटल बड़े ही फिलॉसॉफर थे लेकिन उन्होंने अपनी जिन्दगी राजनैतिक क्षेत्र में ही व्यतीत की।

फिलॉसॉफी का उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र में नहीं होगा तो फिर कहाँ होगा? इसलिये जैन फिलॉसॉफी के हृदयभूत स्याद्वाद को व्यवहार में लाना चाहिए। वर्तमान भारतीय कॉंग्रेस अहिंसा और स्याद्वाद का उपयोग कर रही है। मेरी समझ से तो जैनों ने अपने स्याद्वाद रूप अमोघशस्त्र को अपने हाथ से गुमा दिया है जिसका कि दूसरे लोग उपयोग करते हैं।

अन्त में स्याद्वाद को व्यवहार में लाकर नवीन भारतीय समाज रचना में उसकी अमूल्य भेंट रखना चाहिये ताकि आज गांधीजी के प्रति जैसे विचारशील वर्ग का आकर्षण है वैसे जैनधर्म के प्रति भी हो।



प्रभु महावीर की संघ-व्यवस्था

लेखक—धीरजलाल केशवलाल तुरखिया



प्रभु महावीर की संघ-व्यवस्था बहुत व्यवस्थित और सुन्दर है। उस वक्त कितनेक राज्य भी 'गणतंत्र' से चलते थे। आज ढाई-हजार वर्ष के बाद समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातंत्रवाद आदि जो उपस्थित हो रहे हैं, वे भगवान् महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध के जमाने में सफलता से कार्यान्वित थे।

प्रभु महावीर ने अपने धर्म शासन में संगठन और व्यवस्था को दीर्घकालिक सूत्रबद्ध बनाये रखने के लिये "संघ-व्यवस्था" रचना की है तदनुसार २४०० वर्ष के बाद भी सुचारुरूप से यह संघ व्यवस्था अविच्छिन्न रूप से धारा प्रवाह चली आ रही है।

प्रभु महावीर ने धर्म मार्ग में श्रम-यत्न पुरुषार्थ करने वालों को 'श्रमण' कहा है। यद्यपि आज 'श्रमण' शब्द सिर्फ साधुओं के लिये रूढ़ हो गया है। जैसे कि आवश्यक छः हैं, उसमें प्रतिक्रमण नाम के चौथे आवश्यक की मुख्यता लेकर सभी आवश्यकों को 'प्रतिक्रमण' के नाम से पुकारा जाता है।

'चउविहे श्रमण संघे पन्नते'। चार प्रकार के श्रमण संघ कहे हैं–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। संघ इसको 'चतुर्विध संघ' भी कहते हैं। इसको 'तीर्थ' भी कहा है। जिससे तिरा जाय, संसार सागर को पार किया जाय। वासनाओं से छूटकर आत्मशुद्धि की जाय, उस साधन को तीर्थ कहते हैं। बिना 'रत्नत्रय' ज्ञान दर्शन-चारित्र के वासना मुक्त होकर आत्म शुद्धि नहीं हो सकती। इन रत्नत्रय के धारक त्यागी पुरुष को "साधु" त्यागी स्त्री को 'साध्वी' गृहस्थ को 'श्रावक' और गृहस्थिनी को 'श्राविका' कहा है।

त्यागी और गृहस्थ के चारित्र पालन की मर्यादा में अन्तर है, जब कि, ज्ञान-दर्शन सबको समान हो सकते हैं। इन चार तीर्थों की (संघ) को स्थापन करते हैं इसीलिये भगवान् 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। तीर्थंकरों ने संघ को अत्यधिक महत्व दिया है। इसीलिये कुछ आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि प्रभु देशना (व्याख्यान) के समय 'णमो संघस्स' शब्दों से 'संघ' को नमस्कार करते हैं।

'संघ' है भी ऐसी व्यवस्थित संगठित शक्ति।

व्यवस्थित संगठित जन-समुदाय को 'संघ' कहते हैं। संगठन की शक्ति अलौकिक अपराजित है, इस को सिद्ध करने की आवश्यका ही नहीं। संसार के सब जड पदार्थ भी इसके मूर्तिमन्त उदाहरण हैं। स्वयंसिद्ध वस्तु के लिये विवेचन करना अनावश्यक है।

रत्नत्रय के धारक-जिनप्रभु के आराधक 'जैन' मात्र एक अखण्ड और अविभाज्य संघ है। चारित्र की तारतम्यता के कारण ही साधु–साध्वी और श्रावक–श्राविका, के प्रकार किये हैं। उक्त दो वर्ग भी परस्पर की साकल से जोड़ दिये हैं।

त्यागी वर्ग (साधु–साध्वी) का कर्तव्य अपने व्रतों का पालन करना, सर्व-शक्तिको आत्म शुद्धि, मोक्ष मार्ग की ओर लगाना और गृहस्थोंको धर्म मार्ग पर लगाना है इन त्यागी साधु–साध्वियों का स्थान संघमें 'गुरु-पद' का है।

गृहस्थ वर्ग (श्रावक-श्राविका) का कर्तव्य अपने देशव्रतों का पालन करना, न्यायोपार्जित द्रव्य से अपने परिवार का पोषण करना,-साधु साध्वियों की निर्दोष आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना, संघकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना और साधर्मियों की हर प्रकार सेवा करना है। संघकी दृष्टि से श्रीमंत-गरीब या उच्च-नीच जाति कुल का कोई भेद नहीं होता। साधर्मी भाईका प्रेमीय सम्बन्ध निकट की रिश्ते-दारी से अधिक बनाते हुए एक आचार्यने कहा है 'साहु सगमण सामी भाईन्नु'

आज भी इसकी प्रतीति धर्मस्थानों में, संघ जीमणमें, यात्रा में सर्वत्र हो रही है। इसी प्रकार की संघ व्यवस्था पंचमकाल के अंत तक अर्थात् भावी साढे अठारह हजार वर्ष तक चलती रहेगी-ऐसे सर्वज्ञ वचन हैं।

साधु वर्ग और श्रावक वर्ग के पारस्परिक सम्बन्ध की योजना प्रभु ने इस प्रकार स्थापित की है कि-

साधु साध्वी वर्ग वैसे तो श्रावक श्राविका संघ के 'गुरुपद' पर है; परन्तु साथ ही श्रावक श्राविकाओं को 'अम्मा पिया' माता पिता भी कहा है। अर्थात् साधु साध्वी वर्ग श्रावक श्राविकाओं को पिता माता तुल्य समझें। क्योंकि निष्कंचन, निरारंभी साधु साध्वियों का संयम मार्ग, देह-यात्रा और धर्म प्रचार का कार्य गृहस्थों के सहयोग से ही होगा और गृहस्थ (श्रावक श्राविका) संघ साधु साध्वियों के चारित्र, संयम, त्याग के कारण उन्हें 'गुरु' मानकर पूज्यभाव रक्खें और उनकी सत्प्रवृत्तियों में अपना तन, मन, धन, शक्ति लगाते रहें।

साधुओं का कर्तव्य गृहस्थों को दुर्व्यसन, कुमार्ग से छुड़ाकर सन्मार्ग-धर्म मार्ग में लगाना है वैसे सुज्ञानी श्रावक श्राविकाओं का कर्तव्य साधुओं के चारित्र, त्याग, संयम की सार सम्हाल करने का है। छद्मस्थ दशा होने से साधु वर्ग का जहाँ प्रमाद-भूल स्खलन होता हो उसे सुधार कर उचित मार्ग पर लगाने का है।

इस प्रकार चतुर्विध श्रीसंघ भिन्न २ मोतियों की एक माला है। पृथक् २ अंकोड़ों की एक सांकल है। परस्पर आधारभूत है। इसीसे श्री संघ की शोभा है, संगठन बल है और समृद्ध है।



विश्व की वर्तमान समस्याएं और जैनधर्म

लेखक—महत्ता शान्तिचन्द्र जैन "विशारद" वगड़ी—सज्जनपुर (मारवाड़)



श्व की वर्तमान व्यवस्थाः—संसार के द्वितीय महायुद्ध का पर्दा गिर चुका है। एक लम्बे समयके पश्चात् यद्यपि मशीनगन और परमाणु बम का भीषण ताडवनृत्य समाप्त हो चुका है और दुनिया के साम्राज्यवादी नाना प्रकार से अपना बाह्यरूप परिवर्तित हुआ दिखाना चाहते हैं तथापि इन मानव नामधारी दानवों की खूनी प्यास का अन्त नहीं हुआ है और पर्दे की ओट में स्थान२ पर अपने२ स्वार्थों के कारण भीषण आन्तरिक संघर्ष होरहे हैं। संसार के शासितों की आंखों में धूल झोंकने के लिये साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा सेनफ्रांसिस्को (अमेरिका) में शान्ति एवं सुरक्षा स्थापन के लिये एक अद्भुत नाटक रचागया तथा गुलाम देशों की स्वातंत्र्य भावनाओं को धोखा देने के लिये खासे अच्छे केवल लेखिक प्रस्ताव पास किये गये। लेकिन वास्तव में जब तक साम्राज्यवादी लिप्सा का अन्त नहीं कर दिया जाता, तब तक संभव नहीं कि संसार में पूर्ण शान्ति व सुरक्षा की स्थापना हो सके। दुनिया के बड़े २ शक्तिशाली देश चाहते हैं कि संसार की बहुसंख्यक जनता को परतंत्रता के पाश में बद्धकर अपने सम्राज्य की जड़ों को मजबूत बनाया जाय और साम्राज्यों को चूसकर अपने

देश को पनपाया जाय। यह हीन मनोवृत्ति ही आज विश्व में अशान्ति एवं युद्ध का प्रलयंकारी वातावरण फैलाये हुए है। ईरान के तैलक्षेत्रों में रूस और ब्रिटेन दोनों ही अपना प्रभुत्व जमाया चाहते हैं, तो जावा और हिन्दचीन के स्वातंत्र्य संग्राम को डच और फ्रेंच साम्राज्यवादी सरकारें निरंकुशतापूर्वक दमन कर रही हैं। इधर यद्यपि भारत की आजादी की चिनगारियों ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींवको हिला दिया है, तथापि वह मधुर शब्दावलियों द्वारा भारतीयों को फुसलाया चाहती हैं और अपनी अनधिकार चेष्टा का प्रदर्शन कर रही हैं। संक्षेप में इस प्रकार विश्व का वातावरण महायुद्ध के समाप्त हो जाने के बावजूद भी अत्यन्त ही संकट-पूर्ण एवं विषैला बना हुआ है।

जैन धर्म की क्षमता—उपरोक्त परिस्थिति का अवलोकन करने के पश्चात् हमें यह विचार करना है कि जैन धर्म संसार में सच्ची शान्ति स्थापन करने की क्षमता रखता है या नहीं? इस अंधकारयुक्त विश्व में जैनधर्म के पावन सिद्धान्त प्रकाश स्तंभ का काम करते हैं। इन सिद्धान्तों का मनन एवं आचरण करने से सुदीर्घ सुख तथा शान्ति की स्थापना की जासकती है। जनता यदि इन सिद्धान्तों के महत्वको समझे और संसार की प्रमुख शक्तियाँ अपना हृदय परिवर्तन कर संसार के कल्याणकारी सिद्धान्तों का मनन करें तो कोई शक्ति के आगमनको रोक नहीं सकती और इस कार्य से नूतन युग का निर्माण होगा, जिसमें मानव की सर्वतोमुखी उन्नति दृष्टिगोचर होगी।

अहिंसा से विश्व-बन्धुत्व (Universalism)—इस दुनिया की सारी बीमारी को जैन धर्म की दिव्य बूटियाँ अल्पकाल में रफा कर सकती हैं। दैत्य भावनाओं को विनष्ट करने में दैवी रत्न अहिंसा का सिद्धान्त (Dectyine of-Non-voilence) अनुपम ज्योति प्रदान करता है। स्वार्थों के संघर्ष को समाप्त करने के लिये इस शस्त्र का उपयोग पूर्ण साफल्यका सूचक होगा। जब एक व्यक्ति या राष्ट्र धन, जमीन या किसी दूसरे भौतिक स्वार्थके लिये अन्य पर आक्रमण करता है तो उसका मूल कारण स्वार्थों का संघर्ष होता है। वह अपने स्वार्थों के लिये दूसरों के स्वार्थों को कुचल डालना चाहता है। इस प्रकार सबल निर्बल को दबोचने की ताक में बैठा रहता है। परिणाम स्वरूप संसार में अशांति की ज्वाला जल उठती है। उस प्रलयंकारी अग्नि को शांत करने के लिये अहिंसा के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं। अहिंसा से तात्पर्य है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से घबराते हैं, इसलिये दूसरों के दुःखों को दूर करने में ही सुख माना जाय। अर्थात् विश्वबन्धुत्व एवं शांति का प्रचार तथा हिंसा एवं ममत्व का त्याग—"सत्वेषु मैत्रीम्" की शुभ भावना को हृदय में जमा देना। जैन धर्म एक ओर प्राणियों पर दया करने का उपदेश देता है तथा दूसरी ओर अपने स्वार्थों को कम करने पर जोर देता है। मनुष्य या राष्ट्र की आवश्यकताओं को इतना सीमित कर देना चाहिए ताकि दूसरों के स्वार्थों को हनन करने का अवसर पैदा न हो। शारीरिक

ही नहीं अपितु मानसिक कष्ट देना भी जैन धर्म को मान्य नहीं। फिर कौन यह कहने का साहस कर सकेगा कि जैन धर्म संसार में शान्ति स्थापन में असमर्थ है? अहिंसा का धार्मिक ही नहीं वरन् व्यवहारिक रूप अधिक महत्व रखता है। विश्व-प्रेम एवं सहानुभूति का संचार कर पूर्ण स्वतंत्रतायुक्त समानाधिकार स्थापित करने में ही अहिंसा का गूढ़ अर्थ निहित है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के निम्न लिखित कथन से कोई भी जैनधर्म एवं अहिंसा के महत्त्व को सरलतया समझ सकता है—

"Mahavir proclamed in India the message of Salvation and Non-Voilence that religion is realty and not mere a Social Convention, that Salvation and peace comes from taking refuge in this religion and this religion cannot regard any barrier between man and man as an eternal verity"

स्याद्वाद से विचार-समता—जैनधर्म का मौलिक सिद्धान्त स्याद्वाद-अनेकान्त वाद विचारों के संघर्ष का भारवहन करने में समर्थ है। वास्तव में इस सिद्धान्त का जितना अधिक मनन एवं अध्ययन किया जायगा, उतना ही विचार वैमनस्य को दूर करने का सुन्दर मार्ग दिखाई देगा। यदि यह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा कि भगवान महावीर की अधिकांश प्रतिभा इन्हीं दो सिद्धान्तों-अहिंसा एवं स्याद्वाद में निहित है, जो संसार को शान्ति पथ पर अग्रसर करने का सरल संदेश देते हैं।

अनेकान्तवाद का महत्व एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट हो जायगा। एक बार जन्मान्धों ने एक हाथी देखा- किसी ने पैर पकड़ा, किसी ने सूंड, किसी ने कान, दांत इत्यादि। एक ने कहा—हाथी खंभे के समान है। अन्य ने कहा- अजगर के समान है, सूप के समान है, भाले के समान है इत्यादि... । सभी अपने २ कथन की सिद्धि के लिये आपस में झगड़ने लगे। तब तक अन्य सज्जन व्यक्ति ने कहा- आप में से प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक अंशों में ठीक है, यदि सब अपने मतों को इकट्ठा करें तो पूरा हाथी बन जायगा। परन्तु एकान्त अपने ही मत को पकड़ बैठने से सभी का कथन सर्वथा असत्य गिना जायगा इस प्रकार एकान्तवाद असत्य है, उलझन है, और अनेकान्तवाद सत्य व सुलझन है। उस हाथी के समान सत्य एक अखंड व सनातन है परन्तु उन अंधों की तरह भिन्न २ विचार वाले व्यक्ति पूर्ण सत्य के अभाव में अपने सत्यांश को ही पूर्ण सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। एकान्तवाद से विचार वैमनस्य बढ़ता है। और अनेकान्तवाद से विचार साम्य। इस प्रकार अनेकान्तवाद एक ऐसा सांचा है जिसमें सत्य के भिन्न२ खंडों को ढालकर उन्हें पूर्ण व अखंड सत्य का रूप दिया जाता है। अवश्य ही स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) विश्व की विचारनैक्यता को विनष्ट करने में पूर्ण समर्थ है अनेकान्तवाद विश्व के इस अन्धकारमय वातावरण में ज्ञान की तीव्र ज्योति फैंकता है, जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से विचार साम्य एवं शान्ति का मार्गान्वेषण किया जा सकता है।

दया से शान्ति एवं सुरक्षा -(Peace and Secuyity) अहिंसा का सहयोगी सिद्धान्त है दया या करुणा। गांधीजी के सिद्धान्तानुसार पूंजीवादी यदि अपना हृदय परिवर्तन कर गरीबों पर पूर्ण दया भाव रखें और उनके जीवनक्रम को उच्च धरातल पर ला रखें तो उनके विनाश की कोई आवश्यकता नहीं–उचित ही प्रतीत होता है। वास्तव में दया ऐसी भावना है जो हृदय को द्रवित कर देती है और प्राणियों को दुःख देना तो दूर रहा, उनका दुःख देखना भी असह्य हो जाता है। यही कारण है कि जैनधर्म में दया को अत्यधिक महत्व दिया गया है। पूंजीवाद के विनाश की यही आवश्यकता है कि पूंजीवादियों ने शोषण शस्त्र के द्वारा गरीब जनता को अत्यन्त पीड़ित कर रखा है परन्तु यदि वे गरीबों पर दया रखें एवं अपने स्वार्थों को भी छोड़कर सर्व प्रथम उनकी अवस्था को सुधारने का निश्चय करें तो अन्य कोई उपाय जिससे पूंजीवादियों को मिटाना पड़े काम में न लाना पड़ेगा। साम्यवाद का स्वतः ही प्रसार हो जायगा और बिना किसी रक्तपात और हिंसात्मक कार्यों के ही संसार में शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हो जायगी। फिर हमें महा-युद्धों के विनाशकारी दृश्य न देखने होंगे और न निरीहजनता का विनाश ही होगा।

कर्मवाद से जाति वहिष्कार (Abolition of caste System) हमारे भारत में जाति प्रथा की समस्या अत्यन्त ही पेचीदी होरही है। जाति भेद के कारण प्रत्येक मनुष्य का प्रेम व सौहार्द्र्य स्वजाति तक ही सीमित व संकुचित रहता है। वह अन्य जाति वालों से पृथक्सा रहने और नीची नज़र से देखने लगता है। जाति प्रथा जो प्राचीन समय में संभवतया लाभदायक रही होगी, परन्तु वर्तमान में यह प्रथा अत्यधिक हानि प्रद तथा विद्वेषकारिणी प्रतीत होती है। निम्न जाति वाले सामाजिक भय से अपने आप को शिक्षित एवं संस्कारित नहीं बना सकते तथा व्यक्तिगत पूर्ण स्वतंत्रता तक भी उन्हें प्राप्त नहीं है। इस प्रकार समय की गति के अनुसार मानव मानव को समानता की दृष्टि से देखना चाहिये, जाति भेद का विद्यमान होना अवश्य ही लज्जास्पद सा दिखाई देता है। जैन धर्म को जाति भेद कतई मान्य नहीं है। कर्महीन ब्राह्मण को वह सुसंस्कारित शूद्र से श्रेष्ठ नहीं मानता। जैनधर्म तो केवल कर्त्तव्याकर्त्तव्य के अनुसार ही जाति भेद मानता है। जो वास्तव में परम आवश्यक बात है और जिसे मानने से कोई इनकार नहीं कर सकता।

"कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा हवई खत्तियो ।
कम्मुणा सुद्दओ होई, कम्मुणा होई वेसियो ॥"

उत्कृष्ट कर्त्तव्य करने पर शूद्र भी ब्राह्मण के लिये पूजनीय हो जाता है। इस प्रकार जैन धर्म का यह कर्म–कर्त्तव्य का सन्देश प्रत्येक मनुष्य की उन्नति का रास्ता साफ करता है तथा जाति भेद के बन्धन को तोड़कर मानव समानता का सुनहला सिद्धान्त उपस्थित करता है।

स्त्री-पुरुष-समानाधिकार—जैनधर्म स्त्री पुरुषों के समानाधिकार को भी स्वीकार करता है। यह प्रश्न आज संसार की प्रमुख समस्या बनी हुई है। जैन धर्म के अनुसार स्त्री भी पुरुष के समान ही प्रत्येक क्षेत्र में समान उन्नति कर सकती है। स्त्री भी मुक्ति प्राप्त कर सकती और पुरुष भी—इसके विपरीत स्त्री नरक भी प्राप्त कर सकती है और पुरुष भी—कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री भी पुरुष के ही समान उच्च से उच्च और हीन से हीन कार्य भी कर सकती है जब धार्मिक कार्यों एवं सफलताओं में स्त्री पुरुषों का समानाधिकार जैन धर्म द्वारा घोषित किया गया है तो सांसारिक क्षेत्र में याने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक इत्यादि क्षेत्रों में तो स्त्री पुरुषों का समानाधिकार स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

ज्ञान क्रिया का महत्व—जैन धर्म इस क्षेत्र में भी अधिक जोर देता है कि प्रत्येक मनुष्य को विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और साथ २ उसके अनुसार आचरण करना चाहिये। जिससे उसके सांसारिक व आध्यात्मिक दोनों जीवन आदर्श व उच्च बन सकें। आध्यात्मिकता की पूर्णता याने मोक्ष को प्राप्त करने के लिये तो "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" का स्पष्ट सन्देश जैन धर्म देता है जो वास्तव में आचरणीय है।

कर्मठता की सीख—"जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा—" जैन धर्म का सुन्दर तथा शिक्षा भरा वाक्य है जो कर्मठता की अनुपम शिक्षा प्रदान करता है। जब तक मनुष्य सांसारिक जीवन में चतुर्मुखी उन्नति नहीं कर लेता, तब तक धार्मिक कार्यों में भी उन्नति नहीं कर सकता। राजनैतिक, आर्थिक याने सांसारिक क्षेत्रों की शूरता ही धार्मिक शूरतामें परिणित होकर अधिक ज्योति प्रदान करती है। इस प्रकार इस वैज्ञानिक युग में जैन धर्म सर्वत्र उन्नत बनने का उपदेश देता है और कर्मण्य बन कर विकट परिस्थितियों का सामना करने की अद्भुत शूरता प्रदान करता है। जैन धर्म पर कायरता का लांछन लगाने वाले केवल सूर्य की तरफ धूल उछालने का कार्य करते हैं। जैन धर्म सदैव से शूरता का चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो—सांसारिक या आध्यात्मिक—उपदेश देता है और प्रत्येक मानव के जीवन को सुनहली सीख देता है।

उलझनों की सुलझन—इस प्रकार जैन धर्म के सिद्धान्त ही विश्व की विकट व्यवस्था को सुलझाने में समर्थ है, बशर्ते कि संसार इनका पूर्णतया मनन एवं अध्ययन करें और आचरण करने का पूर्ण प्रयत्न करें। यह हम दावे के साथ कह सकते हैं कि अहिंसा के बल पर ही गांधीजी भारत में इतनी राजनैतिक जागृति कर सके हैं और देश को स्वतंत्रता के उच्च धरातल पर ला बिठाया है। अन्यथा यह कार्य एक शोषित एवं परतंत्र राष्ट्र के लिये हिंसा द्वारा कतई संभव नहीं था अहिंसा के समान ही जैन धर्म के अन्य सिद्धान्त भी संसार में सुख, शान्ति एवं सुरक्षा संचार कर सकते हैं। एक महापुरुष—कर्मयोगी के नेतृत्व में ये सिद्धान्त

सार में ऐसी ज्योति प्रदीप्त कर सकेंगे, जिसके तले संसार प्रेममय एवं शान्ति-क होगा तथा ज्ञान के प्रकाश में अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करता हुआ अपने ाध्यात्मिक जीवन को उच्च बना लेगा और यही सभी वादों और मतों का अन्तिम ाय है। अन्त में मैं लेखके कलेवर को अधिक न बढ़ा सर राधाकृष्णन् पल्ली, वाईस ांसिलर हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस के एक कथितांश को उद्धृतकर लेख को समाप्त रता हूँ जिस कथन में विश्व की उन्नति का स्पष्ट पथ दृष्टिगोचर होता है—

आज की दुनिया म. महावीर का विश्वप्रेम और अहिंसा संदेश चाहे कुछ अजीब ल्पना की सी बात लगती हो, पर यदि मानवता को विनाश से बचना है और ल्याण के मार्ग पर चलना है तो महावीर के अहिंसा के सन्देश को और उनके ताये हुए मार्ग (जैन धर्म) को ग्रहण किये बिना कोई रास्ता नहीं है। ”

जैन राजनीति पर विहंगम दृष्टि

लें० कामताप्रसाद जैन, D.L.; M.R.A.S.



वयोवृद्ध तपोधन श्री चौथमलजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जावेगा यह जानकर मुझे हर्ष हुआ उसके लिये मैं यह पंक्तियाँ इसीलिये लिख रहा हूं कि श्री चौथमलजी महाराज का जो ऋण मानव समाज पर है, उसके भार को हल्का कर सकूं यह तो नहीं, किन्तु कृतज्ञताज्ञापन अवश्य करूं। श्री महाराज का नाम मैंने सुन रखा था। मुझे यह आभास न था कि उनकी सौम्य-सुन्दर और गंभीर प्रभावोत्पादक मानव-मुद्रा के दर्शन का सौभाग्य मेरे लिए इतना सुलभ होगा, जितना वह हुआ। इसे मैं सौभाग्य ही कहूंगा। सन् १९३८-३९ में मैं कार्यवश जसवन्तनगर (इटावा) गया था। श्री शिवचरणलाल जैन ट्रस्ट-भवन के पास धर्मशाला थी। ट्रस्ट-भवन में मेरी बहन विदुषी स्व० केतकीकुंआरि ने मुझे बताया कि वहां कोई श्वेताम्बर यति म० ठहरे हुए हैं। उनकी वाणी प्रभावक है—रोज ही मानवसमुदाय उनका वचनामृत-पान करने को बिना बुलाये चला आता है। मुझे उत्सुकता हुई कि देखूं, कौन महाभाग हैं? किन्तु मैं इधर संकल्प करता रहा और उधर किसी ने मेरे आने की बात संघ में कह दी। याद नहीं पड़ता, किसने आकर कहा कि मेरी बुलाहट होरही है। कितनी सरलता और निस्पृहता का भाव भरा था उस बुलाहट में! महानता इसीका तो नाम है। धर्मशाला में चबूतरे पर बैठे हुये श्री चौथमलजी म० भाषण दे रहे थे। उनकी वाणी मार्मिक थी—उसमें अनुभूति की पुट जो थी, मानव-मन को वह झंकृत कर देती थी। जीवमात्र उसको सुनकर 'अपनापन' पा लेता था। पहले तो

उनका गंभीर गौर वर्ण का मुखचंद्र ही मानव-मनको आकर्षित करने के लिये पर्याप्त था। उनके दूध से घुले सफेद चांदी जैसे शिरकेश मानो उनके हृदय की निर्मलता को बता रहे थे; उसपर उनकी मीठी वाणी मन मोहक थी। पर उससे मानव मन में विवेक जगता था। वह जो कहते उसी को संगीत में गाकर साकार बना देते थे—वे पद्य उन्हींकी सुन्दर रचना थे। उनके शिष्यगण उन पद्यों को दुहरा कर एक प्रभावक स्वरलहरी उत्पन्न कर देते थे। मैं एक ओर बैठा हुआ, इस धर्मामृत का रसपान करता रहा। प्रवचन समाप्त हुआ और मानव अब भी अतृप्त थे। वह कल फिर उस अमृतपान की आशा लेकर वहां से गये। अब मैं निकट ही था महाराज श्री ऐसे बोले मानो वह चिर परिचित हों। साहित्यिक बातें हुईं ज्ञान की भी हुईं और साम्प्रदायिक मान्यताओं पर भी। पर चौथमलजी तो सागर के समान विशाल थे। उनसे बात करके मुझे संतोष हुआ, इतना ही नहीं, मैंने एक 'निधि' को पाया। वह मानव की नहीं, लोक की निधि हैं। वह सच्चे जैन हैं—सज्जन और जितेन्द्रिय साधु। लोकोपकार में निरत भारत में पैदल घूम २ कर वह आत्मज्ञान की गंगा बहाते हैं और श्रम नहीं मानते इसलिये वह सच्चे श्रमण हैं। नीच ऊँच, गरीब अमीर-सभी तो उनके कृपापात्र हैं। गरीब की कुटिया की दरिद्रता भी उन्होंने देखी है और बड़े २ राजा नरेशों के महल भी। दुखियों के दुख दूर करने में उनको कितना आनन्द आता होगा, यह वही जानें। किन्तु हम जानते हैं कि राजशासकों को वे अहिंसा के प्रेमी बनाते हैं। उन्होंने कई राज्यों में अमारी घोषणायें कराई हैं-जीवमात्र अभय हो, यही तो महानता है। मानव स्वाधीन बने, यह ठीक है। किन्तु लोक का निम्नतम प्राणी भी क्यों न अभय और स्वाधीन हो? मानों इस तर्कसिद्ध सत्य को श्री महाराज का पुण्य-कार्य स्पष्ट करता है। जैन राजनीति ऐसे ही साधुओं द्वारा अनुप्राणित होती आई है। अतः आइये पाठक, जैन राजनीति पर यहां एक विहगम दृष्टिपात करें।

जैनकी मान्यता है कि इस भरतक्षेत्र में कालचक्र की फिरन से पलटन होती रहती है। समय एकसा नहीं रहता और उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र, भाव, भव भी एकसे नहीं रहते। यहां इस युग कल्पकाल के आदि में मानव सौभाग्यशाली था-कोई फिकर न थी उसे। वह भोग भोगने में आनन्द विह्वल था। घर-कुटुम्ब की बाधा उसे नहीं थी। मेरे-तेरे की संकीर्ण भावना उसके हृदय में नहीं जगी थी। श्रम भी उसे नहीं करना पड़ता था। युवा रहता था मानव और युवती थी मानवी। जरा उन्हें जर्जरित नहीं कर पाती थी। पूर्ण आयुष्य होकर वह भोग भोगते थे। उनके इच्छायें थी, पर आवश्यकतायें अधिक नहीं थीं। उन इच्छाओं को वे विशेष प्रकार के वृक्षों से पदार्थ पाकर पूरी कर लेते थे। मगन थे मानव। दैव को उनसे ईर्ष्या हुई। काल और दैव सहयोगी हैं। तब दैवी की सहायता के लिये काल आगे आया। दैव की मनचेती हुई। अब वह सुखद समय सरक चला।

सरल हृदय मानव सुखी था। दैवने उसके हृदय की सरलता का अपहरण

किया। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह-ये संज्ञायें जीवमात्र के होती हैं। आदि-कालीन मानव आहार के लिये दुखी न था। युवक और युवती पूर्ण स्वस्थ्य रहकर कामपुरुषार्थ का भोग करते थे। स्वाधीन थे वे इसलिये भयकी अभिव्यक्ति उनमें नहीं-सी थी। घर-कुटुम्ब उन्होंने आदिमें नहीं रक्खा, इसलिये परिग्रही भी वह अल्प थे। पर जो भी उनके पास था, उसे वे अपना मानते थे और जिनवृक्षों से आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, उनसे भी उनका ममत्व होना स्वाभाविक था। कालने उनके हृदयों में इस 'अहं' की अग्नि को सुलगाया-वे वृक्षों की मालिकी पर झगड़े। प्रकृत रूपेण उन्हें आवश्यकता हुई, 'कोई इस झगड़े को निपटाये।' मानव ने सब को देखा—उसने जिसे सबसे संतोषी और मनीषी पाया, वह उसके पास न्याय की आशा से गया। उस महामानव ने कल्पवृक्षों की सीमायें नियत करके मानव को न्याय दिया—मानव संतुष्ट हुआ। मानव ने खुशी से सीमंकर महामानव को अपना मार्ग पथप्रदर्शक नेता माना। वह 'मनु' कहलाया। ऐसे कई मनु हुए। मनु ने मानव को कुलों में बँटकर रहना सिखाया; इसलिये वह कुलकर भी कहलाये। मानव ने अपनी हितकामना से वह शासन स्वीकारा और मनु ने साथी मानव का उपकार करना अपना धर्म माना इसलिये पथप्रदर्शक और नियंत्रक का भार सहर्ष स्वीकारा। मानव ने राजनीति का प्रारंभ इस कल्पकाल के आदि में इस प्रकार किया अतः जैनदृष्टि से राजनीति की आधार शिला लोकोपकार की शुभ भावना है, जो अहिंसा में गर्भित है।

काल देव का सच्चा सखा निकला-जिसने ऐसा चक्र चलाया कि मानव महान् क्रान्ति करने के लिये बाध्य हुआ। 'अहंत्व' का दास जो बन चुका था वह। अन्तर से उसने अपनी स्वाधीनता स्वयं खोई। दैव यही तो चाहता था। अब मानव का वह सौभाग्य न था। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से करने में असमर्थ हुआ। ईर्षालु मानव की इच्छा-पूर्ति होना सुगम नहीं। वे वृक्ष भी मानव की ईर्ष्या देखकर लुप्त हो गये। क्या खाये मानव? क्या पहने मानव! जीवन निर्वाह की नई समस्या मानव के आगे भयंकर रूप में खड़ी थी। यहां मानव भयभीत हुआ। वह अन्तिम कुलकर नाभिराय के द्वार पर दौड़ा-दौड़ा आया। नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को देखा वे महान थे सामान्य नहीं, विशेष ज्ञानी भी थे। मानव ने अपनी जीवन-समस्या ऋषभदेव के सम्मुख प्रस्तुत की। ऋषभदेव ने स्थिति को समझा, मानव को सांत्वना दी और वह जीवन-क्रान्ति के लिये तैयार हुआ। कर्म (Aotions) करने का शऊर मानव को बताया और श्रम (Labour) का महत्व हृदयंगम कराया। कर्मभूमि का सिरजन महा-मानव ने ही किया। इस कर्मभूमि में कोई भी मानव श्रम किये बिना जीवित नहीं रह सकता। कृषिकर्म करो और चाहे कोई अन्य कर्म, पर कर्म करना अवश्य होगा। जीवन-निर्वाह के लिये यह आवश्यक 'शर्त' हुई। स्वाधीन मानव कर्म के जुये में जोत दिया गया। जिससे स्वाधीनता सीमित होगई। ऋषभ-

देव ने कुलकरों के प्रमादों को पूरा किया। इन्होंने महान् 'मानवराष्ट्र' की स्थापना की। जो मानव उद्दण्ड रहे और षट्कर्मोपजीवी नहीं हुए, वे इस मानव राष्ट्र से बहिष्कृत रहे। वनों में-कन्दराओं में-गुफाओं में-वे लुके छिपे फिरते रहे। नये जीवन के संस्कारों की छाया भी अपने पर नहीं पड़ने दी। सुसंस्कृत मानव ने असंस्कृत मानव को 'अनार्य' कहा। वह स्वयं 'आर्य' कहलाया। यह हुई महान् जीवन क्रान्ति।

ऐसे क्रान्ति से ऋषभदेव ने आर्य-संस्कृति और सभ्यता को जन्म देकर 'महा-मानव-राष्ट्र' की स्थापना की। अब राजनीति को अपना करतब दिखाने का अवसर हाथ आया। राष्ट्र और राजनीति साथ साथ चलते हैं। इसका कारण है। ऐसे महामानवराष्ट्र को अपने आसपास के अनार्य-मानव से सावधान रहना पड़ता था। अहंकार विरोध सिरजता है। इस विरोध का परिहार तो करना ही होता है। इस विरोध परिहार में जिस नीति का अवलम्बन किया जाता है, वही राजनीति है। ऋषभदेवजी ने आर्यों के 'महामानवराष्ट्र' की राजनीति अहिंसा पर अवलम्बित रक्खी थी। इन्होंने मानव को बताया, "स्वयं जीवो और दूसरों को जीवित रहने दो; बल्कि सबके जीवन सफल बनें वैसे परस्पर सहायक बनो।" इस शिक्षा में समष्टि का हित गर्भित था इसलिये राजनीति जनहित को आगे रखकर चली।

राष्ट्र की रक्षा और उत्थान के लिये सेना (Army), अर्थ (Finance) और श्रम (Labour) का वर्गीकरण समुचित होना आवश्यक है। राष्ट्र में सैनिक भावना जागृत रखने का अर्थ साहस की और त्याग की मात्रा को सजीव रखना आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मानव अपने पड़ोसी कमजोर मानव को धर दबोचे। सेना, अर्थ और श्रम का निर्माण अहिंसा के सिद्धान्त पर होना चाहिये। राष्ट्र के अङ्ग-अङ्ग में इन तीनों की समता और सामर्थ्य होनाही चाहिये। ऋषभदेवने मानव राष्ट्र को तीन वर्गों में अलग-अलग इसीलिये बांटा कि राष्ट्र का रक्षण और वर्द्धन समुचित हो। मानव रंगभेद या देश भेद में भूलकर राष्ट्रीयता का अन्त न करदे, इसलिये मानव के इस राष्ट्रीय वर्गीकरण में गुण प्रधानता को ही महत्व दिया। मानव में जहां २ दर्प और तेज देखा और देखा दूसरे की रक्षा करने का वीरभाव, वहां वहां वहां सैनिक का सच्चा आदर्श पाया। वह वर्ग क्षत्रिय कहलाया-राष्ट्रका वह छत्र था। जिनमानवों में ऋषभदेवने साहस और बुद्धि के साथ संचय-भावना पाई, वहीं पर अर्थ-सम्पन्नता का भार डाला गया। और वे वैश्य कहाये न्यायपूर्वक अर्थ संचय करके राष्ट्रको समृद्धिशाली बनाना जिनका कर्तव्य था। शेष मानव श्रम भार वहन करने के लिये स्वतंत्र था- वह महान् सेवा भावी बना। इस प्रकार राष्ट्रका वर्गीकरण राजनीति को शक्तिशाली बनाने के निमित्त हुआ। ऋषभदेव की आज्ञा से भरतक्षेत्रमें कई जनपदों की स्थापना हुई। प्रत्येक जनपद का एक शासक भी नियत हुआ। शासनाधिकारी सैनिकवृत्तिके मानव हुए। ऋषभ

देवके एक सौ पुत्र थे-वे भी विभिन्न जनपदों के शासक हुवे। उन शासकों से ही इक्ष्वाकु, कुरु, हरि, यादव, सूर्य, चंद्र आदि राजवंशों की उत्पत्ति हुई।

उस समय की राजनीतिने शासक की शक्ति को मंत्रिमंडल के आधीन रख कर सीमित बना दिया था- शासक अनीति का अवलम्बन न ले, इसीलिये यह प्रतिबन्ध था। एक कुटुम्बमें पिताको सत्ताधिकार इसीलिये प्राप्त है कि वह सारे ही कुटुम्बीजनों का समान रूप से हितचिन्तक होता है। राष्ट्र के लिए शासक भी पिता-तुल्य है। यदि वह अपने कर्तव्यसे च्युत होता है और जनहित से भटक जाता है, तो वह धर्मभ्रष्ट हो जाता है। जैन राजनीति कहती है कि धर्मभ्रष्ट शासक 'राजा' कहलाने के अयोग्य है। शास्त्रों में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं जिनमें धर्मभ्रष्ट शासकों के अन्तका उल्लेख है। ब्रह्मदत्त सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् भी धर्मभ्रष्ट होने पर नष्ट होता है। आवश्यकता पड़ने पर मंत्रीमंडल जनताके समक्षमें नवीन शासक को चुनने का भी अधिकारी था। चम्पाके अज्ञात राजकुमार करकंडु इसी तरह तो कलिङ्ग के अधिपति चुन लिये गये थे। अहिंसा ही तो जैन राजनीति का आधार है और शासकों को अहिंसा पर आरूढ़ रहने के लिये जैन आचार्य सदा सतर्क रहे हैं।

ऋषभदेव के पुत्र भरत हुये-वह पहले सार्वभौम सम्राट् थे। भरतक्षेत्र के आर्यों का महाराष्ट्र विविध जनपदीय शासकों में बंटा हुआ था। और बहुतसे अनार्य भी उद्दण्ड थे। यदि उस समय शक्ति को केन्द्रीभूत न किया जाता तो राजनीति संभवतः तभी रक्तरंजित हो जाती—अहिंसासंस्कृति तब पनप न पाती। भरत ने राष्ट्रोत्थान के लिये शक्ति को अयोध्या-नरेश में केन्द्रीभूत किया। वैसे सभी स्वाधीन थे; परन्तु अहिंसा संस्कृति की अभिवृद्धि के लिये प्रत्येक शासकको सम्राट् की सत्ता स्वीकार करना ही होती थी। भरत ने राष्ट्रहित के लिये ससैन्य सारे देश का भ्रमण किया। उनकी दिग्विजय धर्मपूर्ण थी। वह लोकोपकार भावना से अभिप्रेत थी। भरत ने लोक को अहिंसा-नीति का पुजारी बनाया। सब स्वाधीन रहे; परन्तु उद्दण्ड बनकर अहिंसा को लोपने और साथी मानव का अधिकार हड़पने के लिये स्वतंत्र न थे।

भरत के भाई बाहुबलि दक्षिण भारत में शासनाधिकारी थे। भरतकी राजनीति को वह समझे नहीं या उसको समझने का प्रयास उन्होंने नहीं किया यह हम स्पष्ट नहीं जानते। एक बात स्पष्ट है। बाहुबलि में स्वाभिमान की मात्रा अतिरूप में थी—उसमें अहंकार आ जमा था। वह भाई-भाई थे और थे अपने क्षेत्र के स्वाधीन शासक। बाहुबलि क्यों भरतका सत्ताधिकार मानें? राजनीति की बात उनके मन चढ़ी। भाइयों का युद्ध ठना। व्यक्तित्व और समष्टित्व एक दूसरे के आड़े आये। राजमंत्रियों ने मंत्रणा की। यह तै हुआ कि दोनों ओर की सेनायें मात्र दर्शक रहें—अकारण रक्त न बहायें। दोनों भाई अहिंसक युद्ध लड़ें। मल्ल युद्ध हुआ, नेत्र युद्ध हुआ। बाहुबलि के बल ने भरत को खिझा दिया। वह भूल गये, अहिंसा के आदर्श को। झट से क्रुद्ध हुव भरत ने भाई पर सुदर्शनचक्र का वार किया। किन्तु

प्रेम पर पशुबल विजयी नहीं हो सकता। चक्रप्रहार व्यर्थ हुआ। बाहुबलि का बाल भी बांका न हुआ। क्या भरत ने यहां भी अहिंसा-संस्कृति की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये चक्रप्रहार की विडम्बना की थी? सर्वज्ञ हो तो ठीक जाने। अहिंसक राजनीति कहनी-सी लगती है कि भरत अहिंसक राजनीति के ही आदर्श थे। बाहुबलि राजभार का जुआ उतार कर फेंक देते हैं। वह शरीर बन्धन से मुक्त होने के लिये योगी होते हैं और पूर्ण स्वाधीन बनते हैं। समष्टिहित के लिये भरत आये, बाहुबलि उनसे चार कदम आगे समष्टिहित के लिये बढ़ गये। जैन की अहिंसक राजनीति का यही तो महत्व था। उसमें अपने लिये कोई नहीं लड़ता था-सब के लिये यदि लड़ना भी पड़ता था तो खून नहीं गिरता था। कैसी भी वह स्वर्णिम राजनीति।

राजनीति का संरक्षण दण्डविधान में निहित है। अहिंसक राजनीति का दण्ड भी अहिंसक ही हो सकता है। प्रेम से ही तो बालक सुधरता है। बहके हुवे मानव को प्रेम ही सुधारता है। मानव मानव में प्रेम होना स्वाभाविक है। अहंकार का विभाव-विष मानव-मनको मैला न करे तो कभी खून बहे ही न। अतः अहिंसक राजनीतिज्ञ राष्ट्रके प्रत्येक मानव के हृदय में विश्वप्रेम की निर्मल गंगा बहाना कभी नहीं भूला। आचार्यों का कार्य ही यह था कि वे मानव को सन्मार्गी विश्वप्रेमी बनावें। फिर भी कोई सन्मार्ग से भटकता तो उस अपराधी के लिये तीन बड़े-से दण्ड थे। आज का मानव उन्हें बड़ा भले ही न मानें; परन्तु अहिंसक जैनयुग में उन तीन शब्दों की अमोघ शक्ति थी। 'हा'-'मा'-'धिक' जैन राजनीति का प्रारंभिक दण्ड विधान इन तीन शब्दों में ही ओत-प्रोत था। जैनयुग का मानव 'धिक्कार' में अपना मरण समझता था। आज का दण्डविधान अति कठोर है वह मानवके अमूल्य प्राणों की कीमत लगाता है। पर मानव को वह सुधार नहीं सका है। प्रतिशोध विद्वेष का दूसरा रूप ही तो है। आग से आग नहीं बुझती-पाप से पाप नहीं मिटता। तब दण्ड के हिंसाजन्य अपराध से अन्य अपराध कैसे मिटे? जैन राजनीति की विचारसरणी ऐसी ही रही है। उसमें प्राणदण्ड को प्रोत्साहन नहीं मिला। कभी २ किसी जैन राजा ने उसे भी रक्खा, परन्तु उसका प्रहार शायद ही हो पाया। दयालु जैनाचार्यों ने हस्तक्षेप करके उसे आजन्म देश-निर्वासन में पलट दिया। मनुष्य की उद्दण्डता ने दण्डविधान को कठोरता का बाना पहनाया है, जैन राजनीति फिर भी अहिंसा को न भूली। अपराधी को मानव की दृष्टि में लज्जित बनाना और उसके हृदय में अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना जैन राजनीति का ध्येय रहा है।

अहिंसक जैन राजनीति सदा सर्वदा सफल रही-मानव उसकी गोद में खूब फूलाफला। श्रेणिक बिम्बसार ने मगधसाम्राज्य की नींव इसीलिये डाली कि भारतीय संस्कृति केन्द्रीभूत हो। नन्दवर्द्धन ने ईरानियों को भगाकर उसे पुष्ट किया। अन्त मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसके वंशजों द्वारा भारत का एकीकरण हुआ और

अहिंसक राजनीति का विकास। श्री भद्रबाहु सदृश जैनगुरुओं ने राजा और प्रजा का पथ प्रदर्शन किया। उनके अहिंसक आदर्श का सिक्का सबके हृदयों पर अङ्कित हुआ। चाणक्य की राजनीति अहिंसाको भूली नहीं-चाणक्य भी तो श्रमणोपासक हुआ था। देश की समृद्धि हुई-लोक को उन्नति करने का अवसर मिला। विश्वप्रेम और विश्व शान्ति का सन्देश लेकर जैनगुरु विदेशों को भी गये। उस समय का स्वर्ण अवसर फिर समष्टि ने देखा, इतिहास शायद यह बतावे। परन्तु बृहद्रथ ने मौर्य्य साम्राज्य का ही अन्त कर दिया। हिंसक पशुबलिमय क्रियाकाण्ड को प्रोत्साहन मिला। हिंसा में शान्ति और ऐका कैसे रहे? देश में विक्षेप फैला। देश की शक्ति केन्द्रित नहीं रही-सब छिन्न भिन्न हो गये। फिर जैन राजनीति को यह सौभाग्य ही न मिला कि वह भारतीय मानवों को एक राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाती और उन्हें विश्वशान्ति का अग्रदूत बनाती यद्यपि यह सच है कि जैनाचार्यों ने अहिंसक राजनीति को बलवती बनाने के लिये सतत उद्योग किये-समय समय पर उन्हें सफलता भी मिली; पर वह आंशिक और अस्थायी थी। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने सम्राट् विक्रमादित्य को प्रभावित किया, तो कालकाचार्य ने धर्मनीति की रक्षा के लिये शकशाही शासन की नींव भारत में जमाई। श्री सिंहनन्दी आचार्य ने गङ्ग-साम्राज्य को जन्म देकर चाहा कि अहिंसक राजनीति समष्टि का पथ-प्रदर्शन करे और यही बात आचार्य सुदत्तजी ने होटसल राज्य को स्थापित करके करनी चाही। श्री हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल को इसीलिये प्रतिबोधा था। श्री जिनसेनाचार्य ने विश्वविख्यात् सम्राट् अमोघवर्ष को अहिंसा द्वारा समष्टिहित साधने को ही सम्बोधा। किन्तु दैवको यह इष्ट न था। वह हिंसक मानव को उसकी काली करतूत का पाठ पढ़ाने पर तुला था। ज्यों ज्यों मानव स्वार्थ लिप्सा में अन्धा हुआ हिंसक पशु होता गया, त्यों त्यों वह गृहकलह और विश्व कलह की धधकती आग में जलता रहा। गत महायुद्ध और सब ही युद्ध मानवकी दुर्भावना के दुखद दुष्परिणाम हैं। मानव यदि सुख और शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा नीति को अपनाना आवश्यक है। श्री चौथमलजी म. के आदर्श को अपना कर यदि साधुजन देश विदेश की राजनीति को अहिंसा से अनुप्राणीत करें तो लोक का कल्याण हो। क्या यह संभव है?



राज्य का जैन आदर्श

ले० ज्योतिप्रसाद जैन, विशारद, एम० ए, एल-एल० बी०



भगवान महावीर से पूर्व तथा उनके पश्चात् भी लगभग ६-७ सौ वर्ष पर्यन्त जैन साधु प्रायःवनवासी, संसार देह भोगों से विरक्त, ज्ञान ध्यान तपलीन होते थे। ये मुनिपुंगव बस्ती और गृहस्थियों से दूर ही रहने का प्रयत्न करते थे। दुनियावालों के साथ इनका सम्पर्क होता अवश्य था किन्तु वह सम्पर्क केवल पारमार्थिक दृष्टि से स्वपर कल्याण कर होता था। जो कोई गृहस्थी, राजा या रंक, स्त्री या पुरुष इनके पास जाता उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देते। समाज, राजाओं, राज्यों और राज्य शासन से ये प्रारंभिक जैनाचार्य कोई वास्ता नहीं रखते थे। इन संस्थाओं में इनकी उन्नति अवनति में भी कोई रुचि नहीं रखते थे।

अतएव राज्य शासन में ब्राह्मण वर्ग का ही हाथ प्रधानतया रहता रहा, राजनीति विज्ञान संबंधी जो सिधात, नियम, विचारधारायें, व्यवस्थायें ब्राह्मण विद्वानों ने धीरे धीरे स्थापित करदी थीं वही सर्वत्र व्याप्त होगई। भारतीय राजनीति के सर्व प्रसिद्ध गुरु चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यमन्त्री चाणक्य थे। सम्राट चन्द्रगुप्त की ही भांति वे भी जैन धर्मानुयायी थे ऐसा विश्वस्त अनुमान करने के पर्याप्त कारण हैं। किन्तु राजगुरु कौटिल्य के रूप में वह गृहस्थ ही थे साधु नहीं थे। अपने "अर्थ शास्त्र" में उन्होंने किसी धर्म विशेष की छाया नहीं पड़ने दी, और विषय का प्रतिपादन विशुद्ध वैज्ञानिक ढंगपर तथा पूर्णतया वस्तुपरक (Mactical) किया। अतः उक्त ग्रंथ पर से यह अनुमान करना कि उसका प्रणेता जैन था अथवा अन्य ही किसी धर्म का अनुयायी था, अत्यन्त कठिन है। उत्तरकालीन ब्राह्मण विद्वानों ने इन्हें ब्राह्मण धर्मानुयायी ही माना और शुक्र, बृहस्पति कामन्दक, वात्स्यायन, भृगु मागुरि, भारद्वाज, पराशर, विशालाक्ष आदि सभी राजनीतिज्ञों ने उनके सिद्धान्तों का अनुकरण एवं अनुसरण किया। इन ब्राह्मण विद्वानों ने नीति सम्बंधी अनेक ग्रंथ रचे और वह भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साथ साथ ही मान्य हुए।

बौद्ध भिक्षुओं ने प्रारंभ से ही अपने धर्म का उत्कर्ष साधन करने के लिये विभिन्न राजाओं को प्रभावित करना, नाना प्रकार की कूटनीति द्वारा राज्य और शासन कार्यों में दखल देना, राजपुरुषों और राज्य कर्मचारियों को अपने वश में रखना इत्यादि कार्यों को अपने संघ का एक खास लक्ष्य बनाया। राजनीति में इस प्रकार दिलचस्पी रखने के कारण इन्होंने तद्विषयक कुछ साहित्य भी रचा।

किन्तु जैनाचार्यों ने भारतीय राजनीति साहित्य एवं विज्ञान को जो अनुपम देन दी है वह बौद्धों की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल, विशद एवं महत्वपूर्ण है। जैनाचार्यों ने कौटिल्य तथा अन्य ब्राह्मण विद्वानों द्वारा प्रतिपादित, प्रचलित मूल मान्यताओं को अधिकांशतः स्वीकार किया, अनेक विषयों में पूर्व नीतिकारों के मत का अनुसरण भी किया। और ऐसा करना आवश्यक भी था, इनका उद्देश्य किसी कल्पित मनोराज्य को चित्रित करना तो था नहीं, उन्हें तो प्रचलित राजनैतिक सिद्धान्तों में और उक्त सिद्धान्तों के कारण चालू प्रथाओं, व्यवस्थाओं और विधानों में जो दोष आगये थे, समय की मांग के अनुसार उनका ही संस्कार करना था, उनमें ही समुचित सुधार करके एक नवीन और विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करना था। ब्राह्मण राजनीतिज्ञों के मतानुसार राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि होता था, प्रजावर्ग के लिये वह पिता ही नहीं स्वामी भी था, एक नेता नहीं वरन् देवता था। अपनी प्रजा के साथ सर्व प्रकार मनमानी करने का उसे अधिकार था। चाहे वह कितना मूर्ख, अन्यायी, उच्छृंखल, अत्याचारी, दुराचारी क्यों न हो, प्रजा उसकी सत्ता के विरुद्ध अंगुली भी न उठा सकती थी, राजद्रोह महा भयङ्कर पाप था, राजा का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था। उत्तराधिकार के विषय में भी प्रजा की कोई आवाज नहीं थी। वास्तव में राजा ही राष्ट्र था। राजा का यदि कोई कर्तव्य था तो केवल ब्राह्मण की रक्षा करना। ब्राह्मण वर्ग उसके लिये भी पूजनीय था, उनके अधिकार भी विशेष थे। ऐसी मान्यता और प्रथा के दुष्परिणाम भी यत्र तत्र लक्षित होते ही थे। तत्कालीन राजनीतिज्ञ भी इससे बेखबर न रह सके, प्रचलित राजनीति में सुधार की भारी आवश्यकता थी और इस आवश्यकता की पूर्ति जैन विद्वानों ने की।

जैनाचार्यों के हाथों राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति, तथा आदर्श संबंधी प्रचलित सिद्धान्त एक स्वतन्त्र एवं उदार दृष्टिकोण से नवीन रूप में ढाले गये और प्रशंसनीय विकास एवं विस्तार को प्राप्त हुए। साहित्य के रूप में उनके राजनीति संबंधी विचार उसी काल की उपज हैं जबकि हिंदु स्मृतियें तथा पुराण ग्रंथ रचे जारहे थे। जैन पुराण एवं चारित्र ग्रंथों में प्रायः, प्रसंगवश, नीति का उपदेश तथा राजनैतिक सिद्धान्तों की फुटकर व्याख्या मिलती है। और भगवत् जिनसेनाचार्य के आदि पुराण में तो जैन राजनैतिक सिद्धान्तों की सर्वोत्तम व्याख्या है। आचार्य हेमचन्द्र भी अन्य अनेक गुणों के साथ साथ एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ भी थे।

किन्तु राजनीति विषय पर एक स्वतन्त्र, सर्वप्रकार पूर्ण, सांगोपांग ग्रंथ रचने का श्रेय १० वीं शताब्दी ईस्वी के जैनाचार्य सोमदेवसूरि को है, ये देव संघ के आचार्य थे और वादामी के उत्तर कालीन चालुक्य वंश के राजमान्य गुरु थे और राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के समकालीन थे, इनका 'नीतिवाक्यामृत' संक्षिप्त सूत्र शैली में होते हुए भी विषय विवेचन तथा अपने प्रसाद गुण के लिये अनुपमेय है। यों तो उनके यशस्तिलक में, जो चम्पू शैली के काव्य का सर्व प्रथम

सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, उन्होंने राजा यशोधर को उपदेश देने के मिस राजनीति का अच्छा व्याख्यान किया है, और उनका एक अन्य, अब अनुपलब्ध ग्रंथ 'त्रिवर्ग-महेन्द्र मातलिसंजल्प' भी नीति विषयक ही था ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु 'नीति-वाक्यामृत' के रूप में तो उन्होंने अपने समय तक के सर्व प्राचीन अर्वाचीन नीति-ग्रंथों, नीतिज्ञों के विचारों, प्रचलित राजनैतिक सिद्धान्तों और प्रथाओं रूप नीति सागर का मन्थन करके प्रस्तुत नीतिवाक्यात्मक अमृत प्रदान किया है। उन्होंने राजनीति के अवस्थित ढांचे को मूलरूप में स्वीकार किया, पूर्वकालीन विद्वानों के अनेक विचारों को भी अपनाया किन्तु जहाँ जैसी आवश्यकता समझी, उनमें सुधार और संशोधन भी किया, कितने ही नवीन विचार भी प्रस्तुत किये और वस्तुतः अपने दृष्टिकोण की नवीनता और ताजगी द्वारा राजनीति में क्रान्ति पैदा कर दी और संसार के राजनीतिज्ञों में अपना विशिष्ट स्थान अमर कर लिया।

आचार्य सोमदेव का उद्देश्य राज्य को सच्चा सुराज्य बनाना था, अस्तु राजनीति में जो दोष एवं विकार आगये थे, उन्हें दूर करने पर और राजा तथा राज्य कर्मचारियों के कर्तव्य पर उन्होंने भरपूर जोर दिया। राज्य तथा राज्य संचालन सम्बंधी प्रायः सभी विषयों पर उन्होंने अपने अमूल्य विचार प्रकट किये उनकी दृष्टि में राजा ही राष्ट्र नहीं था वरन् राजा, प्रजा, देश सब ही राष्ट्र के एक से अंग थे। राष्ट्र इन सब से ऊपर था। उसके प्रति प्रजा का कर्तव्य था तो राजा का भी कर्तव्य उससे कहीं अधिक था।

ग्रंथारंभ में, प्रथम सूत्र में ही उन्होंने "राज्य"[1] संस्था को नमस्कार किया और वह इस हेतु से कि उसके द्वारा ही एक नागरिक के धर्म, अर्थ, और काम इन पुरुषार्थ त्रय की सिद्धि होती है। सामान्यतया मनुष्य की सारी शक्ति और समय इस त्रिवर्ग के साधन में ही सतत व्यय होती रहती है। एक दुनियादार की कोई भी क्रिया-मन, वचन अथवा काय की-ऐसा नहीं होती जो उक्त तीनों उद्देश्यों में से किसी एक वा दूसरे की पूर्ति के अर्थ न की जाती हो। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह जीवमात्र की चार प्रकृतिदत्त संज्ञाएं हैं, और ये संज्ञाएं ही मनुष्य में भोगैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणा, और वित्तैषणा नामक चार मूल एषणाओं के रूप में प्रकट होती हैं। सर्व प्रथम प्रत्येक व्यक्ति जीवन की रक्षार्थ भोजन, वस्त्र, स्थान इन तीन शारीरिक अत्यन्तावश्यकताओं की पूर्ति में उद्यमशील होता है, इन की पूर्ति होते न होते, क्योंकि वह पंचेन्द्रिय सम्बंधी विषय पोषण में एक प्रकार का सुख अनुभव करता है, उसकी भोग लिप्सा जागृत हो जाती है और वह नाना प्रकार के विषय भोगों में मग्न हो जाता है। मन, शरीर, रसना, नासिका, नेत्र और कान रूप इन्द्रियों की तुष्टि करते रहना ही उसका काम पुरुषार्थ है।

(१) "अथ धर्मार्थ काम फलाय राज्याय नमः" नीतिवाक्यामृत, पृष्ठ ७.

इस काम पुरुषार्थ की सिद्धी में सर्वप्रधान बाह्य निमित्त द्रव्य है। यथेष्ट द्रव्य के होने से ही सर्व प्रकार की आवश्कताओं, इच्छाओं, भोगों और उपभोगों को परितुष्टि हो सकती है, यहां तक कि धर्मसाधन में भी एक गृहस्थ के लिये द्रव्य आवश्यक होता है। दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में रहने और आने वाले एक सामाजिक प्राणी के, एक नागरिक के लिये अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न एक अत्यन्तावश्यक पुरुषार्थ है। उसके सर्व प्रयोजनों की सिद्धि अर्थ द्वारा ही संभव है, (३) अतएव उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य मात्र उद्यमशील होते हैं, नाना प्रकार के उद्योग धन्धों और व्यवसायों में अपनी इच्छा, प्रवृत्ति, शक्ति साधन एवं परिस्थितियों के अनुसार संलग्न होते हैं। यही मानव का अर्थ पुरुषार्थ है।

किन्तु चुंकि मनुष्य की भोगलिप्सा और अर्थ तृष्णा का कोई अन्त ही नहीं, एक इच्छा तृप्त हुई कि दस नवीन इच्छाएँ उसके स्थान में उत्पन्न होगई, उसकी इच्छाएँ निरन्तर परिगुणित होती चली जाती हैं, और वह, यदि कोई बन्धन न हुआ, तो उनकी पूर्ति करने के प्रयत्न में विवेकहीन होकर सर्व प्रकार के दुराचार अनाचार, अत्याचार कर सकता है और करता है, जिनके फलस्वरूप समाज की व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है, न्याय अन्याय का प्रश्न नहीं रह जाता, शील संयम, सहृदयता आदिगुण तिरोहित हो जाते हैं, और जिस की लाठी उसकी भैंस का नियम चरितार्थ होने लगता है। अध्यातम और मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न तो दूर की बात है, विशुद्ध लौकिक दृष्टि से अर्थात् सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भी ऐसे बन्धनों की परम आवश्कता है कि जिनके कारण इस प्रकार की उच्छृंखल प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न मिले। अपनी इच्छाओं की पूर्ति और उनके लिये अर्थोपार्जन में सब व्यक्ति समान रूपसे स्वतन्त्र अवश्य रहें किन्तु उसी हद तक जहाँ तक कि वे दूसरों के भी इसी प्रकार के अधिकारों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते। राज्य के दण्डविधानानुसार अपराधियों को अर्थात् दूसरों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक हानि करके अपना स्वार्थ साधन करने वालों को न्यायालयों में उपयुक्त दण्ड देनेसे इस दुष्प्रवृत्ति में रोक अवश्य होती है,किन्तु यह मात्र एक बाहिरी उपाय है, रोग के हो जाने पर उसका इलाज मात्र है सो भी अचूक नहीं; और रोग को न होने देने में तो विशेष कार्यकारी है ही नहीं। दूसरे, राजकर्मचारी भी मनुष्य ही होते हैं और मानवी दुर्बलताओं से अभिभूत, उनके ज्ञान और न्याय की पहुँच सभी प्रकार के अपराधों और सभी अपराधियों में प्रायः नहीं होती।

ऐसी परिस्थिति में धर्म मनुष्य का सहायक होता है। वह अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियों को, अपनी इन्द्रियों को तथा उनके विषयों को संयत करने का उपदेश देता है। इच्छाओं को परिमित रखने, न्याय्य आचरण करने, दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करने जैसा कि हम चाहते हैं वह हमारे साथ करें, अहिंसा, सत्य,

(२) "अभिमानिकर सानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रिय प्रीतिः स कामः"—नी॰ वा॰ पृ॰ ३२

(३) "यतः सर्व प्रयोजन सिद्धि सो अर्थः"—नी॰वा॰ पृ॰ २७

अचौर्य, सन्तोष, शील, क्षमा मृदुता, सरलता, निर्लोभ, संयम आदि के पालन, कुव्यसनों के सेवन से वंचना इत्यादि धर्माचरण द्वारा अभ्युदय एवं निश्रेयस रूप एहिलौकिक पारलौकिक सुख प्राप्ति का आश्वासन देता है। (४) साथ ही, अधर्माचरण करने वालों को इस लोक में भी नाना प्रकार का दुःख दारिद्र्य तथा मृत्यु के पश्चात् परलोक में नरक निगोदादि के अनिर्वचनीय भयङ्कर दुःखों का भय दिखाता है। इतना ही नहीं धर्म मनुष्य में 'आत्मा' की सत्ता एवं शक्ति के प्रति विश्वास उत्पन्न करता है। उसकी आत्म जागृति कर देता है। इसप्रकार जो मनुष्य स्वभाव से ही, अथवा कुल जाति आदि के संस्कार वश भी धार्मिक नहीं होते उनकी प्रवृत्ति भी धर्मोपदेशादि द्वारा धार्मिक हो जाती है। अतः धर्मोपदेशित आचार के पालन एवं देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम तप, दानादि धर्मकार्यों को भी वह आवश्यक, और अपना परम कर्त्तव्य समझने लगता है। धार्मिक क्रियाएँ भी उसकी दैनिक सांसारिक क्रियाओं का अङ्ग बन जाती हैं। यही उसका धर्म पुरुषार्थ है।

उपर्युक्त पुरुषार्थ त्रय की सिद्धि के लिये उपयुक्त साधन जुटाने में मनुष्य के आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक, आर्थिक उत्कर्ष के लिये आवश्यक सुशासन, न्याय, शिक्षा, विचार और कार्यस्वातन्त्र्य, भेदभाव रहित समभाव से गुणों का आदर इत्यादि वे सब ही बातें आजाती हैं जो आज का कोई भी सभ्य से सभ्य प्रजावर्ग अपने शासक वर्ग से, चाहे वह राजतन्त्र हो या जनतन्त्र, डिक्टेटरशिप हो या समूह शासन, चाह सकता है अथवा चाहता है। और जैन राजनीतिज्ञ सोमदेव सूरि के राज्य का आदर्श वही राज्य है जो धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग की सिद्धि और उनके सामञ्जस्य से उद्भुत पूर्ण फल प्रजाजनों को प्राप्त करा सके। उनके अनुसार, धर्म और सदाचार, सुख, सम्पत्ति एवं सर्व प्रकारकी सफलता का आधार तथा जनक राज्य है, राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी परिस्थितियें उत्पन्न करदे, ऐसा वातावरण बनादे और ऐसे साधन जुटादे कि प्रजाजन बाह्य शत्रुओं तथा आन्तरिक अपराध प्रवृत्त दुष्टों से निर्भय निश्शंक होकर अपने आप को पूर्णतया सुरक्षित अनुभव करें, अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष अधिक से अधिक साधन कर सकें, सर्व प्रकार सुखी हो सकें। उसी के एवज में वे भी अपने गाढ़े पसीने की कमाई का छठा अंश करप में राज्य को देते हैं, (५) उसके विधानानुसार न्याय्य आचरण करते हैं, उसकी व्यवस्थाओं को स्वीकार करते हैं, सर्व प्रकार राज्य भक्त रहने का प्रयत्न करते हैं।

गत शताब्दी में जर्मनी के राजनीतिक, दार्शनिक हेगेल ने, राज्य को एक सर्वोपरि संस्था प्रतिपादित की थी। उसके अनुसार राष्ट्र अपने समस्त सदस्यों की समष्टि है, इन सबसे ऊपर है, राष्ट्र में ही मानवी जीवन की पूर्णता चरितार्थ होती है, राष्ट्र का अङ्ग होने से ही व्यक्ति की सार्थकता है, अतः राष्ट्र प्रथम और व्यक्ति

(४) "यतो ऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"—नी. वा. पृ. ८

पीछे। इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त का पाश्चात्य संसार पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि प्रायः सर्व ही आधुनिक राष्ट्रों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इस राष्ट्रीय आदर्शवाद को अपना लिया, और यह वर्तमान युग एक राजनैतिक आविष्कार कहलाता है। किन्तु हेगेल से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व एक जैन राजनीतिज्ञ ने इसी सिद्धान्त की कितनी स्पष्ट व्याख्या की थी और तत्कालीन राज्यों के ऊपर भी उसका क्या कुछ प्रभाव नहीं पड़ा था?

राजा के गुणों, और कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव यहाँ तक कहगये कि यदि कोई राजा मूर्ख वा दुराचारी है तो वैसे राजा के राज्य की अपेक्षा अराजकता कहीं अधिक श्रेयस्कर है। (६) वह कहते हैं कि एक दुराचारी दुष्ट राजा के राज्य में रहना जितना भयङ्कर है इतना भयङ्कर संसार में अन्य कोई कार्य नहीं। कितना क्रांतिकारी सिद्धान्त है। किसी अन्य भारतीय नीतिकार का साहस अराजकता की प्रशंसा करने का नहीं हुआ, सबही ने एक मत से अराजकता का घोर विरोध किया। सोमदेव ने इस सिद्धान्त द्वारा परोक्ष रूप से अत्याचारी राजा को राज्यच्युत तक करदेने तक का उपदेश देदिया। उस समय पाश्चात्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी 'राजा के दैवी अधिकार' का सिद्धान्त जड़ जमाये हुए था। इस विचारधारा ने उस सिद्धान्त की जड़ में कुठाराघात किया। जो कमी थी उसकी पूर्ति उनके एक दूसरे सिद्धान्त ने करदी कि यदि राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी मूर्ख और अयोग्य हो तो उसके स्थान में यह पद किसी अन्य योग्य व्यक्ति को दिया जाय चाहे वह व्यक्ति उत्तराधिकार के नियम की दृष्टि से उक्त पद का अधिकारी न भी हो। (७)

वास्तव में इन जैन राजनीतिकारों का उद्देश्य तो राज्य को एक सर्वरूपेण सच्चे सुराज्य के रूप में देखने का था। इस आदर्श की प्राप्ति में यदि कोई परम्परागत प्रथा अथवा रूढ़ि बाधक हो तो उसकी अवहेलना करने मे उन्हें कोई संकोच न था। राज्य अपने प्रधान अङ्ग, प्रजाजनों को धर्म अर्थ काम रूप फल भय की यथा शक्य पूर्ण सिद्धि कराने वाला होना ही चाहिये और तद्रूप ही उसका कार्यक्रम होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से राजा का, राजकुमारों शिक्षकों, उसके मंत्रियों, अमात्यों, कर्मचारियों तथा अन्य राजपुरुषों का चुनाव होना चाहिये। इसी उद्देश्य से उपयुक्त राजकीय संस्थाओं का निर्माण होना चाहिये।

अस्तु जैनविद्वानों के अनुसार राज्य का आदर्श प्रजा जन की दृष्टि से एक सच्चा सुराज्य था, उसका रूप चाहे कुछ भी रहे, इससे उन्हें विशेष प्रयोजन न था।

---

(५) "परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्म षष्ठांशम वाप्नोति"—नी० वा०, पृ ८८

(६) "वरमराजकम् भुवनं न तु मूर्खो राजा"—नी० वा० पृ० ९६.

तथा-"न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः" पृ० ९७.

(७) "असंस्कारं रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायक पदायामनन्ति साधवः" ! नी० वा० पृ ९६.

जैन धर्म का सार्वभौमित्व

लेखक—पं० अजितप्रसादजी जैन, एम. ए. एल-एल. बी.
रिटायर्ड जज, बीकानेर हाईकोर्ट, लखनऊ



धर्म के शब्दकोष में अनेक अर्थ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त उसके पारिभाषिक अर्थ भी हैं। धर्म शब्द का प्रयोग हर एक देश काल में समय समय पर होता रहा है और स्थानीय तथा सामयिक परिस्थिति के अनुसार उसका अर्थ भी बदलता रहा है और उस अर्थ में ऐसा गहरा उलट-फेर रहा है कि पाप-पुण्य, भलाई-बुराई, नेकी-बदी का भेद ही मिटता जाता मालूम पड़ता है। जिस काम को कुछ लोग पुण्य कहते हैं, उसी काम को दूसरे पाप कहते हैं।

ज़ेरोसलम तीर्थ क्षेत्र पर अधिकार जमाने के लिये जो पारस्परिक युद्ध मुसलमान और क्रिस्तान जातियों ने ११वीं शताब्दी में किये, उन में मौलवियों ने मुसलमान राजा को और पोप तथा पादरियों ने क्रिस्तान नरेन्द्रों को प्रोत्साहन और आशीर्वाद दिया—और उस घोर नरसंहार को जिहाद और क्रूसेड के नाम से धर्म-कर्तव्य का रूप दे दिया। मुस्लिम धर्म के संस्थापक मोहम्मद साहेब ने और उन के पीछे होने वाले खलीफाओं ने जो संग्राम किये वह धर्मार्थ पुण्य कार्य समझे गए। युरोप में जितने भी पारस्परिक युद्ध क्रिस्तान और मुसलमान प्रजापतियों में हुए, उन सब में एक ही धर्म के अनुगामी एक ही खुदा से एक दूसरे के सर्वनाश की प्रार्थना करते थे। वैदिक पशु संहार, अजमेध, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध हिन्दुओं में; तथा भेड़, बकरा, ऊँट, गौ को हलाल करके कुर्बानी, अर्थात छुरी से गर्दन रेगड़ रगड़-कर काट डालना मुसलमानों में पुण्य कर्म कहा गया है। यहाँ तक कि नरमेध भी उसी श्रेणी में सम्मिलित कर दिया गया। हज़रत इब्राहीम ने अपने पुत्र इसहाक को खुदा के लिये कुरबान करदेने को छुरी उठाली। मगर खुदा ने एक भेड़ा सहसा भेज दिया, और उस की कुरबानी करदी गई। इस प्रकार पशु-पक्षी मनुष्य संहार तक को भी पुण्य कर्म बतलाया गया है। मधु मांस मदिरा की तो परवानगी धर्मशास्त्रों में स्पष्ट शब्दों में दे रखी है। अन्य दुष्कर्म भी ऋषि महर्षि ईश्वरावतारों ने पुराणों के कथनानुसार किये हैं; और उन कृत्यों को कहीं भी कुकर्म नहीं कहा गया; और न ऐसे कर्म करने वालों को अधोगति प्राप्त होना लिखा है; बल्कि उन को ऐसे पाप कर्म करने पर भी सद्गति, मोक्ष प्राप्ति ही बतलाया है।

श्री समन्त भद्राचार्य ने धर्म का व्यापक तथा संक्षिप्त लक्षण "यो धरत्युतमे सुखे" कहकर बतलादिया है।

एक विचारक कवि ने फ़ारसी भाषा में कहा है; ' बहिश्त आंजा कि आंज़ारे न बाशद" स्वर्ग उस स्थान को कहते हैं, जहां किसी प्रकार का दुःख न हो।

धर्म का प्रसिद्ध, सर्व विदित तथा सरल लक्षण पद्यरूप इस प्रकार भी है—

"धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण"

अतः धर्म प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है; वह करने की चीज़ है; जीवन का उद्देश्य है; सुबह, शाम, रात-दिन हर समय सर्वदा धर्मपूर्वक आचार-विचार ही प्रत्येक देहधारी जीवात्मा का ध्येय होना चाहिये और उसी दिशा में हर किसी को सतत प्रयत्नशील रहना उचित है। उसमें आनंद है, कष्ट नहीं।

अब विचारना यह है कि संसार सुख क्या है? सर्व प्रथम दो चीज़ें हैं- स्वास्थ्य और दारिद्र्याभाव। उस्ताद गालिबने भी कहा है-"तंगदस्ती अगर न हो गालिब, तन्दुरुस्ती हज़ार नेआमत है।" यह दोनों बातें धर्म साधन से सहज ही प्राप्त होती हैं। सामान्यतया मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब ही प्राणीयों को जन्म से स्वस्थ शरीर प्राप्त होता है। पशु पक्षी आदि प्राय: अपनी ज़िन्दगी भर स्वस्थ शरीर रहते हैं; बीमार नहीं होते। यदि कभी रोगग्रस्त होते हैं, तो उस का कारण प्रायः मनुष्य की निर्दयता अत्याचार या कोई आकस्मिक दुर्घटना होती है। वह प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं, आहार-विहार में अनाचार नहीं करते। मनुष्य रोग को अपने दुर्व्यवहार से, असंयम से, अनियमित आचार विचार से, आमंत्रित करता है और बीमार पड़ जाने पर औषधि द्वारा रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है या शरीर के विकृत अंग को कटवा या छिलवा देता है। किन्तु अपनी कुटेवों को, बुरी आदतों को, बदपरहेज़ी को, आहार विहार, आचार की अनियमितता को नहीं छोड़ता। प्रायः मनुष्य समाज की देखादेखी काम करता है। आसपास के, मिलने जुलने वाले जो कुछ करें वह ही करने लगता है। फैशन का गुलाम, कुरीतियों का बन्दी, बुरे रस्म रिवाज का पाबंद होजाता है। स्वतः अपनी विचार शक्ति, अपने विवेक, अपने ज्ञान को तिलांजलि देदेता है। यदि यह समझा जाय कि अमुक रीतिरिवाज अनुचित, हानिकर, त्याज्य है, तो कह उठता है "लोग बुरा समझेंगे, बुरा कहेंगे, समाज बहिष्कृत करदेगा। इस प्रकार लोकापवाद का भय बुरा है, हानिकर है, आत्मघातक है। देखना और विचारना यह है कि उचित बात, हितकर अथवा क्या है? जब हितकर, श्रेयस, कर्तव्य का पता चल जावे, दृढ़ श्रद्धा न होजावे, इसको जैन धर्म में सम्यक्दर्शन कहा है। सांसारिक बातों में और आध्यात्मिक सम्बंध में, हर स्थान पर, हर परिस्थिति में दृढ़ श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान अर्थात् उस श्रद्धान के समर्थन में युक्तियां को जानना; और फिर उस श्रद्धान पर पूरा, अचल अडिग आचरण सम्यक् चारित्र है। इन तीनों का एक साथ होना जीवन की सफलता की कुंजी है मार्ग प्रदर्शक है, मार्ग है, सीधा रास्ता है। नया अब सांसारिक जीवन मार्ग पर फिर विचार कीजिये। एक कहावत है "जल्दी सोओ

जल्दी जागो सुख सम्पत्ति सम्पन्न रहो" धर्म ग्रन्थों में सूर्योदय से पहले, ब्रह्ममुहूर्त में, उठ बैठना, ध्यान, सामायिक, जप, योगासन करने का उपदेश दिया है, किन्तु आजकल सिनेमा देखना गाना-बजाना आदि में व्यस्त रहकर आधी रात पीछे सोना और ८-९ बजे दिन चढ़े सोकर उठना फैशन में दाखिल है। रियासत का तरीका, अमीरी का ढंग है।

भोजन के सम्बंध में धर्माचार्यों का वचन है कि मिताहारी होना मनुष्य का कर्तव्य है भोज्यपदार्थ हानिकर न हों और भोजन दिन में ही कर लिया जाय मगर फैशन का हुक्म है कि खाना बार बार हो, भोजन में नाना प्रकार के व्यंजन बनें, जो मसालेदार, चटपटे, दिखावटी, भड़कीले हों। भोजन चटनी और शराब के साथ अति अधिक मात्रा में खाया जाय। यही बिमारी और देश की दरिद्रता का कारण है इसी का परिणाम है कि भारतीय जनता भूखी, आधे पेट, चौथाई पेट खाकर गुजर करती है, और शक्तिहीन होती जाती है और धनिक वर्ग औषधियों के जोर से शरीर को बनाए रखते हैं। योरोपीय युद्ध के कारण भारत का अनाज और अन्य सब काम की वस्तु, रेल की पटरियां तक उखाड़ कर विदेशों में भेज दी गई, बंगाल में सरकारी गोदामों में अनाज गलता सड़ता रहा, मगर ३०-४० लाख आदमी भूख से मर गए, और अमीर, रईस, सेठ साहुकार, अफसर, अधिकारी वर्ग पार्टियाँ खाखाकर बीमार पड़ते रहे। महात्मा गांधी ने कहा है कि यदि लोग अपनी व्यर्थ व्यय की कुटेव को छोड़दें, तो जनता को कुछ थोड़ा सा आराम मिल जाय। धर्म गुरुओं ने तो अल्पाहार और परिग्रह परिमाण गृहस्थ, ब्रह्मचारी, साधु सब के लिये आवश्यकीय बतलाया है।

श्रावकाचार में सर्व प्रथम मूल गुण का ग्रहण करने ही का उपदेश किया है, जिनमें हिंसा, असत्य, चोरी, परस्त्री, परिग्रह की अधिकता का त्याग करना जरूरी है। यदि जैन मात्र पंच अणुव्रत धारी हो जायें, जो कि बहुत ही सरल सीधी आसान बात है, तो संसार का महान् उपकार होनेकी अच्छी सम्भावना है। त्याग में भी आनन्द का अनुभव होता है। त्याग सुखप्रद है, कष्ट साध्य नहीं। त्याग हानिकर वस्तु का कराया गया है इस अज्ञान के कारण ही लोग त्याग करना कठिन समझते हैं। छोटे बच्चे में ज्ञान का प्रकाश न्यून मात्रा में होता है; वह अनादि मिथ्या संस्कारवश प्रत्येक पदार्थ को अपनाना चाहता है। वह सूई, चाकू, पिन, कील, कांटा कुछ भी हो, उस को मुंह में करके पेट में रख लेना चाहता है। वह सांप को भी पकड़ लेगा, अग्नि शिखा पर हाथ मारेगा, जलते कोयले उठालेगा चाकू कैंची से अपना शरीर काट लेगा। जब उस को इन हानिकर पदार्थों का अनुभव होने लगता है। तब वह उन का ग्रहण करना त्याग देता है। फिर उसे मिट्टी, लकड़ी आदि के खिलौनों का शौक हो जाता है। पैसे, दो पैसे की चीज से पैसे दो पैसे मन के बहला लेता है विशेष अनुभव होने पर वह लकड़ी मिट्टी के खिलौने छोड़ कर यान्त्रिक खेल कूद की चीजें लेना चाहता है। बाइसिकिल, मोटर

कार, रेलगाड़ी, हवाई जहाज जैसे यंत्र से चलने वाले खिलौने चाहता है। कुछ अधिक बड़ा होजाने पर ज्ञान अनुभव का अधिक प्रकाश होने पर, खिलौनों का भी त्याग कर देता है। फिर असली घोड़ा गाड़ी, बाइसिकिल, मोटरगाड़ी, आदि की इच्छा करने लगता है। जब ज्ञानोपार्जन में, लिखने पढ़ने में मन लग जाता है तब तो परीक्षा में सफलता, पारितोषिक, छात्रवृत्ति प्राप्त करने का व्यसन पड़ जाता है, और खेल कूद सब भूल जाता है। तपस्वी ब्रह्मचारी रूप त्यागवृत्ति अंगीकार करके विद्योपार्जन में मस्त हो जाता है। इसी प्रकार जितना जितना ज्ञान का आधिक्य होता जाता है, उतना उतना हेय पदार्थों का त्याग बढ़ता जाता है। शारीरिक शक्ति वृद्धि का अनुभव हो जाना मनुष्य से कठिन व्यायाम आनन्द पूर्वक अहर्निश करालेता है। अधिकार प्राप्ती विजय की कामना, आधिपत्य का स्वप्न मनुष्य को वीर बना देता है। वह परिश्रम, आपत्ति वेदना कठिनाई, जानजोखों सब विघ्न बाधाओं को तुच्छ समझने लगता है। इस प्रकार सांसारिक बातों में भी त्याग में आनन्द, सुख, सम्पत्ति, यश वैभव है। तरुण अवस्था में ऐश आराम, दौलत इज्जत का त्याग कर कारावास में घोर परिषह सहकर तपस्या करके वीर जवाहर भारत का सरताज हो गया। हजारों की भीड़ उस के दर्शन करने और उसकी वीरवाणी श्रवण करने को उमड़ आती है। उसने निर्बल कायर शक्तिहीन भारत को बलिष्ट, शक्ति सम्पन्न, बहादुर बना दिया। लाखों की भेट उस को अर्पण की जाती है, मगर वह अपरिग्रही, स्वार्थ त्यागी उस भेट से राग नहीं करता। भेट किये हुए द्रव्य को निर्माल्य वस्तु की तरह हाथ से छूता तक नहीं; किसी न किसी प्रशस्त कार्य में लगा देता है। महात्मा गान्धी तो अपरिग्रह व्रत का साक्षात् उदाहरण हैं और इसी अपरिग्रह व्रत के परिणाम रूप भारतवासियों के वंदनीय और जगत के सम्माननीय युग प्रधान पुरुषोत्तम हो गए हैं। यह सब जैन धर्म के सिद्धान्तों पर, पंचअणुव्रत पर अमल करने का प्रभाव है। सांसारिक सुख, ऐश्वर्य, विभूति, नश्वर है, स्थायी नही है; और उस के साथ दुःख, निराशा, हानि, हार, गिरावट बराबर लगी हुई है।

दुःख के सर्वथा, सर्वदा अभाव को उत्तम सुख कहते हैं। ऐसा परम उत्कृष्ट, अमित, शाश्वत, स्वात्मस्थित सुख मोक्ष अवस्था में ही जीवात्मा को प्राप्त होसक्ता है, सर्व कर्म के समूल नाश से वहां क्षुधा, तृषा, निद्रा, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, रोग, जन्म, जरा आदि कष्टों का अभाव होजाता है। सांसारिक विषय सुख, बाधा-अन्तराय सहित, पराश्रित, भंगुर, नष्ट कर्मबन्ध का हेतु होने से सुखाभास है। सुख नहीं है। वास्तविक, पूर्ण, नित्य, शाश्वत सुख का अनुमान देहधारी छद्मस्थ प्राणी कर ही नहीं सकता। वह सुख अतीन्द्रिय है। आत्मा का निज स्वभाव है।

उस सुख की प्राप्ति का उपाय यति धर्म साधन है राग द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, मन पर विजयी होकर पूर्ण तपश्चरण, परिषह जय, करना है। उस में आनन्द

आता है कर्मों के उपशम और क्षय से जो अनन्त शक्तियों का प्रकाश होता है, वह अनुपम अमेय आनन्द है। वह उस आनंद से अनंत गुणा है जिसकी कल्पना सर्व शक्तिमान, ईश्वर, परमेश्वर, जगत निर्माता विश्व, रक्षक, सर्व, संहार-कर्ता, ब्रह्मा, विष्णु महेश में ईश्वरवादियों ने की है।

जैन धर्माचार्यों ने संसार सुख, तथा मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये सरल सीधे सुगम मार्ग बतला, दिखला दिया है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य बाल, जवान, बूढ़ा, तन्दुरुस्त, बीमार, गरीब अमीर, नीच उच्च गोत्र या जाति के सब मनुष्य, हर परिस्थिति में धर्म पालन कर सकते हैं। जैन धर्म का दरवाजा हर व्यक्ति के लिये खुला है।

प्रसिद्ध वक्ता पंडित मुनि श्री चौथमलजी के कथनानुसार जैन धर्म सेवन से कोई भी बहिष्कृत या वंचित नहीं हो सकता। पापी दया का पात्र है, घृणा का पात्र नहीं। जैन धर्मानुयायी को पाप से घृणा रहती है, पापी से नहीं।

यदि जैन धर्म का प्रचार ठीक तरीके से किया जावे, यदि जैन पंडित, ब्रह्मचारी, मुनि मन वचन काय से आगमानुसार प्रवृत्ति करें, तो संसार का परम उपकार हो, देश का उद्धार हो; पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो, भारत स्वाधीन हो जाय; अन्य देशों को भी स्वाधीनता प्राप्त हो; जगत्व्यापी शान्ति का प्रसार हो; मार-काट, लड़ाई, झगड़े, युद्ध, आक्रमण, गोली-बारूद बम वर्षा, मनुष्य हिंसा, नगरों को गिराना, जलाना, नाश करना, लूट लेना, नागरिकों को दासत्व में जकड़ना, सब अत्याचारों; दुष्कर्मों का मूलोच्छेद हो जाय।

ऐसे शान्ति युग को फैलाने के लिये भगवान महावीर के सच्चे, पक्के अनुयायिओं को अपना दैनिक कार्य-क्रम, अपना बर्ताव अपना जीवनोद्देश्य निम्न प्रकार शीघ्रातिशीघ्र कर डालना आवश्यक है।

(१) श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी, तारणपंथी आदि आम्नाय भेद गौण कर देना। वीर भगवान कथित अहिंसा आदि पांच व्रतों का प्रचार, कर्म सिद्धान्त का विश्लेषण उसकी शिक्षा, और अनेकान्त स्याद्वाद मत हर काम में हर समय व्यवहृत करते रहना। हर बात में यदि वह जानबूझ कर धोखा देने, ठगने, नीच स्वार्थ साधनार्थ नहीं कही गई है तो आंशिक कथंचित् सत्य अवश्य है। इस का सदा ध्यान रखना और बर्ताव करना। "माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ" पर अमल करना।

(२) शास्त्र भन्डारों की सूची तय्यार करना, और धर्म ग्रन्थों को वेष्टन आदि से सुसज्जित रखना।

(३) आम्नाय भेद को गौण करके, धार्मिक उत्सव मिलकर करना।

(४) पारस्परिक सामाजिक मेल, विवाह संबन्ध प्रीतिभोज बढ़ाना।

(५) सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक, शिक्षण, आदि संस्थाओं में मिल जुल कर काम करना।

(६) वैयाक्तिक जीवन में शक्तिशः पंच अणुव्रत धारण करना, 'सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा, माध्यस्थ भावं विपरीत-बुद्धि के साथ" इस प्रकार की मनोवृत्ति, वचनवृत्ति, तथा कार्य से सदैव वरतना।

(७) जैन धर्म को रोज़गार, व्यापार, न बनाना। पंडिताई, अर्थात पूजा, प्रतिष्ठा, गृहस्थाचार्य का काम उसके उपलक्ष में धन, वस्त्र, सोना, चांदी आदि रूप शुल्क न लेना।

(८) सामाजिक व्यर्थ-व्यय, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह आदि कुप्रथा बन्द कराना।

(९) शिक्षालय, गुरुकुल उद्योगशाला, व्यायामशाला, औषधालय, चिकित्सालय, अनाथालय, आदि संस्था स्थापित करना तथा जो स्थापित हैं उनका सुप्रबन्ध करना।

(१०) राष्ट्रीय आंदोलन में सम्मिलित होना।

(११) समाचार पत्रों की सुव्यवस्था।

—oXo—

अछूतों के सम्बन्ध में महावीर के विचार

लें० साहित्यरत्न पं० बसंतकुमार जैन न्यायतीर्थ, जैन० सि० शास्त्री



जिस प्रकार एक विशाल भवन का टिकाव उसकी नींव पर निर्धारित है, वृक्ष की स्थिति उसके मूल की दृढ़ता पर निर्भर है उसी प्रकार धर्म की गति और स्थिति भी उसके सार्वभौम सिद्धान्तों के आधार पर ही रही हुई है। संसार का कोई भी पंथ, सम्प्रदाय या धर्म अपना अस्तित्व अपने उदारतापूर्ण विशाल मौलिक सिद्धान्तों और उसूलों पर ही कायम रखकर सर्वत्र अपना प्रभुत्व अंकित करता है। यही बात जैनधर्म और भगवान महावीर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जैन शास्त्रों की ओर यदि हम निष्पक्ष होकर गंभीरतापूर्वक अवलोकन करेंगे तो स्पष्ट ज्ञात होजायगा कि महावीर और उनके सिद्धान्त न केवल मानव समाज के हितैषी ही हैं अपितु प्राणीमात्र के हितचिन्तक भी हैं। जिनका सिद्धान्त जगत् के समस्त चराचर प्राणियों के लिये हितकारी है और जिनका व्यवहार सबके प्रति

उदारतापूर्ण, प्रेमपूरित और अनुग्रह-भाव-प्रधान हैं, वे यदि मानव समाज के भी कल्याणेच्छु होंतो यह स्वाभाविक ही है।

जो व्यक्ति अभिन्न मानव समाज के हित को ध्यान में रखकर अपने सिद्धान्तों का आदर्श संसार के सन्मुख रखता है उसके राग और द्वेष भाव का द्योतक छूत और अछूत का प्रश्न उपस्थित ही कैसे हो सकता है? महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में आत्मा को पतित करने वाले कर्म शत्रुओं को अछूत और आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कराने वाले गुणों को ही छूत बतलाया है। अष्टादश पापस्थान और अष्टकर्म पुद्गल रूप अछूतों के स्पर्श से ही आत्मा मलीन और अधःपतन की ओर झुकती है। ज्योंही इनका स्पर्श दूर हुआ कि आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। जिस प्रकार शक्कर और गुड़ का स्वाद बिना किसी भेद भाव के सबको ही मीठा लगता है, उसी प्रकार भक्ति और धर्म में भी कुल एवं जाति विशेष का तारतम्य मानना आवश्यक नहीं है। छूताछूत का संबंध धर्म के साथ नहीं है किंतु कर्त्तव्य विशेष के आधार पर ही है। यही बात जयघोष मुनि विजय घोष ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व आदि चतुर्वर्ण व्यवस्था का यथावत् स्वरूप समझाते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय २५ गाथा ३३ में कहते हैं कि:—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वेसिओ होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ॥

अर्थात्:— वर्ण व्यवस्था और छूताछूत को जातीयता से संबंधित बतलाना विचारशून्यता ही कही जा सकती है। वास्तव में ब्राह्मणत्व के योग्य, पवित्र, आदर्श और उत्तम कार्य करने से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय के योग्य दीन हीन अनाथों की रक्षा और उनके दुःखों को दूर करने से ही क्षत्रिय, निष्कपट वृत्तिपूर्वक वाणिज्यादि व्यवसाय करने से ही वैश्य और घृणित निन्दित तथा उपालंभ पूर्ण कर्त्तव्य के करने से ही शूद्र कहा जा सकता है।

महावीर के इन उदारण पूर्ण विचारों के आधार पर उनकी मानव समाज के प्रति कल्याण भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं उन्होंने अपने इन विचारों को विशेष स्पष्ट करने के लिये इसी अध्ययन में और भी कहा है कि:—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्ण वासेण, कुस चीरेण न तावसो॥

अर्थात्:—केवल मस्तक को मुंडवा लेने (लोच करने) से ही श्रमण (साधु) नहीं हो सकता है और न केवल ॐ ॐ इस प्रकार तोता रटन्त करने से ही ब्राह्मण। दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त किये विना केवल वन में रहने से ही कोई मुनि पदका अधिकारी नहीं हो जाता है और न वल्कलादि के वस्त्र धारण से ही तपस्वी हो

सकता है इससे स्पष्ट लक्षित होता है कि भगवान् महावीर गुण (भाव) विहीन थोथी क्रियाओं के पक्षपाती न थे और न गुणहीन कर्त्तव्यों को ही महत्व देते थे। सर्वत्र गुणनिष्पन्न क्रियाओं का ही उन्होंने सन्मान किया है और भाव हीन द्रव्य को "अनुयोगद्वार-सूत्र" में जगह २ शून्यरूप बतलाया है। उपरोक्त गाथा से भी यही प्रमाणित होता है कि यद्यपि वर्ण व्यवस्था कर्त्तव्यों के आधार पर है किंतु फिर भी भावों की विशुद्धि और निर्घृण वृत्ति आवश्यक है।

वास्तव में छूताछूत का प्रश्न जातीयमद से उन्मत्त बने हुए व्यक्तियों का प्रचार मात्र ही कहा जा सकता है। महान् पुरुषों ने तो कभी अपने जीवन में इन तुच्छ विचारों को स्थान नहीं दिया है। व्यवहार व धार्मिक दृष्टि से भी इसी मान्यता की पुष्टि हो जाती है कि जो अपने को उच्च कहता है वही यदि नीच कर्म करने लगेगा तो उसकी सारी उच्चता नष्ट होकर नीच दृष्टि से देखा जाने लगेगा। इससे स्पष्ट है कि कर्त्तव्य की प्रधानता ही उच्चत्व नीचत्व और छूताछूत की भावनाएं पैदा करती है। भगवान् के हृदय में तो जो हित भावना छूत व्यक्तियों के लिये थी वही भावनाएं अछूतों के लिये भी अन्ततक रही हैं। अपने इसी कथन की पुष्टि में "आचारांग-सूत्र" अध्याय २ उद्देश ६ की निम्न पंक्ति ही पर्याप्त होगी:—

जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुरणस्स कत्थइ ॥

अर्थात्:—उत्तम पुरुष मार्ग की प्ररूपणा जिस प्रकार पूर्ण व्यक्तियों के समक्ष करते हैं इसी प्रकार तुच्छ कहलाने वाले व्यक्तियों के समक्ष भी करते हैं। उसका आशय यह नहीं है की भगवान और संयमी पुरुष मोक्ष प्राप्ति का उत्तम मार्ग जैसा राजाओं को वैसा ही प्रजा को, जैसा गरीबों को वैसाही अमीरोंको और जिस प्रकार ज्ञानियों को इसी प्रकार अल्प बुद्धिवालों को भी बतलाते हैं।

जैसे चंदन अपनी सुगंध को, सूर्य अपने प्रकाश को, फूल अपनी महकको विना किसी शत्रुमित्र का भेदभाव लाये ही संसार में फैलाता है उसीतरह भगवान महावीर ने भी अपने सिद्धान्तों का स्वाद और रस लूटने के लिये मानव समाज को एक समान भाव से हक दिया है फिर चाहे कोई अपनी शक्ति विशेष से न्यूनाधिक रस लूटे या खाली लौट जाय।

महावीर के विचार छूत अछूत के सम्बन्ध में एक ही समान थे, इस कथन की पुष्टि "आचारांग-सूत्र" अध्याय २ उद्देश ३ से ही हो जाती है:—

"से असइं उच्चा गोए, असइं नीया गोए, नो हीणे, नो अइरित्ते, नो पीहए। इति संखाए के गोयावाई के माणावाई, कंसि वा एगे गिज्झे ? तम्हा पंडिए नो कुज्झे"

अर्थात्:—इस आत्मा ने अनेक वार उच्च गोत्र और नीच गोत्र को प्राप्त किया है इसलिये मनमें उच्चगोत्र और नीच गोत्र का हर्ष शोक न लावे अर्थात् न तो

अपने को हीन समझे और न उच्चता का अभिमान ही करे। इस प्रकार जो तत्व को समझ लेता है वह गोत्र का अभिमान कर ही कैसे सकता है ? इसवास्ते ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि उच्च गोत्र प्राप्त होने पर प्रसन्न न हों और नीच गोत्र प्राप्त होने पर क्रुद्ध भी न हों।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि महावीर के विचारों से कोई अछूत नहीं है और न आत्मा अछूत हो ही सकती है। दोष और नीच कर्त्तव्यों का संपर्क ही मनुष्यों में घृणा भाव पैदा करता है और ज्यों ही इन दुर्भावों का नाश हो जाता त्यों ही आत्मा प्रशंसनीय बन जाती है कहा है—

"घृणा पाप से हो पापी से कभी नहीं लवलेश॥"

भगवान महावीर के विचारों में यदि उदारता न होती और उन्होंने छूत अछूत के विवाद को अपने हृदय में स्थान न दिया होगा तो वे हरिकेशी मुनि जोकि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे और मैतार्य मुनि—जो कि मेहता वंशज थे—को शिक्षा (संयम) न देते और न उनकी प्रशंसा ही करते इसके विपरीत जगह २ पर हरिकेशी के आदर्श त्याग, संयम और तपश्चर्या की प्रशंसा से उत्तराध्ययन-सूत्र का बारहवां अध्ययन भरा पड़ा है। भगवान् गुण ग्राहक गुण समर्थक को महत्व देते थे। इसीलिये तो जाति और कुल के मद से उन्मत्त ब्राह्मणों ने जब मुनिका अपमान किया तब भी मुनि ने अपनी सहिष्णुता का परिचय देकर उनको ब्राह्मणत्व का कर्त्तव्य मार्ग समझाया, उस समय हरिकेशी की प्रशंसा में कही गई इस गाथा से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाती है —

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसइ जाइ विसेस कोइ।
सोवाग पुत्तं हरिएस साहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

अर्थात्:—साक्षात् तप की ही विशेषता दृष्टि गोचर हो रही है इसमें जाति की प्रधानता का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशी मुनि को धन्य है कि जिसने इस प्रकार महान ऋद्धि समृद्धि और लब्धि को प्राप्त किया है।

जातीयता की प्रधानता को महत्व देने वाले व्यक्ति के ऐसे उदार विचार नहीं हो सकते हैं। ये विचार उन्हीं हृदयों में स्थान पा सकते हैं कि जिनकी आत्मा संकुचित न हो और सदा सम समान भावना से ओत प्रोत हो। इसके विपरीत हम 'राय प्रश्रेणी' सूत्र में देखते हैं कि प्रदेशी राजा क्षत्रिय जैसे कुल में उत्पन्न होने पर भी जब तक उसने हिंसादि क्रूर कामों का परित्याग नहीं किया था तब तक उसे उसके कर्त्तव्यों के आधार पर अछूत बतलाकर जगह २ पर उसके कर्त्तव्यों की निन्दा के रूप में कठोर सम्बोधन किये हैं। उदाहरणार्थः—

तत्थणं सेयवियाए नयरीये पएसी णामं राया होत्था। अहम्मिए अहम्मिट्ठे अहम्माणुए अहम्मेण वित्तिं कप्पेमाणे चंडे, रुद्दे, खुद्दे, बहूणं दुप्पय चउप्पय

मिय पसुपक्खी सिरिसिवाणं घाय ए घह ए । अर्थात्:—श्वेताम्बिका नगरी में प्रदेशी राजा राज्य करता था. घह अधार्मिक, अधर्म को ही उत्तम समझने वाला, अधर्म मार्ग का अनुगामी, पापकर्म से ही वृत्ति करने वाला प्रचंड स्वभावी रौद्रस्वरूपी, क्षुद्र विचारी, तथा अनेक द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशुपक्षी आदि का घातक और हिंसक था।

राजा के लिये दिये गये इन विशेषणों से ज्ञात होता है कि वास्तव में महावीर के विचार जातीय पक्षपात से पूर्ण न थे। वे स्पष्ट तौर से अनाचरणीय कर्त्तव्य करने वाले को अनार्य आदि शब्दो से सम्बोधन कर अपने हृद्गत विचारों का परिचय देते थे। इतना ही नहीं जब "प्रज्ञापन-सूत्र" का हम सिंहावलोकन करते हैं वहां भी मनुष्य के दो भेद उनके कर्त्तव्यों के अनुसार ही किये गये पाये जाते हैं यथाः—

कम्म भूमगा मणुया दुविहा पण्णत्ता-आरिया अणारिया (मिलक्खू) अर्थात्:— कर्म भूमि में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य दो प्रकार के हैं– १ आर्य मनुष्य २ अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य। जो अहिंसा सत्यादि उत्तम संयम गुण सम्पन्न है वही आर्य पुरुष है और जिसमें हिंसादि क्रूर कर्म रहे हुए हैं वही अनार्य है। उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर जैनधर्म में अछूतों के संबंध में भगवान् महावीर के विचारों का सांगोपांग आभास मिलही जाता है। भगवान् ने उत्तम कार्य में प्रवृत्त होनेवाले को सर्वत्र "हे अज्जो और हे देवाणुप्पिय" ऐसाही संबोधन किया है जिसका [illegible] होता है–हे देवानुप्रिय और हे आर्य पुरुषो ! इससे महावीर के हृदय की [illegible] उनके सिद्धान्तों की गंभीरता, और प्रति पादन शैली की [illegible] अनुमान लगाया जासकता है।

जिनको संसार अछूत कहता है उनके संबंध में जिन [illegible] का परिचय महावीरने अपने शास्त्रों में दिया है उतना [illegible] दुर्लभ है। संभव है महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी [illegible] का प्रभाव पड़ा हो और इसीलिये अपने कर्त्तव्य क्षेत्र में [illegible] सहयोग प्राप्त कर कतिपयांश में कार्य में सफलता [illegible]

महावीर का स्याद्वाद रूप सिद्धान्त [illegible] एकता प्रस्थापित करने का ही था। ऐसी [illegible] उनकी उपेक्षा वृत्ति या असहयोग वृत्ति कैसे हो सकती थी ? [illegible] बुद्धि, शक्ति [illegible] क्षेत्रादि की अपेक्षा मनुष्यों में व्यवहार [illegible] धर्म, भक्ति आराधना का प्रश्न [illegible] भाव मानना पड़ेगा। यदि उस हद [illegible] अनधिकार चेष्टा रूपही कहा जा सकता है। [illegible] शास्त्रों में स्थान २ पर स्पष्टतया [illegible] किया है—

ऊंचा उदार पावन सुख शांति पूर्ण प्यारा।
यह धर्म वृक्ष सब का, निज का नहीं तुम्हारा॥
रोको न तुम किसी को छाया में बैठने दो।
कुल जाति कोई भी हो संताप मेटने दो॥

* * *

जाति पांति पूछो मत कोई प्रभुको भजे सो प्रभु का होई

* * *

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार को पड़ा रहन दो म्यान॥



जैन संघ में नारी का स्थान

लेखक—गणावच्छेदक वक्ता पंडित मुनि श्री रामलालजी महाराज



आज के क्रान्तिकारी स्वातन्त्र्य युग में नारी की समस्या एक नये रूप में हमारे सामने उपस्थित है। नवयुग की क्रान्ति की लहर ने सोई हुई नारी जाति में जागृति का पवन फूँक दिया है। वीसवीं शताब्दी की नारी ने अपने सामनाधिकार के प्रश्न को हमारे सामने रखा है। ऐसी स्थिति में नारी की प्रतिष्ठा और उसके अधिकारों के सम्बन्ध में सही दृष्टि विन्दु से विचार करना आवश्यक है। यह देखना चाहिये कि समाज में नारी का क्या उपयुक्त स्थान है? प्राचीन काल में नारी की क्या प्रतिष्ठा थी, मध्यकाल में उसको कैसा स्थान था और वर्तमान में क्या है?

सृष्टि-प्रवाह की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सृष्टि के दो पहलू हैं, नर और नारी। सृष्टि के ये दोनों पहलू समान हिस्सा हैं। पुराणों में अर्द्धनारीश्वर भगवान् की कल्पना की गई है। उसमें भगवान् की आकृति आधी नर जैसी और आधी नारी जैसी वताई गई है। अर्द्धनारीश्वर भगवान् का वामभाग नारी-रूप है और दक्षिण भाग नर-रूप है। इस पर से यह समझा जा सकता है कि सृष्टि में नर और नारी का समान स्थान है, समान अधिकार है और समान सन्मान प्रतिष्ठा है।

जिस प्रकार सिक्के (मुद्रा) की दोनों वाजुओं का समान महत्व है इसी तरह नर और नारी का महत्त्व भी समान है जैसे रथ की गति में उसके दोनों चक्र

समान रूप से उपयोगी हैं वैसे ही सृष्टि के संचालन में नर और नारी का समान भाग है। नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। नर अकेला अपने आप में पूर्ण नहीं है, इसी तरह नारी भी अकेली अपने आप में पूर्ण नहीं है। दोनों अलग २ अपूर्ण हैं परन्तु जब दोनों मिल जाते हैं तो उनमें सांसारिक पूर्णता आजाती है। पुरुष में जो कमियां हैं उन्हें नारी पूर्ण करती है और नारी में जो त्रुटियां हैं उन्हें पुरुष पूर्ण करता है। इस तरह नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसी स्थिति में कौन किससे कम हो सकता है और कौन किससे श्रेष्ठ होनेका दावा कर सकता है? वस्तुतः नर और नारी—समकक्ष हैं।

भारतीय संस्कृति की गरिमा और उन्नति का बहुत कुछ आधार नारी-प्रतिष्ठा है। प्राचीन काल में नारी का स्थान बहुत ही ऊँचा था। आर्य जाति के सर्व श्रेष्ठ अभ्युदय का स्वर्णसमय नारी प्रतिष्ठा का स्वर्ण युग था। प्राचीन आर्यों ने नारी के सन्मान में सर्वतोमुखी समुन्नति के दर्शन किये थे तभी यह कहा गया कि—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः

जहां नारी की प्रतिष्ठा है वहां देवता—दिव्य शक्ति सम्पन्न पुरुष रमण करते हैं।

वास्तव में नारी आदि-शक्ति है, जनसृष्टि की जननी है, और संसार का पालन करने वाली अन्नपूर्णा है। नारी "काली" "महाकाली" है साथ ही वह कल्याणी और वरदानी है। नारी की कोमलता में कठोरता और कठोरता में कोमलता छिपी है। नारी दुनिया के भीषण मरुस्थल में कल कल निनाद करती हुई, शीतल सुधामय जल प्रवाहित करती हुई परमपावनी सरिता है। वह सृष्टि के उपवन का सर्वोत्तम सुगन्धित सुमन है। नारी तीर्थङ्करों की जननी, पैगम्बरों की प्रसविनी और अवतारों की माता है। नारी जगज्जननी और जगदम्बा है। नारी लक्ष्मी है, सरस्वती है, सिद्धि है और सर्वशक्तियों की निधि है। इस भीषण और कठोर संसार में प्रेम, वात्सल्य, क्षमा, सहनशीलता आदि सुकुमार भावों को प्रकट करने वाली नारी ही है। नारी की प्रतिष्ठा में संसार की प्रतिष्ठा है।

जो संस्कृति, जो देश और जो समाज नारी की प्रतिष्ठा को अखण्डित बनाये रखता है उसकी प्रतिष्ठा भी अक्षुण्ण रह सकती है। जिसने नारी की प्रतिष्ठा को भंग करने का प्रयास किया वह भंग हुए बिना न रहा। जबतक भारतवर्ष में नारी की प्रतिष्ठा अभंग थी तबतक भारत सब तरह से समुन्नत था। रोम में भी जब तक नारी का सन्मान रहा वहां तक वह अपना सिर ऊंचा उठाये रहा। परन्तु जब रोम ने नारियों की अवगणना करना आरम्भ किया त्योंही शताब्दियों से उन्नत बना हुआ रोम पतन के गर्त में गिर पड़ा।

आदिकाल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से श्रेष्ठ था। जैन शास्त्रों में इस बात का उल्लेख है कि युग प्रवर्तक आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव ने अपने पुत्रों की अपेक्षा

अपनी पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी-को प्रथम शिक्षण दिया था। इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है कि भगवान् ऋषभदेव ने ऐसा क्यों किया? विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने समाज-व्यवस्था में स्त्रियों का अधिक महत्वपूर्ण स्थान आवश्यक समझा था। इसका कारण भी यह कि मानवता की अमरवेल (चोलक) स्त्रियों के द्वारा ही सिञ्चित-पालित होकर फलती फूलती है। अविभाविका माताओं के सुशिक्षिता एवं सुसंस्कृता होने पर ही बालकों में अच्छे संस्कार उतर सकने की सम्भावना होती है। कूप में जल होने पर ही क्यारियों में वह पहुँचाया जा सकता है। कूप ही अगर खाली हो तो उससे क्यारियों को जल कैसे मिल सकता है? बालक जिन माताओं की गोद में पलते हैं वे ही माताएँ अगर सुशिक्षिता नहीं हैं तो बालकों में अच्छे संस्कार कहाँ से आ सकते हैं? बालकों के भावी जीवन का निर्माण करने वाली माता ही होती है। जार्ज वाशिंगटन, इब्राहिमलिंकन, नेपोलियन बोनापार्ट, इत्यादि महापुरुषों में शक्ति कहाँ से आयी? कहना पड़ेगा कि यह शक्ति का स्रोत उन्हें अपनी माता द्वारा ही प्राप्त हुआ था। प्राचीन काल में आर्यावर्त महान् धुरन्धर विद्वान्, दिग्गज दार्शनिक, प्रकाण्ड राजनीति विशारद, तत्ववेत्ता एवं महान तपस्वियों को जन्म दे सका है इसका श्रेय भी भारत की नारी पूजा को है। एक अंग्रेजी विद्वान ने नारी महत्ता के सम्बन्ध में यहां तक लिखा है कि

"The one that Shakes the cradle rules the World"

अर्थात् जो पालना झुलाती है वह दुनियाँ पर शासन भी करती है। सचमुच यह वाक्य लिखने वाला समाज शास्त्र का जबर्दस्त विद्वान् रहा होगा।

भारतीय सभ्यता के आदिकाल में नारी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण थी अतएव भारत उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ था। लेकिन बड़े दुख का विषय है कि मध्यकाल में नारी की अवगणना होने लगी। वह समय आया जब पुरुष वर्ग ने नारी के अधिकारों का अपहरण किया और उन पर अपना आधिपत्य जमालिया। स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ और वे पुरुषों की दासियां समझी जाने लगीं। इस प्रकार नारी जाति की अवगणना हुई। ज्यों ज्यों नारी का आसन नीचे खिसता गया त्यों त्यों आर्य जाति भी अवनति के गहरे गर्त की ओर अग्रसर होती गई। पुरुष वर्ग ने शक्तिकी मूर्ति रूप नारियों को गुलाम बना कर "अबला" कह दी। नारी को अबला बनादेने पर पुरुष सबल कैसे रह सकते थे? भला "अबला" सबल को जन्म कैसे देसकती है? फल यह हुआ कि नारीको अबला बनाने से पुरुष निर्बल होगये और सारी आर्य जाति कमजोर और पराधीन होगई। ज्योंही नारीकी स्वतन्त्रता छीनली गई त्योंही पुरुष भी दूसरों के गुलाम होगये। पुरुषों ने नारी को खिलौना बनाया तो वे भी दूसरों के खिलौने बन गये। नारी की अवज्ञा का परिणाम आजतक भारत गुलाम बनकर भोग रहा है।

मध्यकालीन युग में एक ऐसा अनिष्टकारी समय आया जब संसार के बहुत से देशों ने नारी के साथ अन्याय किया। धार्मिक क्षेत्र में भी नारी तिरस्कृत हुई। वह अत्यधिक उन्नति में बाधक ही नहीं लेकिन नरक का द्वार समझी जाने लगी। बड़े बड़े नीतिकार और पण्डितों ने यहां तक कह डाला कि "ये स्वभाव से ही अविश्वासिनी, चरित्रहीन, चञ्चल एवं मूर्ख होती हैं। इन्हें सदा डण्डे के जोर से रखना चाहिए—ये कभी स्वतन्त्र न होने पावें। किसी ने कहा इन्हें ढोल की तरह पीटना चाहिए। किसीने कहा—ये मूर्तिमती दुर्बलता हैं। किसी ने कहा ऐसी कोई बुराई नहीं जो स्त्रियां न कर सकतीं हों। किसी ने कहा ये सदा अशुद्ध होती हैं अतएव इन्हें शास्त्र पढ़ने का हक नहीं है। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" का सिद्धान्त निकल पड़ा। पुरुषोंने अपने आपको उनका स्वामी मानलिया और 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' कह कर उनके सब अधिकारों को छीनकर उन्हे कड़े पहरे में कैद कर लिया। यह अवस्था, यह युग पुरुष वर्ग के लिए घोर कलंक का युग है। पुरुष की स्वार्थ परता ने नारी जाति पर भयंकर अत्याचार किये। फल यह हुआ कि भारत सब तरह से गारत हो गया।

उक्त प्रास्ताविक विवेचन के बाद हम इस बात पर आते हैं कि जैन संघ में नारी का क्या स्थान है? जैन धर्म नारी को क्या अधिकार देता है?

जैन संघ में नारी को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। जैन धर्म ने स्त्री को पुरुष के बराबर योग्य मानकर उसे कैवल्य व मोक्ष की अर्थात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकास की अधिकारिणी सिद्ध किया है। नारी जब सर्व श्रेष्ठ—चरम एवं परम पुरुषार्थ मोक्ष की अधिकारिणी मान ली गई है तो उसे अन्य सब अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने संघ में नारी को भी स्थान दिया है। इतना ही नहीं उनके शासन में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या अधिक थी एवं है। गौतम बुद्ध ने अपने संघ में स्त्रियों को स्थान नहीं दिया था। प्रथम उन्होंने स्त्रीजाति को भिक्षु पद के लिए अयोग्य निर्धारित किया था परन्तु पश्चात् अपने प्रधान शिष्य 'आनन्द' के आग्रह से भगवान् बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षु पद दिया। महावीर स्वामी ने तो प्रथम से ही उन्हें पुरुषों के समान भिक्षुपद की अधिकारिणी निश्चित किया था। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव स्वामी ने ब्राह्मी, सुन्दरी को प्रथम शिक्षा दी थी और उन्हें अपने संघ में स्थान दिया था। ये ही ब्राह्मी एवं सुन्दरी महासती अभिमान पर चढ़े हुए साधु बाहुबलि को शिक्षा देती हैं कि "वीरा मारा, गज थकी उतरो, गज चढ़यां केवल न होसीरे"। ये साध्वियां अपने उपदेशों द्वारा बाहुबलि का अभिमान दूर करती हैं और इनके निमित्त से बाहुबलि केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। मतलब यह है कि जैन संघ में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही आध्यात्मिक विकास करने का अधिकार है।

जैन संघ में इन महासतियों (साध्वियों) को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि प्रातः काल उठकर प्रत्येक जैन यह मंगलाचरण करता है कि—

ब्राह्मी चन्दन बालिका भगवती राजीमती द्रौपदी,
कौशल्या च मृगावती चसुलसा सीता सुभद्राशिवा।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि
पद्मा वत्यपि सुन्दरी दिनमुखे कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

इस श्लोक में परम पावनी कल्याणकारिणी सोलह महासाध्वियों का नाम निर्देश किया गया है। इन मंगलमूर्तियों से मंगल की प्रार्थना की गई है। प्रातःकाल नित्य स्मरण करते हुए इन पवित्र नारियों का कीर्तन किया जाता है इस पर से यह स्पष्ट होजाता है कि जैनसंघ में नारियों को कैसा उच्च गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है।

यद्यपि दिगम्बरा..यों ने स्त्री प्रवज्या एवं स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है तदापि श्वेताम्बराचार्यों ने उनका युक्तिपूर्ण सचोट खंडन किया है और यह सिद्ध करदिया कि स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त होसकता है, और वे प्रव्रज्या अङ्गीकार करके मोक्ष में जा सकती हैं। विचारने की बात है कि स्त्रियों में किस बात की कमी है जिससे वे पुरुषों के समान मोक्ष की अधिकारिणी नहीं होसकती ? स्त्रियों में कौनसी शक्ति नहीं है ? स्त्रियों में किस विषय की योग्यता नहीं है ? व्यवहार यह सिद्ध करता है कि यदि साधन और अवसर समान मिलें तो स्त्रियां भी पुरुषों के समान प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़सकती हैं। प्रायः स्त्रीविरोधी वर्ग यह करता है कि स्त्रियों में शक्ति नहीं है, वे नाजुक हैं, अबला हैं। लेकिन उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि अत्यन्त प्राचीन काल में स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक बलवान् थीं आज भी यूरोप के असभ्य एवं आदि निवासियों की स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक काम करती हैं। उनमें दो-तीन पुरुषों जितनी शक्ति हैं। वे सभी बहादुरी के कार्य करती हैं। युद्ध करना, शिकार करना, व्यापार करना, आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करना इत्यादि सभी कार्य वहां स्त्रियां करती हैं। आफ्रिका के कांगो प्रदेश की स्त्रियाँ, उत्तरी अमेरिका और न्यूगाइना की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ, अरब और रूस की अर्धसभ्य जातियों की स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही सामर्थ्यवती और दृढ़ शरीरवाली होती हैं। हमारे यहां स्त्रियों में कमज़ोरी पाई जाती है इसका कारण यहां का पुरुष वर्ग है। पुरुषों ने उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उन्हे चहारदिवारी में कैद कर रखा है और इस तरह उन्हे अबला बना दी है। स्त्रियों की स्वाभाविक शक्ति को कुचल कर उनकी कमजोरी की बात आगे करके पुरुष अपने अन्याय का इजहार करता है। वस्तुतः अगर स्त्रियों को भी शारीरिक विकास के समान अवसर दिये जांय तो वे भी पुरुषों के समान सुदृढ़ और बलवती बन सकती हैं। इसका उदाहरण कुमारी ताराबाई हैं। कुमारी ताराबाई शारीरिक बल में प्रसिद्ध पहलवान प्रो० राममूर्ति से कम नहीं है। शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य बातों में भी स्त्रियां पुरुषों से कम नहीं हैं विदूषी एनी बेसेन्ट के विचार एवं

वक्तृत्व शक्ति में अन्य किसी विचारक से कम नहीं है। विदुषी सरोजिनी नायडू कवित्व शक्ति में किसी प्रसिद्ध पुरुष-कविसे कम नहीं है। ये सब इस बात को प्रमाणित करते हैं कि स्त्रियां भी पुरुषोंके समान प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कर सकती हैं।

आलंकारिक पंडित राजशेखर ने मध्यस्थ भावपूर्वक स्त्री जाति को पुरुष जाति के तुल्य बताया है:—

"पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्या महामात्य दुहितरो गणिकाः कौतुकि भार्याश्च शास्त्र प्रतिबुद्ध कवयश्च"। काव्यमीमांसा अध्याय १०॥

अर्थात्—पुरुष के समान स्त्रियां भी कवि होती हैं। संस्कार का सम्बन्ध आत्मा से है अतएव स्त्री पुरुष का भेद इसमें नहीं रहता है। कतिपय राजकुमारियां, मंत्री पुत्रियां, गणिकाएं इत्यादि शास्त्रनिपुणा एवं कवियित्रियां देखी व सुनी जाती हैं।

इसी तरह कविकुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने कहा है कि-"गुणा पूजा स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः"। अर्थात्-गुणियों के गुण की पूजा होती है। लिंग और अवस्था से कोई प्रयोजन नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस किसी व्यक्ति में गुण हो, उसके गुण की पूजा होती है चाहे वह गुणवान् व्यक्ति स्त्री हो अथवा पुरुष, छोटा हो अथवा बड़ा। कोई पुरुष बन जाने से निन्दनीय नहीं होसकता। लिंग और अवस्था से व्यक्ति की कीमत नहीं होती वरन् उसके गुणों से उसकी कीमत होती है। स्त्रीमें सद्‌गुण हैं तो वह पूजनीया है और पुरुष में दुर्गुण हैं तो वह निन्दनीय है। इसी तरह पुरुष में सद्‌गुण है तो वह पूज्य है और नारीमें दुर्गुण हैं तो वह निन्दनीया है। तात्पर्य यह है कि पुरुष होने से कोई बड़ा और नारी होने से कोई छोटा नहीं हो जाता। गुणों की ठेकेदारी न तो पुरुषों की है और न स्त्रियों की ही।

प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में स्त्रियां विदुषी होती थीं। वे दिग्गज विद्वानों के शास्त्रार्थ में निर्णायिका तक बनायी जाती थीं। प्रसिद्ध विद्वान् शंकराचार्य एवं मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी अध्यक्षा बनाई गई थी। इन धुरन्धर विद्वानों के शास्त्रार्थ का निर्णय देने वाली कैसी विदुषी होनी चाहिए। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से पहले पुत्रियों को शिक्षा देकर स्त्री शिक्षा का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया परन्तु बाद में लोगों ने नारी को शास्त्र पढ़ने तक का निषेध कर दिया। यह विधान यहां तक बढ़ा कि "एक घर में दो कलम नहीं चल सकती। जैन शास्त्रों ने तो नारी को मोक्ष की अधिकारिणी मानी है वे केवल ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं तो उन्हें शास्त्र के पठनपाठन की अनुमति कैसे नहीं हो सकती है? यहां प्रश्न यह खड़ा होता है

कि दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग स्त्रियों को पढ़ने का निषेध है, ऐसा क्यों ? इस का समाधान यह है कि यह कथन प्रायिक है। प्रत्येक स्त्री के लिए निषिद्ध है ऐसा नहीं है। जो स्त्रियां समर्थ एवं योग्यतावाली हों वे इसका अभ्यास कर सकती हैं। जब स्त्री को केवलज्ञान तक हो सकता है तो क्या वजह है कि वह दृष्टिवाद का अध्ययन न कर सके। केवल ज्ञान की अधिकारिणी मानने पर दृष्टिवाद पढ़ने का निषेध करना ठीक वैसा ही है जैसे किसी को रक्षा के लिए रत्न सौंप देने के बाद कहना कि तुम कौड़ी की रक्षा नहीं कर सकते। किन्हीं २ आचार्यों ने यह कहा है कि स्त्री में तुच्छत्व अभिमान, इन्द्रिय चाञ्चल्य, मतिमान्द्य आदि मानसिक दोष होते हैं अतएव दृष्टिवाद के पठन का निषेध किया गया। कोई आचार्य यह कहते हैं कि शारीरिक अशुद्धि के कारण इसका निषेध किया गया परन्तु ये दोनों ही पक्ष तात्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के फल हैं वैदिक विद्वानों ने शारीरिक अशुद्धि को अग्रस्थान देकर स्त्री और शुद्र जाति को वेदाध्ययन के लिए अनाधिकारी बतलाया इन विपक्षी सम्प्रदायों का इतना असर पड़ाकि उससे प्रभावित होकर पुरुष जाति के समान स्त्री जाति की योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर आचार्य उसे विशेष अध्ययन के लिए अयोग्य मानने लगे होंगे। वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से इस प्रकार का निषेध नहीं हो सकता। जैन संघ स्त्रियों के प्रति उतना ही उदार है जितना वह पुरुषों के प्रति है। वह स्त्रियों को वे सब अधिकार प्रदान करता है जो वह पुरुषों को देता है।

बन्धुओं! आप लोगों का कर्त्तव्य है कि अब आप नारी जाति को वे सब सुविधाएँ प्रदान करें जिनके द्वारा वे अपना विकास कर सकें। आप लोगों ने अब तक नारियों को पर्दे में कैदकर के घर की चहारदिवारी में बन्द रख छोड़ी है। उन्हे अब मुक्त करिए और उन्हे उनके विकास के सभी अवसर दीजिये। यह याद रखना चाहिए कि स्त्री के विकास के बिना समाज, जाति और देश का अभ्युत्थान नहीं हो सकता। नारी जागरण के बिना किसी प्रकार की जागृति नहीं हो सकती। अगर हम कुटुम्ब, समाज, जाति एवं देश को उत्थान की ओर ले जाना चाहते हैं तो सबसे प्रथम महिलाओं का सुधार होना चाहिए। नारी ही जाति ही देश की नींव है। जबतक नींव विकृत-डांवाडोल एवं कमजोर है वहां तक उस पर भवन निर्माण नहीं हो सकता। जब नारी जाति रूपी सुधार की नींव दृढ़ होगी तभी उस पर उन्नति के भवन का निर्माण हो सकेगा। अतएव सुधारकों का कर्त्तव्य है कि नारी जागरण के लिए भरसक प्रयत्न करें। स्त्रियों में सुधार करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उन्हे शिक्षित बनाई जाँय। अबतक अपने स्वार्थ पोषण के लिए पुरुषवर्ग ने नारियों को शिक्षा से वञ्चित रखी है। इस पाप का प्रायश्चित स्त्रियों की शिक्षा के लिए अच्छी से अच्छी सुविधा करके करना चाहिए। स्त्रियाँ सुशिक्षिता होंगी तो भावी पीढ़ी का भव्यनिर्माण कर सकेंगी नारियों के हाथों ही में अगली पीढ़ी को सुन्दर या असुन्दर बनाने की शक्ति है। एक नारी सौ शिक्षक का काम देती है।

यह तत्व समझकर स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करके सर्वोदय की नींव डालनी चाहिये।

इस बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी सभ्यता का तीव्रवेग से प्रहार होरहा है। इसका प्रभाव नारियों पर भी पड़ा है। वे भी उठकर दुनिया के साथ दौड़ना चाहती हैं। आज दुनियां जिस विनाश की ओर अग्रसर होरही है उसी ओर वे भी बढ़ना चाहती हैं परन्तु यह स्थिति भयकर है। आज की नारी बिना कुछ समझे पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुसरण कर रही है। वह पुरुषों का मुकाबला करती हुई पश्चिमी सभ्यता के प्रवाह में बही जा रही है। इसमें नारी जाति की शोभा नहीं है। यह स्वतन्त्रता नहीं किन्तु उच्छृंखलता है। नारियों को अपने सामने प्राचीन आर्य सभ्यता के स्वर्णमय अतीत का आदर्श रखना चाहिए और उसी ओर प्रगति करनी चाहिए। नारियों को पुरुषों से प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिए लेकिन उन्हें अपना सहधर्मी मानकर काम करते रहना चाहिए। वास्तव में नर और नारी में प्रतिस्पर्धा नहीं होनी चाहिए। दोनों मित्र तुल्य हैं और उन्हें मित्रतुल्य ही रहना चाहिए। पुरुष नारी का सहधर्मी है और नारी पुरुष की सहधर्मिणी है। नर पति, स्वामी और मालिक रहे और नारी पत्नी, स्वामिनी और मालकिन हो। ऐसा होने पर यह आर्यावर्त फिर उसी अभ्युदय को प्राप्त कर सकेगा जो उसे स्वर्णमय अतीत में प्राप्त था।

अन्त में पुनः यह निवेदन कर देना उचित है कि शक्ति की सजीव प्रतिमा रूप नारियों की प्रतिष्ठा के बिना भारत का नव निर्माण नहीं होसकता है। अगर हम भारत की काया को पलटना चाहते हैं तो नारियों के प्रति हमें हमारा दुर्व्यवहार उपेक्षा भाव पलटना होगा। नारियों को उन सभी सामाजिक कुरीतियों से (बाल-विवाहादि) मुक्त करना होगा जो उनके शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास में बाधारूप होरही हैं। नारियों के आदर के बिना संसार में हम आदर नहीं प्राप्तकर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने लिखा है कि जो जातियां, जनता नारियों का आदर करना नहीं जानतीं वह कदापि उन्नत नहीं हो सकतीं। यदि हम यह चाहते हैं कि ये स्त्रियां सिंह के समान बच्चे पैदाकरें तो क्या हमें उन्हें सिंहनी नहीं बनाना चाहिए ? सियारनी सिंह के बच्चे को जन्म देसकती है ? कदापि नहीं ?

अतएव भारत के नव निर्माण के लिए हमें नारियों की प्रतिष्ठा करनी होगी। जब भारतमें नारीपूजा होगी तो यहां पुनः देवता रमण करने लगेंगे। जैन संघमें नारीको उच्च स्थान है। जैन शास्त्रों में नारीयों के गुणों का बखान है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसको अपने व्यवहार में लावें। शास्त्रों में वर्णित नारी महत्व को व्यवहारिक रूप देकर हमें अभ्युदय के पथ में पदार्पण करना चाहिए।

नारी नारी मत कहो नारी नरकी खान ।
नारीही के गर्भसे हुए वीर भगवान् ॥

—oXo—

जैन दर्शन में अपरिग्रह

ले० श्री चम्पालाल कर्णावट बी. ए, विशारद
सम्पादक "जिनवाणी"



आज संसार में सर्वत्र अशान्ति छाई हुई है। मानव मानव का भक्षक बना हुआ है। इस छीना झपटी के दृश्य ने हमें विस्मय में डाल दिया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाने में ही अपना कल्याण समझता है। एक मनुष्य दूसरों के पास रही हुई वस्तु को किसी तरह हड़पने की ताक में लगा हुआ है। इधर हजारों प्राणी भूख से बिलबिला रहे हैं–बेचारे अपनी जठराग्नि में ही जले जा रहे हैं। उधर श्रीमन्तगण मोटर व कार में बैठे पक्की सड़कों को पार करते हुए अपने वैभव पर इठला रहे हैं।

रूस में साम्यवाद का नारा गूंजा और साथ ही उसने संकल्प किया कि इसका प्रचार अन्य देशों में भी हो। कहीं पूंजीवाद का आधिपत्य है–वे मजदूरों को चूसना ही चाहते हैं–सम्पूर्ण पृथ्वी पर पूंजी का अधिकार चाहते हैं। कहीं समाजवाद की रूप रेखा है तो कहीं किसी वाद की। कोई व्यक्तिवाद का उपासक है तो कोई समष्टिवाद का तात्पर्य यह है कि विश्व एक अद्वितीय रंगमंच बना हुआ है और उस पर नाना तरह के खेल होते दिखाई दे रहे हैं।

क्या कभी आपने सोचा है कि इस नाटक का सूत्रधार साथ ही प्रमुख अभिनेता कौन है ? किसके चलाने ये सारे दृश्य चित्रपट पर आरहे हैं ? मैंने तो जहाँ तक विचारा है–एक शक्ति ही–एक वस्तु ही सबको आधीन किये हुए है– उसी की चाह में सारे दौड़ रहे हैं। वह वस्तु है परिग्रह उसे धन, सम्पत्ति, ममत्व, मोह, लोभ, लालच, तृष्णा किसी भी नामसे पुकारें बात एक ही है।

एक वह जमाना था कि जब मनुष्य को अपने पेट की चिन्ता न थी, पहनने की परवाह न थी। जिस चीज की जरूरत होती वह उसे मिल जाती। कल्पवृक्ष उस समय सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, उस समय की आवश्यकता आज की तरह असीम न थी समय ने पलटा खाया, किसी व्यक्ति के मन में दुर्भावना समाई। उसमें संग्रह वृत्ति ने अपना बीज अंकुरित किया। मनुष्य ने सोचा–रोज २ कल्पवृक्ष से कौन मांगे ? ५-७ दिन की सामग्री साथ ही क्यों न लेलूं। यही भावना कुछ और व्यक्तियों के हृदयों में भी जाग उठी इधर इस प्रवृति के बढ़ते ही कल्पवृक्ष से फल मिलना बंद होगया। लोगों के सामने बड़ी विकट समस्या उत्पन्न होगई। जब मनुष्यों के दुःख अधिक बढ़गये और हाहाकार मचगया तो आदीश्वर भगवान् ने असि मसि और कृषि कर्म का बोध जनता को कराया। मानव की आवश्यकता धीरे २ बढ़ती गई और आज उसका यह नग्न रणचंडी रूप हमारे सामने है।

संभव है आप इसे काल्पनिक घटना समझें इसकी और सत्यता में संदेह करें किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत तो आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा। उनके विचारानुसार—एक समय वह था जब मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी कम थीं कि वह स्वतः पूरी कर लेता था। वे बिना ही परिश्रम के पूर्ण हो जाती थीं। समय ने अपना रूप बदला। परिश्रम की आवश्यकता हुई। आवश्यकताएँ बढ़ीं। उनकी पूर्ति के लिए नये २ साधन प्रस्तुत हुए और साथ ही नयी २ इच्छाओं ने अपना प्रबल रूप धारण किया। उसीका वृहद् रूप आज का विश्व है। एक ही मनुष्य को इतनी वस्तुओं की आवश्यकता है कि उसे एक देश से ही नहीं संसार के कोने २ से मंगानी पड़ती हैं।

भारतवर्ष हमेशा ही से धर्म प्रधान देश रहा है। यहां के प्राचीन पुरुषों ने कभी भी परिग्रह को यह रूप नहीं दिया जो उसे आज अनायास ही मिल गया है।

यों तो भारत के सभी धर्मों ने परिग्रह को त्याज्य कहा है। बौद्ध भिक्षुओं का त्याग किसलिए था? केवल इसी परिग्रह से त्राण पाने के लिये। हिन्दुधर्म में भी परिग्रह को धर्म का बाधक ही कहा है फिरभी इसे सर्वथा त्याज्य नहीं कहा है। जैन धर्म इसे पापों की खान कहता है और उसने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य के साथ अपरिग्रह को भी प्रमुख स्थान दिया है।

अब हम नीचे आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार देते हुए परिग्रह की व्याख्या करेंगे।

अर्थ शास्त्री जन साधारण जनता द्वारा कहे जाने वाले परिग्रह को ही परिग्रह नहीं कहते। उनकी व्याख्या इससे बहुत विशद है। जन साधारण घर-मकानात, सोना-चांदी और ऐसी ही धातुओं को परिग्रह समझता है किन्तु एक अर्थ शास्त्री के लिये वह चीज भी परिग्रह का रूप धारण कर लेती है जिसे आप बेमूल्य समझ कर फेंक देते हैं। उदाहरण के तौर पर एक भिखारी और एक श्रीमन्त को लीजिये। श्रीमन्त ने अपना कमीज़ फट जाने की हालत में होने के कारण उसे फेंक दिया। उसके लिये वह परिग्रह नहीं। किन्तु एक भिखारी के लिए जो नंगा भूखा है वह कमीज़ संपत्ति रूप हो सकता है। वह उसे संभाल २ कर रखेगा और समय पर ही उपयोग में लावेगा। तात्पर्य है कि वह उसे अपना सर्वस्व समझेगा। वह उसे उसी प्रकार सावधानी से रखेगा जैसे श्रीमन्त अपने जड़ाऊ सोने के हार को। अतः अर्थशास्त्रियों ने विचार कर अर्थ (Wealth) की निम्न लिखित परिभाषा की है:—

According to Marshell wealth may be said to consist of two classes of goods, firstly of those material goods to wihch a person has by lawor custom *private rights* of property and wihch are consequently transferable and possess value in exchange, and secondly of those Non material

goods wihch belong to him, are external to him and serve directly as the means of enabling him to acquir material goods.

अर्थशास्त्र में धन केवल रुपये पैसे, सिक्के और सोने चांदी आदि धातुओं को ही नहीं कहते, वरन् इसके अंतर्गत वे सब पदार्थ समझे जाते हैं जिनसे मनुष्य की किसी प्रकार की आवश्यकता पूरी हो सकती हो एवं जिनको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हों। संक्षेप में समस्त उपयोगी और विनिमय साध्य वस्तुएँ धन हैं। संसार में बहुतसी वस्तुएँ उपयोगी हैं किन्तु विनिमय साध्य नहीं जैसे हवा, रोशनी, पानी आदि। प्रकृति ने ये चीजें अपरिमित परिमाण में दी हैं और सब के लिये दी हैं। किसीकी इस पर रोक नहीं लगती। अतएव यह अर्थ (धन) नहीं समझा जा सकता। परन्तु ये ही वस्तुएं क्षेत्र और समय के अनुसार धन का रूप धारण कर सकती हैं जैसे बिजली द्वारा प्राप्त रोशनी, पंखे की हवा। भौतिक पदार्थों के साथ अभौतिक पदार्थ भी धन की परिभाषा में सम्मिलित हैं। किसी फर्म की ख्याति-जो उपयोगी भी है और विनिमय साध्य भी है। गवैये द्वारा संगीत का आनन्द जो पारिश्रमिक देकर प्राप्त किया जाता है-धन ही है। इससे मालूम हुआ कि धन वही चीज है:—

१ जिसकी उपयोगिता हो, २ जो परिमित हो, ३ और जो विनिमय साध्य हो।

आपने आधुनिक अर्थ शास्त्र के विद्वानों का धन की व्याख्या के बारे में मत जान ही लिया है। अब जरा जैन दर्शनानुसार भी विचार करलें और फिर तुलना करें कि कौनसी व्याख्या विशद है और इनमें कितना संतुलन है?

तत्वार्थ-सूत्र में कहा है-मूर्छा परिग्रहः। अर्थात् किसी वस्तु में मूर्छा, ममत्व, लोभ, इच्छा ही परिग्रह है। परिग्रह की व्युपत्ति करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि "परिग्रहणं परिग्रहः" जिसे ग्रहण किया जावे वह परिग्रह है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जिसमें ममत्व है-जिसकी हम इच्छा करते हैं-जिसकी हमें चाहना है और जो हमारे लिये उपयोगी है। जिस वस्तु में हमारी मूर्छा नहीं है, ममत्व नहीं नहीं है-संग्रह बुद्धि और लोभ भावना नहीं है वह पास नहीं रखी जा सकती, वह अपनायी नहीं जा सकती। अतः जो ममत्व भाव से ग्रहण की जाय वही परिग्रह है।

दूसरे शब्दों में परिग्रह की परिभाषा निम्न रूप में की जा सकती है:—

"भोगोपभोग तृष्णा से उन्मत्त होकर संसार के बाह्य तथा आभ्यंतर पदार्थों के अर्जन, संरक्षण तथा संवर्धन की भावनारूप मूर्छा को परिग्रह कहते हैं।"

तात्पर्य यह है कि धन, धान्य मकानात व अन्य वस्तुओं का संग्रह ही धन नहीं है किन्तु पास में कुछ न होते हुए भी लालसा करना-प्राप्ति की इच्छा करना भी परिग्रह है।

शास्त्रों में परिग्रह के दो भेद किये गये हैं १ आभ्यंतर और २ बाह्य। आभ्यंतर परिग्रह में अविरति प्रमाद कषाय आदि को माना है जिनकी उत्पत्ति मुख्यतः मन से है और जिनका निवास, स्थान, भी मन ही है। अर्थात् जो मन, या हृदय से संबंध रखते हैं और विचार रूप हैं उन सबकी गणना आभ्यंतर परिग्रह में है। क्रोध, मान, माया और लोभ का इसी परिग्रह में समावेश है। जब तक क्रोधादि से मुक्ति नहीं तब तक कोई भी पूर्ण अपरिग्रही नहीं हो सकता।

बाह्य परिग्रह के भी दो भेद किये गये हैं—जड़ व चेतन। जड़ में वे तमाम पदार्थ आजाते हैं जो निर्जीव हैं। जैसे सोना, चांदी, मकान, वस्त्रादि। चेतन परिग्रह में पशु, पक्षी, मनुष्य, पृथ्वी, वृक्ष आदि सजीव पदार्थों का समावेश है।

भगवतीसूत्र में भगवान ने तीन परिग्रह मुख्य बताये हैं—कर्म, शरीर और भाण्डोपकरण। ये तीनों उपरोक्त बाह्य और आभ्यंतर भेदों में आजाते हैं अतः विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं।

संसार में अनेक प्राणी हैं। प्रत्येक की रुचि भिन्न होती है। कोई किसी वस्तु का संग्रह करता है तो कोई किसी का। सबका ममत्व किसी एक वस्तु पर एकसा नहीं रहता और इसीलिये एक ही वस्तु दो सज्जनों के पास समान रूप में होनेपर भी उन्हें एकसा परिग्रह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के तौर पर लीजियेः-- दो सज्जनों में से प्रत्येक के पास एक२ लाख रुपया नकद है। पहिले का उन पर अत्यधिक राग एवं मोह है। उसकी सदैव यह इच्छा बनी रहती है कि यह संपति मुझसे कभी न छूटे। दूसरे सज्जन का उस अपनी संपति पर इतना मोह नहीं है। वह यह समझता है कि ये रुपये मेरी कोई निजी आत्माकी वस्तु नहीं है। वह किसी अच्छे कार्य में उनका उपयोग करने में सदैव तत्पर रहता है।

यहां दोनों के पास संपत्ति एकसी होते हुए भी उस पर ममत्व एकसा नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि पहला व्यक्ति अधिक परिग्रही है और दूसरा अल्प परिग्रही। अभिप्राय केवल इतना ही है कि ममत्व, मूर्छा, गृद्धि चाहे इन्हें तृष्णा, लोभ, लालच किसी नाम से पुकारें-परिग्रह हैं। पदार्थ परिग्रह नहीं किन्तु उनमें रहा हुआ ममत्व ही परिग्रह है।

ऊपर परिग्रह की व्याख्या काफी स्पष्ट हो चुकी है। अर्थ शास्त्रियों का मत और हमारे दर्शन का मत मिलता जुलता ही है। उनमें फर्क सिद्धान्त का नहीं किन्तु परिणाम का है। जैन दर्शन की व्याख्या बहुत ही विशद है जब कि आधुनिक अर्थ शास्त्रियों ने उसे संकुचित रूप में रख छोड़ा है और वे केवल सांसारिक समस्त जड़ पदार्थों को तथा कुछ चेतन और आभ्यंतर पदार्थों को अर्थ का रूप देते हैं। उन्होंने अर्थ की पहचान के लिये परिमित परिमाण, विनिमय साध्य आदि जो कसोटियें लगा रखी हैं वे ही अर्थ के दायरे को संकुचित करती हैं नहीं तो

उनकी यह परिभाषा की आवश्यकता चाह (desire) ही परिग्रह (अर्थ) है-जो जैन दर्शनानुसार बहुत अंशों में ठीक है अस्तु।

आपके सामने अब यह बताने का प्रयास किया जावेगा कि परिग्रह ही पाप कामूल है और संसार परिभ्रमण का कारण है।

यह हमारी भारत-भूमि ही है जिसने सर्व प्रथम स्वतंत्र विचारों को जन्म दिया था। बड़े २ दार्शनिक और आध्यात्मवादी इसी देश में हुए। परिग्रह को सबने ही पाप का कारण बताया है किन्तु अपरिग्रही रहने के लिये जितना जोर जैन दर्शन देता है वैसा कहीं देखने में नहीं आता। बौद्ध धर्म का प्रकट रूप भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ के रूप में विकसित हुआ था फलतः वे सब गृह त्यागी होने के कारण जनता के आदर की वस्तु बने किन्तु इससे आगे वे न बढ़ सके। उनका सर्वथा अपरिग्रही रूप न होने पाया।

वैदिक दार्शनिकों ने संसार त्याग का उपदेश तो अवश्य दिया है किन्तु जिसके कारण संसार से विरक्ति नहीं होती उस परिग्रह को हिंसा, मृषा, स्तेय आदि पापों के साथ नहीं गिनाया गया। यद्यपि उन्होंने परिग्रह को उपादेय नहीं कहा है फिरभी वह विश्लेषण और महत्व नहीं दिया गया जो जैन दर्शन में है। इसवर्ग के आचार्यों में योग दर्शन के प्रणेता पतंजली अधिक स्पष्ट हैं क्योंकि ५ यमों में उन्होंने अपरिग्रह को स्थान दिया है।

परिग्रह ही सारे अनर्थों की खान है। परिग्रह के लिये धर्म और ईश्वर के प्रति भी विद्रोह किया जाता है। इसी के लिये छल, कपट, अन्याय और अत्याचार होते हैं। कुगुरु और कुदेव को परिग्रह के लिये ही पूजा जाता है। परिग्रह विश्वास; घात, दुर्व्यसन और दुर्गुणों का पोषक एवं संचालक है। संसार में जितनी भी हिंसा हुई है सब की जड़ में परिग्रह ही है। राम रावण का युद्ध, मणिरथ द्वारा युगबाहु की हत्या, कोणिक और चेड़ा का युद्ध और आज के ये सब महायुद्ध-इन सब की बुनियाद में परिग्रह के अलावा कुछ नहीं है। इसी परिग्रह के लिये पुत्र ने ने पिता को मारडाला। इतिहास प्रसिद्ध बादशाह औरंगजेब के चरित्र से तो दुनिया परिचित है। उसने राज्य प्राप्ति के लिये कितनी हत्याएं की थी और अपने आत्मीय जनों को मौत के घाट उतारा था। महाभारत का युद्ध हमें युग २ तक यह साक्षी देता रहेगा कि परिहग्र के कारण भाई भाई का रक्षक न होकर भक्षक हो गया। प्रजा द्रोह, राज द्रोह, देश द्रोह, जाति द्रोह आदि सबका एक मात्र कारण यही परिग्रह है।

अब प्रश्न यह होता है कि सुख साधनों का एकत्रित करना ही यदि पाप है तो संसार में करनीय क्या रह जाता है?

ठीक ही है, विचारना तो इतना ही है कि जिस जीवन के लिये सुख साधन है उसे ही मूल्य में देकर सुख साधनों का लेना क्या समझदारी होगी?

इस भीषण नर संहार, अन्याय, अत्याचार, दुर्गुण और भयंकर पाप बंध से बचने का केवल एक ही रास्ता है और उसे भगवान महावीर ने सब को दिखला दिया था। मनुष्य अपरिग्रह व्रत की ओर झुके और उसे अपनाये विना आभ्यंतर और बाह्य परिग्रह दोनों को त्यागे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसीलिये साधुओं के लिये पांच महाव्रतों में इसे स्थान दिया गया है। श्रावकों अर्थात् गृहस्थों के लिये भगवान् ने परिग्रह परिमाण व्रत का निर्देश किया है।

जिसे अपना कर गृहस्थों को चाहिये कि अपनी आवश्यक वस्तुओं से अधिक अपने पास न रखें और धीरे २ उनमें भी कमी करते जाएँ। सारांश यह है कि गृहस्थ के लिये ममत्व भाव से सर्वथा रहित होना शक्य नहीं, इसीलिये ममत्व (परिग्रह) को परिमित करने का आदेश भगवान महावीर ने दिया है।

अगर मानव समाज महावीर के बताये इस अपरिग्रह व्रत की ओर बढ़ेगा तो निश्चयही कलह, झगड़ा, विद्वेष, नर में संहार, अन्याय और अत्याचार इन सबका अंत होकर विश्व स्थायी शान्ति हो सकेगी।

—oXo—

JAINISM AND MEAT-EATING

BY SHRI M. V. SHAH.

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किञ्चणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावतं वियाणिया ॥ सूयडांग-सूत्र.

It is an indisputable fact that the very root on which the edifice of Jainism stands is *"Ahimsa"*. Coming across certain phrases or sentences in the Jain scriptures, some are led to believe that in the times gone by meat-eating was common among the Jains including the Jain monks. In old times some people used to think the same way and in modern times, too, the learned Prof. Hermann Jacobi and Prof. Hoernle followed the same wake of belief. Recently this controversy has been revived by a renowned student of Buddhism, Pandit Dharmananda Kosambi. In his publication 'Bhagwana Buddha' this learned writer has touched this subject, giving references of Jain Sutras, that just as Lord Buddha and his disciples were used to meat-eating Lord Mahavira and his disciples were also used to the same thing

Many scholars of Jainism have, before this, tried to refute this way of thinking, and this article, too, is nothing but an honest effort on my part to further expound this subject.

In three Jain scriptures we come across a few sentences in which are used the words अट्ठियं, मंसं and मच्छ;—this is the circumstance which has given rise to so much controversy, because the crities have interpreted such words in their own way and naturally the readers are led by the interpretations of these critics. But interpretations cannot be said to be infallible. Because it is almost the daily experience of a student of language that the same word admitting of different meanings can be construed in varied ways by different writers and readers according to their own understanding and knowledge not only of the language but of the subject or Sastras which they try to explain.

Though this subject has been dealt with in detail in 'जैनदर्शन अने मांसाहार' published in Gujarati and Hindi by the writer of this artical, an attempt has been made here to publish this article, in concise from in English, with a view to draw the attention of Jain and Non-Jain scholars of 'Ardha-Magadhi' and request them to evince interest in the subject and givn their learned and well considered opinion on the in terpretations given here.

Acaranga, Dasavaikalika and Bhagavati are three of the old Jain Sutras. The frist two of these are virtually the authoritative Code of Ethics for the Jain monks. The words अट्ठिय, मंस and मच्छ above referred to are used at certain places in these two Sutras, in which the observance of certain conditions is imposed on the monks regarding their vigilance while going out for and receiving गोचरी (food from door to door). Need it be said that those were the days when killing of animals for sacrifices at altars and meat-eating were very common among the people. And in Bhagavati Sutra a certain mention about the medicinal use of a certain food

has been *interpreted into meat-eating by some of the critics.*

These interpretations, therefore, are open to discussion and require elucidation by the language experts.

आचारांगसूत्र

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तेल्लपूययं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए णो खद्धं खद्धं उवसंकमित्तु ओभासेज्जा। णन्नत्थ गिलाणणीसाए। (६१९)

Acaranga Sutra by Prof. Ravji. Dovraj, Page 131.

Oh. monk or nun. know by this that if you come to know that at a certain house meat and fish are fried and cakes or buns are also cooked in oil for the enterainments of guests you need not, indiscrimiastely, go to such a house in a hurry and ask for alms. If it be unavoidably expedient go, however, only for the sake of service to a sick monk, you can.". (619.)

This permission to go to such a house cannot in any way mean that the author of the Sutra extends permission to receive meat in alms. The permission to go to house is only under exceptional and unavoibable circumstances of a sick monk, who may be in need of a light vegetarian food such as cakes and buns, which are not available at any other place. Under normal conditions, however, a monk or nun has to keep away from such places, even though they may be answering to certain of his or her requirements. This saves them from the blame to which, otherwise, they can be exposed by indiscriminate critics.

A household contains so many articles and things, the use of some of which may be permissible to the monks and nuns and that of the others not permissible. If a monk goes to such a place he goes only for the permissible ones. It is not fair and just, on the part of the critics, therefore to put wrong construction and say that he goes and receive non-permissible things too.

2nd quotation under dispute:—

से भिक्खू वा (२) से जं पुण जाणेज्जा, बहु अट्ठियं मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटगं, अस्सिं खलु पडिगाहितंसि अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं बहुअट्ठियं मंसं मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा (६२६)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएण मंसेण मच्छेण उवणिमंतेज्ज "आउसंतो समणा, अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए" ? एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा, "आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा, णो खलु मे कप्पइ से बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं" से सेवं वदंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं परिहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा। से आहच्च पडिगाहिए सिया, तंणो 'हि' त्ति वएज्जा, णो 'अणहि' त्ति वएज्जा, सेत्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा। अवक्कमेत्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडए जाव अप्पसंताणए मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा अवक्कमेत्ता अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि थंडिलंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव पमज्जिय २ परिट्ठवेज्जा। (६३०)

Acaranga Sutra by Prof. Ravji Devraj, Page 134- 35.

The interpretation of para 629 is this: —"A monk or a nun need not accept बहुअट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं in his or her alms, only for the reason that such food contain much of the non-eatable and very little of the eatable parts.

The same thing has been reiterated, with greater stress, in details, in the next para, which says that, if a monk or a nun happens to a certain house for alms and any inmate of the house asks him or her whether he or she will accept बहुअट्ठियं मंसं he or she should say in reply that बहुअट्ठियं मंसं is not acceptable to him or her. He or she can accept only पोग्गलं and not अट्ठियाइं. In spite of this, if the host persistently puts बहु अट्ठियं मंस in his or her vessel against his or her will, the monk or nun should be tolerant should go to an unfrequented place, where he or she should use मंसगं मच्छगं the eatable part and should put away अट्ठियाइं कंटए the non-eatable part in a safe place such as burnt up ground, *heap of bones*, heap of scrape iron etc. which should be devoid of insects and other small creatures".

In the first instance let me try to explain the meaning and use of the words, which I have used in the original

untranslated form in the above paragraph, because most of the critics have taken their stand on these words and interpreting them in their own way, have gone so far as to say that meat-eating was common among the Jain's of old.

It is quite evident that in the compound बहु अट्ठियं the latter part is अट्ठियं and not अट्ठि because in the same quotation its own derivatives अट्ठियाइं and अट्ठिएणं are used (see footnote *)

अट्ठि (सं. अस्थि.)=bone

अट्ठिय (सं. अस्थिक)=As hard as bone; seed.

(Apte's Sanskrit-Eng. Dictionary, page 103).

Jainagams Sabda-Sangraha, page 36).

The original writers of the Sutra are quite conscious of the difference in the meanings of अट्ठि and अट्ठिय and there-fore in the first part of the quotation under discussion where the writer intended to refer to *seed* the word अट्ठिय is used i. e. बहुअट्ठियं अट्ठियाइं अट्ठिएण and in the latter part where he inteded to refer to *bone* the word अट्ठि is used i. e. अट्ठिरासिसि heap of *bones*.

The difference in the meaninges of these two words, given in the above text from the literary standpoint is much convincing to the common sense also. and these words are used in their respective meanings in scriptural quotations given below.

अट्ठि=bone.

1. अट्ठिमिंज पेमाणुरागरत्ते।

1. One whose love for religion is as far deep rooted as the marrow of the *bones*.

---

* Footnote:—

Derivatives of अट्ठि & अट्ठिय.

Case	अट्ठि Singular	Plural	Case	अट्ठिय Singular	Plural
प्रथमा.	अट्ठि.	अट्ठीणी, अट्ठीइं, अट्ठीइँ.	प्रथमा	अट्ठिये.	अट्ठियाणि, अट्ठियाइं, अट्ठियाइँ.
द्वितीया	,,	,,	द्वितीया	,,	,,
तृतीया.	अट्ठीया	अट्ठीहि, अट्ठीहिं, अट्ठीहिँ	तृतीया	अट्ठिएण, अट्ठिएणं	अट्ठिएहि, अट्ठिएहिं,

(Bhagavati Sutra, s. 2, Cha. 5th)

2. अट्ठिचम्मावणद्धे ।

A skeleton of *bones* wrapped in skin.
(Jnata sutra, Abhyayana 1st.)

3. तओ पितियंगा पन्नता तं० अट्ठिमिज्जकेसमंसुरोमनहे ।
The following are the paternal contributions in the constitution of a child *Bones* marrow, hair and nails.
(Thananga Sutra 3rd thana)

अट्ठिय=Stone of a fruit. 2. seed.

1. रुक्खा दुविहा पन्नता तं० एगट्ठिया (एग+अट्ठिया) य बहुबीया य
There are two kinds of trees yielding fruits, having one *seed* or many seeds.
(Jivabhigama Sutra, page 45)

2. पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं
Give me the soft pulp of a fruit but not the *seeds.*
(Acaranga Sutra. 630)

3. सअट्ठियं सकणुयं सबीयगं.
(water) containing a *stone of a fruit.* particle or a seed. (Acaranga Sutar, 5 9)

4. तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिया । तणकट्ठसक्कर वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥ ८४ ॥

while taking his meal if a monk happens to feel in his morsel *a seed.* a thorn, a straw, a bit of wood a small stone etc
(Dasavaikalika Sutra, Adhyayana 5th gatha 84)

As shown above अट्ठिय means *seed* and बहुअट्ठिय means having many seeds. The latter being adjective of मंसं, मंसं cannot mean flesh, because flesh dose not contain seeds; but it means only the pulp or soft part of a fruit, and the use of मंस in this sense is well known.

मंस=(सं. मांस.)= 1. Flesh. 2. Fleshy part of a fruit.
(Apte's S. E, Dictionary, page 753.)

(Paia-Sadda-Mahannavoa, page 824 & 1274)

मंस in the sense of a pulp of a fruit has been used in the Sutras, in English language, in Botany and even in the medical science as can be ascertained from the following authorities, in

Sutra. विंट मंस कडाह एयाइ हवंति एगजीवस्स ॥

The stalk, the pulp and the skin (of a fruit) have one life.

Pannvana Sutra, Chapter on Vegetation, gatha 12th)

English. Flesh. Soft pulpy substance of fruit. (Eng. Dic. by S. Ogilvie, page 292)

Botany. Fleshy part of a fruit.

Medical Science } स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्

while describing the properties of a Bijora fruit the word मांस is used for the pulpy part of that fruit. (Susruta Samhita, page 327)

In this way बहुअट्ठियं मंसं means 'the pulp of a fruit with many seeds.'

Now let us further examine the meaning of मच्छं वा बहु कंटगं which is used is the same sentence. In the sentence बहुअट्ठियं मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटगं, the word वा is twice used. The word वा, according to Apte, can be used in two ways,

=(1) as an alternative conjunction meaning *or and, also.*

(2). as a figurative attribute equivalent to *to* यह meaning *Like* (Apte's S. E. Dic., page 839.

Jain-agama Sabda Sangraha, P. 680.

Amarakosa, Page 288, Sloka 284).

The following examples respectively show that वा is used in both the above senses in Jain scriptures:

(1) से भिक्खू वा भिक्खुणि से जं पुण जाणेज्जा ।

Oh monk *or* nun, again know by this.

(Acaranga Sutra, 630).

नाहं रमे पक्खिणि पञ्जरे वा,

Like a bird shut up in a cage which does not feel happy.

(Uttradhyayana Sutra, Adhyayana 14th, gatha 41)

The said sentence बहु अट्ठियं मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटगं if arranged in syntactical order will run as follows:—मच्छं वा बहु कंटगं वा बहुअट्ठियं मंसं (णो पडिगाहेज्जा) and which means (Do not accept) the soft pulp of a fruit containing many seeds *or* any thing hard *like* the fish bone.

Thus taking the first वा as a particale showing comparison and the second वा as a conjunction and making no change in the meaning of मच्छं and कंटगं we can derive from this sentence a meaning quite consistent with the fundamental principle of Jainism viz., *'Ahimsa'*. It can be seen from the above statement that the above phrase refers to vegetarian food only and not to fish or meat-eating as is thought by the critics.

In the remaining part of the above quotation वा is used at some places and at other it is omitted. It is, therefore more befitting to translate that part also by way of supplying the ellipsis.

In this sentence वा is used in its two different meanings in close proximity and this practice is not infrequent in the scriputres.

एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना ।
दासे मिइंव पेसे वा, पसुभूवेव से ण वा केइ ॥

(Suyagadanga Sutra, 4th Adhyayana, 2nd Uddesa, 18th gatha)

One, who is blind in love of a woman and who for the satisfaction of one's passions, does all the sinful actions, is *like* a slave, a deer, a menial, a dumb driven creature *or* the humblest of the humble.

Our contention is not about the use of the words, but the meanings or interpretations of the words used. It is only the etymology and syntactical rules, as well as the

common practice or usage in language and last but not the least the context, which help us to arrive at the correct *interpretation* of a word.

the following few explanations will help a great deal in interpreting and understanding the texts of the quotation under discussion.

(1) A host when offering food to a monk uses the words मंस and मच्छ and the author of the text in permitting a food does not use the same words मंस and मच्छ, but their forms मंसग and मच्छग. What should be the motive in using this 'ग' ending? It is used to impart to it the idea of a simile, meaning thereby something similar to flesh or fish but not flesh or fish itself.

(2) The practice of giving the illustration of मत्स्य must have been frequently resorted to by writers in those days, as follows:-

कश्चित् मांसार्थी मत्स्यान् सशकलान् सकण्टकान् आहरति
नान्तरीयकत्वात् स यावदादेयं तावदादाय शकलकण्टकानि उत्सृजति ॥
(४-१-६२.)

(Mahabhasya by Patanjali).

तस्मान्मांसार्थिव कण्टकान् उद्धृत्य मांसमश्नन्नानर्थं कण्टकजन्यमाप्नोतीत्येवं
प्रेक्षावान् दुःखमुद्धृत्येन्द्रियादिसातं सुखं भोक्ष्यते. ॥ (४-१-२४.)

(Tatparya-Mimamsa by Vacaspati Misra).

A meat-eater brings fish with its scales and thorns as they are inseparable, but he eats only the flesh, the eatable part and throws off the scales and the thorns, the uneatable hard stuff.

3. Following are some of the many examples of vegetarian food which are acceptable to the Jain monks, and which answer to the properties as described in the text by the author e. g.

(1) Cooked vegetables of अबोर, गुंदा, सींगोडा, सरगवो, etc.
(2) Pickles of गुंदा, dates and mangoes.
(3) Small pieces of sugar cane.

(4) Slice of a mango or any such fruit with skin but without seed

(5) A piece of coconut with its shell attached to it.

Some of these contain seeds or uneatable hard parts and others have skin or hard shell

(4) The autl or in the same quotation lays particular stress regarding the place where, the manner in which and the scrupulous care with which the seeds and the uneatable parts should be put away, so that even the humblest of the sensible life may not be hurt. It is quite incomprehensible and unbelievable, therefore, that the some author in the same quotation may allow a monk to accept as alms fish and fleshy food which unequivocally implies the killing of more useful lives.

दशवैकालिक सूत्र

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ ७३ ॥
अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥
(Dasavaikalika Sutra, Adhyayna 5th, gatha 73rd & 74th)

These verses belong to Dasavaikalika Sutra and its subject matter is nothing but a re-echo of the precepts given in the Acaranga and hence these also admit of the meanings given above The words बहुअट्ठियं and बहुकंटयं used in Dasavaikalika are the same as those used in the Acaranga, but the word अणिमिस (सं. अनिमिष=a creature without twinkling of eyes i. e. a fish. Apte's S. E Dic. page 29. Paia-Sadba-Mahannavo page 40) is a syuonym of मच्छ and the word पुग्गलं. is another Prakrit form of पोग्गलं. The word पोग्गलं. is used in the quotation of the Acaranga as a synonym of मंस, and hence पुग्गलं in this quotation, too can be. unhesitatingly interpreted as 'a soft qulp of a fruit'.

⊛ बोर=Zizypghus Jujuba. गुंदा–Cordia–Latifolia, शिंगोडा–Trapa bispinosa. सरगवो–Moringa Pterigo-sperma.

Taking it into this light the frist line of the verse favours the interpretation of the soft pulpy part of the fruit containing many seeds and uneatable hard stuff like a fish; and in the second line of the same verse the author gives for the sake of clarification the names of such fruits viz, अत्थियं, तिन्दुयं, बिहं, उच्छुखंडं and सिंबलिं. All these fruits contain the soft pulp and seeds or uneatable hard stuff.

Inspite of such a simple and straightforward meaning and the instances of fruits, given in support of the above meaning in the same verse and the preceding and the following verses of the same chapter dealing with vegetarian food if a critic tries to misinterpret it into fish and meat food, it can only be attributed to his want of knowledge of the subject or his ignorance of the language.

Some of the Jain Acaryas in their commentaries have taken बहुअट्ठियं, बहुकंटगं, मच्छं, and अणिमिसं to be certain kinds of vegetable and have commented the word "मोच्चा" as 'used for external purposes' but apart from that, in this article the meanings of the same words have been given quite differently on the authority of dictionaries and their various uses in different places.

भगवती सूत्र.

The folloing is the text in connection with the medicinal use by Lord Mahavira of a certain preparation when he was suffering from bilious fever and profuse dischrage of blood in stool.

> "तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि एएणं अट्ठो" ॥

Bhagavati Sutra, s. 15, page 686.

Abhayadev Suri, one of the renowned and learned Jain Acaryas, who has written commentaries on the nine अंगसूत्र (main or principal Sutra) gives his comments as follows in respect of the above quotation.

"ततो गच्छ × × × × मदर्थं द्वे कूष्माण्डफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनं, तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कटमांसकं बीजपूरक-कटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमिति" ॥

Thananga, Sutra 691, Page 456-457.

The English version of it is "you go to Mendhiki where a certain mistress named Revati has cooked two pumpkins into a certain preparation for my use. I cannot make use of that. However she has got the pulp of 'Bijora' fruit which is used as a medicine for the disease of 'Marjara Vayu'. Go and get that for my use."

There are three disputable words in the above quotation कवोय, मज्जार and कुक्कडमंसए These words are used in connection with medicinal purpose and their meanings should, therefore, be determined with the aid of dictionaries of medical words and as these dictionaries are mostly written in Sanskrit, we should also try to know their Sanskrit equivalents.

कवोय = सं. कपोत. कुक्कड = सं. कुक्कट.

मज्जार = सं. मार्जार. मंस = सं. मांस.

कपोत = 1. A fruit named पारावत.

Susruta Sambita, page 338, Chapter on fruit.

2. कूष्माण्डफल - white pumpkin.

The commentator has prefrred the latter meaning because the colour of the white pumpkin is similar to that of कपोत i. e. a pigeon and it has been a common practice with the writers to use the same word for an animal or a vegetable if the external appearance, properties or other qualities of both are almost similar, e. g

मत्स्यंडी = 1. Eggs of a fish.

2. Sugar (because its external appearance and the size of its crystals are similar to those of the eggs of a fish).

उंदरकर्णी = 1. Ears of a mouse.

2. A vegetable whose leaves resemble the ears of a

mouse in shape.

मंडुकी, कोल, चिह्न, कुहन and many more can be cited in support of the above practice.

So the commentator is right in taking कपोत as कूष्माण्डफल and that is the interpretation compatible with the words दुवे and सरीरा.

दुवे कवोयसरीरा =Two white pumpkin fruits.

मार्जार =(1) kind of a vegetable and it is used in that sense in the Sutras also i. e.

(a) वत्थुलपोरगमज्जारपोइवल्लीयपालक्का.

(Pannavana Sutra, Chapter on trees)

वत्थुलचोरगमज्जारपोइचिल्लिया.

(Bhagavati Sutra, Sataka 21st)

2. A plant named 'Ratna Chitraka'. Raja Nighantu)

3. A cat.

4 white pumpkin or gourd. (Vaidyaka Sabda Sindhu, Page, 889.)

5, A kind of disease.

मज्जारकडए=सं. मार्जारकृत prepared or made from a vegetable named Marjara or treated with Marjara.

But कडए is found nowhere to have been used in the sense of killed in Ardha-Magadhi as interpreted by the critics.

कुक्कुट. =1. A vegetable having leaves with four petals. (Vaidyaka-Sabda Sindhu, p. 259.

2. Fruit of शाल्मलि tree (Vaidyaka Sabda Sindhu, p. 259.)

3. मातुलुंग=Bijora fruit=Citron.

मंस=soft pulp of a fruit (as a fore said in this article)

कुक्कुडमंसए=soft pulp of Bijora fruit.

The reason for not adopting the first two meanings is evident as those vegetables have no medicinal use in such illness, but मातुलुंग=Bijora fruit pulp is used as a medicine for such a disease

is therefore appropriate. Let us further see as to why कुक्कट is interpreted as Bijora (Citron). The feminine form of कुक्कट is कुक्कटी and मधु कुक्कटी or मधु कुक्कटिका is derived from कुक्कटी. If the adjectival prefix मधु be omitted कुक्कट, कुक्कटी, and कुक्कटिका become synonymous.

Now मधुकुक्कटी and मधुकुक्कटिका = Bijora = Citron (vaidyaka-Sabda-Sindhu, Raja Vallabha, page 708.) and कुक्कटी also mean Bijora and, therefore, the commentator has adopted that meaning. When the synonymous words used in connection with the animal life are used in respect of vegetable life they bear the same meaning, e. g.

Syn. Words.	*Animal life*	*Vegetable life*
कुमारी & कन्या.	an unmarried girl	aloe plant
धूर्त & कितव.	a rouge, a cheat	Dhatura plant
कुक्कट, कुक्कटी, & कुक्कटिका.	cock or hen	Citron fruit

We have taken the disputable words as meaning vegetable plants and fruits on the authority of medical dictionaries moreover they were useful because of their medicinal properties to cure the disease from which Lord Mahavira was suffering.

Even a scholarly commentator like Abhayadeva-Suri has understood the sentences to mean vegetable things, what objection can there be on our part to accept those interpretations ? A great saint like Manu says "यावं संदधीत, न तु विघटयेत" that the words of great men should be carried on with a constructive bent of mind rather than destructive one. Accordingly we should also give interpretations which may maintain the fundamental principle of Jainism viz, Ahimsa

Following are some additional arguments to support why the interpetations referring to animal life are not

applicable in this case.

(1) Medical science does not advocate anywhere the use of animal flesh for the cure of such a disease.

(2) It is not only impossible but incredible that a person like Lord Mahavira, who raised hue and cry against animal killing would behave in a manner detrimental to the most beloved principle of his life, and it is equally incredible that he himhelf would resort to meat-eating against his preaching to his followers that meat-eating is leading to hell

(3) Revati, a wise and discreet woman, was a wife of a rich man and a follower of Lord Mahavira. She gave this medicinal food as alms for Lord Mahavira and it is mentioned in Sastras that this act of here raised her to the position of *Devagati* and an exalted place among the Tirthamkaras of the cycle to come. Is it appealing to the common sense to believe that a woman of this tipe would cook stale meat, keep it overnight, give it as alms for the Lord and for all that she would attain to the eminent position mentioned above?

In this way I have attempted to give literally and logically clear explanations, in keeping with the scriptural spirit, of the disputable portions in Jain Sastras which have given rise to frequent discussions and controversies

Now, I shell try to give the proofs on the authority of scriptures that Jainism strictly forbids meat-eating & drinking.

1. The following verse occurs in the Dasvaikalika Sutra:-

श्रमज्जमंसासि श्रमच्छरीश्रा, श्रभिक्खणं निव्विगइं गया श्र

(Das. Sutra, Culika 2nd, gatha 2th).

The writer says here that not only does a monk completely abstain from drinking and meat-eating nor feel jealous to see the happiness of others but unnecessarily and without sufficient reasons to do so, he does not very often

use for his personal comforts foods like milk, curds, ghee etc which stimulate the passions. In the same way at certai places in Suyagadanga, Prasna Vyakarana and Dasavaika lika Sutras the monks are addressed as 'मज्जमंसासिया' meanin one who abstains from drinking and meat-eating. Ho could this be justified if a monk were allowed to behav otherwise?

(2) It has been mentioned in Sastras more often, the not that.

(1) undertakings on extensive scale, (2) attachmen for worldly things, (3) killing of animals & (4) meat-eatin drag a man to the lower world.

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा
(१) महारंभयाए (२) महापरिग्गहयाए (३) पंचिंदियवहेणं (४) कु
माहारेणं ॥

Thananga, Bhagavati, Uvavai and Uttaradhyayan

(3) Out of the 12 Precepts (व्रत) in regard to th conduct of a Sravaka, the 7th enumerates the dail necessaries of his life and occupation. No mention has bee made in this about meat, eggs, wine etc. This goes to prov that Sravakas, too, abstained from these things. Th statement is further confirmed by the fact narrated i Upasakadasanga Sutra about the vows taken by Anand Sravaka in the presence of Lord Mahavira. In the sam precept there are certain observances (अतिचार) prescribed

अप्पोलिय-ओसहि-भक्खणयाए, दुप्पोलिय-ओसहि-भक्खणयाए.

(A Sravaka should not take corn-food half cooked badly cooked). The word 'ओसहि' in this connotes the cor such as Bajari, Juwar and the like. (Jainagama Sabd Sangraha, P. 218). This further confirms our notion that th Sravakas were corn-eaters and not meat eaters. Is possible, therefore, that the religious sect who are corn eaters themselves, may have amongst them the Supreme Sou and monks who may be meat-eaters?

4. The first sermon delivered by every Tirthamkar

after the attainment of Kevalajnana runs as follows:- "The Tirthamkaras of the past, the present and the future all invariably say, "Keep away from killing सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव and सर्वसत्व (any and everything coming under the category of a life) and forbid an act of domination over a life, of causing life mental or physical torment or of causing to sever body and soul etc." (Acaranga Sutra, Adhyayana 4th). It is equally impossible that such Tirthamkaras would ever resort to meat-eating themselves or would suffer their followers to be meat-eaters.

Other arguments of the Critics.

(1) One of the arguments proffered in support of their statement is that in those days the Brahmins used to offer sacrifices of animals at the altars the people at large used to offer the lives of animals for the propitiation of their deities, meat used to be publicly sold in the market, and vegetable food was not easily obtainable. On such grounds the critics draw their imaginary conclusion that the monks who had to live on alms used to accept meat-food (Bhagavana Buddha, p. 107). Let us go deep into the propriety of this argument.

The animal sacrifices offered were from a religious standpoint and not with a view to their use as food. In the present days vegetable food and nuts are offered as sacrifice to gods and goddesses and it is then distributed among the inmates of the house and others as a sort of प्रसादी. In those days the animal sacrifice used to be distributed in the same way. For feeding the Yajnacharya, his assistants and other participants, however, delicious preparations of rice, other corns and vegetables, which were in abundance, were used. (Uttaradhyayana Sutra, Adhyayana 12th.)

This supports our view that all the people in those days were not meat-eaters only because vegetable food was also available in abundance.

Even in our times we see that in the countries

where meat-eating si ni vogue on a wider scale, there are men, who live only on vegetable food. So the existence of religiously vegetarian monks in the old days is not inconceivable.

In an agricultural country like India, the harvest of corn was not only abandant, but was sold cheap also, as no transportation or exportation was necessary in those days. It is unimaginable, therefore, that the people would ever think of using in daily life animal food only, which evidently involved the killing of animals—animals which are the backbone of their agricultural activities,—and did not make use of vegetarian food at all,—a circumstance which made it impossible for the monks, too, to get vegetarina food.

I may also make it clear that the monks, having got to maintain themselves by alms, were allowed to accept acceptable alms from the richest to the poorest door, and so they had no difficulty in getting the vegetarian food.

In this way detailed explanations have been given of the disputable passages and it has been proved on good authority that those passages referred to vegetable food only, that is, no trace has been found in the Jain Agamas to make us doubt that meat-eating was common among the Jain monks and the Jain sect of old, nor has it ever been known that meat-eating has been resorted to by any one of the many sects of Jains or any serious and sincere follower of Jainism in these days.

This proves beyond doubt that meat-eating was not at all prevalent among the Jains of old and is not so in these days too. Still if a researcher will be able to prove otherwise on the strength of his indisputable research, the question will certainly engage the attention of all for due considera-tion on that. It is, therefore, as futile as it in unnecessary to grope in the dark to find out a thing which does not exist at all.

My last request is that the interpretations suggested

by me of the disputable passages and the reasonings and arguments given in support thereof, may be well thought over and their propriety or appropriateness may be considered from the various standpoints, of usage in language, grammer, their context with reference to allied passages in the Sutras etc.

In the end I bring this chapter to a close with a request to the interested readers and critics to overlook and draw my attention to the drawb acks as no one can claim to *be perfect and infa llible.*

—oXo—

जैन मुनियों का ग्राम प्रचार

ले० श्री गौरीलालजी गुप्ता



रत वर्ष के प्रायः हजारों ग्राम ऐसे हैं, जो सड़कों, रेल्वे, आदि से दूर तो पड़ते ही हैं पहाड़ियों की तराइयों और घाटियों में बसे हुए हैं यहां यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि ग्रामीण प्रजा सीधी सादी गरीब और भोज्य पदार्थों की कमी के कारण संयमीसी बनी रहती है। जिन्हें पेटभर भोजन भी न मिलता हो, पहनने को पूरे वस्त्र भी नसीब न हों, वह किस प्रकार अपनी धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक दशामें सुधार कर सकते हैं; यह एक प्रगट सत्य है।

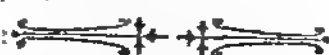
उपरोक्त सैकड़ों ग्राम राजपूताना में ही ऐसे हैं जहां वर्षों में शहरी प्रजा जा पाती है। उन्हें न देशका ध्यान है न समाज का। वेतो केवल अन्न पैदा करना और अपना पेट पालना ही मनुष्यता का परम कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि उनमें न कूटनीतिज्ञता है, न चालकी और न दगाबाजी, फिरभी वे सत्संगतिविना सौजन्य और धार्मिक द्रढ़ता से कोसों दूर जासकते हैं। राष्ट्र हितैषियों ने अपने कार्य क्षेत्र में ग्राम सुधार भी रखा है सही परन्तु जबतक कष्ट सहन की शक्ति हममें पैदा नहीं होती ग्राम सुधार दुसाध्य समस्या है।

सच पूछा जावे तो इन ग्रामों में जो कुछ भी सुधार सभ्यता और शान्ति का वातावरण दृष्टिगोचर होता है व उन श्वेताम्बर जैन समाज के माननीय साधु और साध्वियों के नीम के चबूतरों और बेलों की शाला में नित्य प्रति होनेवाले जिन

भाषणों को सुनकर ग्रामीण जनता स्तब्ध और मुग्ध होजाती है वे भाषण देश, धर्म और जाति सुधार के पोषक तो होते ही हैं साथही धार्मिकता से परिपूर्ण होने के कारण चरित्र निर्माण में भी वड़े उपयोगी सिद्ध होरहे हैं। अपनी आत्मा का दमन करने वाले जैन मुनि, जब केवल रूखी सूखी रोटियों से जो उन ग्रामीणों के घरों का महत्वपूर्ण भोजन है तर्क के साथ ४२ दोष टालकर अपनी आत्माको सान्त्वना देते हैं; तवतो उन अशिक्षित कहलाने वाले ग्रामीणों पर इस त्याग और तपस्या का प्रभावोत्पादक असर हुये बिना नहीं रहता। मुनियों के भाषणों में त्याग, तपस्या, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, जीव-अजीव, हिन्सा-अहिंसा, स्वर्ग और नर्क का जो विशद वर्णन होता है वह उन ग्रामीणों के लिये अमूल्य और वड़ा उपादेय कहा जा सकता है।

एक वड़े महत्व की बात हमारे जैन मुनियों के भाषणों में यह होती है कि वे साधारण कवियों और विद्वान् पंडितों के ही वचन नहीं उच्चारते, वरन उन त्रिकालदर्शी तीर्थंकरों के मुखसे निकले हुए असंदिग्ध वाक्यों का प्रयोग करते हैं जिन्हे जगत् ज्ञानी ध्यानी सर्वज्ञ एवं महर्षि की उपमा से अलंकृत करता रहा है। उन अमृतमय वचनोंमें पांच इन्द्रियों पर विजय पाने के, अद्भुत प्रयोग, संयम की सतशिक्षा, क्रोध मान, माया, और लोभ के निवारण के अलौकिक उपाय तथा मनोभावों को अहिंसक और पवित्र बनाने की अटल साधना होती है। भलाई और बुराईके फल कुटिल और शुद्ध भावनाओं का स्वरूप चोरी, झूठ, ईर्षा आदि बुरी आदतों के निराकरण की उन परम मांगलिक वाक्यों में सजीव झलक दृष्टिगत होती है। सीधी सादी किसान स्त्रियाँ साधु मुनियों और साध्वियों के आचार विचार को देखकर दंग होजाती हैं। वे उन्हें वड़े प्रेम और आदर के साथ अपने घर का भोजन देती हैं और उनकी सहानुभूतिपूर्ण अभ्यर्थना करती हैं। गावों में गौरक्षा, कृषि और खादी प्रचार की विशेषता के प्रचारक यदि सच पूछा जाये तो एक मात्र जैन मुनि ही कहे जासकते हैं। निसंदेह स्वार्थ रहित एक त्यागी जैन मुनि का जितना प्रभाव जनता पर पड़ सकता है उतना भोगी रागी और असंयमी गृहस्थी के एक समूह का भी नहीं पड़ता। आज हम देखते हैं प्रसिद्ध वक्ता श्री जैन दिवाकरजी महाराज के अद्भुत और चमत्कारिक भाषणों से हजारों नर-नारी मंत्रमुग्ध की भांति उनकी अमृतमय वाणी का रसास्वादन करते हैं जैन मुनियों के पास ग्राम प्रचार और भ्रमण करने के लिये एक तालिका वनी हुई होती है, जिसमें गांव उनके मार्गों का निर्देशन, और प्रतिष्ठित निवासियों व साधारण प्रजाके नाम ठांव पाये जाते हैं। हमारे विचार से सरकार या देशी राज्यों के राजा अपनी २ सीमामें कई प्रचारक रखकर भी उतना प्रचार नहीं करा सकते जितना प्रचार हमारे जैन मुनि करते हैं। मुनियों के भाषणों का ग्रामीण जनता हृदय से अभिनन्दन करती है और अप्रत्यक्ष रूपेण वह धर्म बोध को प्राप्त कर अपने मानवीय जीवनको सफल बनाती रहती है। मुनिराजों की सात्विकता सजीव होकर ग्रामनिवासियों के सदाचार

का एक कारण बन जाती है और उनके चरित्र निर्माण में पूरी २ सहायक सिद्ध होता है। वीर महाप्रभु द्वारा प्रचारित जैन धर्म इसीलिये ग्रामीण जनता के लिये शहरी जनता से अधिक उपादेय और संस्कृति के निर्माण में अमूल्य निधि कहा जा सकता है।



जैनियों के धार्मिक रीति-रिवाज और पर्व-दिवस

लेखक—डाक्टर रतनलाल चोरड़िया, रतलाम

दीपावली



जैसे, दिन में चार प्रहर होते हैं; व धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थ कहे गये हैं; ठीक वैसे ही, रक्षा-बन्धन, विजयादशमी दीपावली, और होली, ये चार, भारतवर्ष के राष्ट्रीय त्यौहार हैं। इन में से 'दीपावली' अपना एक विशेष महत्व रखती है। जैसे, शरीर में, सिर के एक बार बिगड़ जाने पर भी, उस की आकृति में कोई विशेष अन्तर नहीं हो पाता। पागल सिर, चाहे, जीवन में माप-दंड को भले ही कुछ कम कर देता होगा, किन्तु यकायक जीवन-नाश का परवाना तो, वह शरीर के हाथों कभी नहीं सौंप बैठता। वैसे ही, हाथों के टूट जाने, पैरों के अपंग व शिथिल हो जाने पर भी, शरीर-यात्रा का व्यौपार, येन-केन-प्रकारेण, चिरकाल के लिए, चलाता ही रहता है किन्तु पेट यदि पागल हो जावे, पेट बिगड़ बैठे, पेट में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी हो आवे, तो सारे शरीर में, चोटी से एड़ी तक, भारी भगदड़ मचजाती है। नींद और खाना, सब-का-सब हराम हो जाता है। दिल, दिमाग, और दस्त, सब-के-सब अपनी पूरी-पूरी शक्तियाँ जुटा कर, पेट महोदय की सेवा सुश्रुषा में तन्मय हो जाते हैं पेट को कुपित और परेशान देख कर, सिर सुस्त हो जाता है; पैर कम्पित हो उठते हैं; हाथ लड़खड़ा जाते हैं; शरीर की सारी प्रकृति, बात-की बात में बदल जाती है; और सुन्दर राज-महल, चमार के टूटे-फूटे झोंपड़े से भी बदतर नजर आने लगता है। इस से सिद्ध हुआ, कि पेट ही, दिल, दिमाग, और दस्त का दिशा-दर्शक यंत्र है। उसी के बल पर, शरीर के बल पर, शरीर के बल का अनुमान लगाया जाता है। उस की बढ़ती हुई पाचनशक्ति, दिल दिमाग, और दस्त की उछलती हुई तरुणाई है। उस की भली और बुरी नियत, मनुष्य की मेधा शक्ति, और विवेक की ईमानदारी की कमानीदार तराजू है। ठीक वैसेही, दीपावलि भी सम्पूर्ण त्यौहारों की जान और राष्ट्र के वैभव, विशालता, विवेक, कला, और सौन्दर्य की सारमयी शान है। उसी दिन महासरस्वती, महाकाली, और महालक्ष्मी की पूजा-अर्चना के मिस, राष्ट्र के शील, गुण, और रूप

की उपासना का आयोजन किया जाता है। और आगामी पूरे वर्ष के लिए, उपयुक्त त्रि-गुणों को, अपने बल-पर, धारण किये रहने का व्रत लिया जाता है। उसी दिन, अरिहन्त, श्रमण-शिरोमणि भगवान् महावीर, मोक्ष में पधारे थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी उसी दिन अपने मिशन का कार्य पूरा करके, परलोक को प्रस्थान किया था। आज की खूं-ख्वार परम स्वार्थ-परायण और इहलौकिक सुखों को अपना एक-मात्र सर्वस्व समझनेवाली दुनिया को, मानव-धर्म का सुन्दर पाठ-पढ़ाने वाले स्वामी रामतीर्थजी महाराज का भी उसी दिन जन्म, विवाह, और निधन हुआ था। अस्तु भगवान् महावीर के निर्वाण पर न केवल मानव समाज ने वरन् देववृन्द ने भी निर्वाणोत्सव मनाया। और आज भी मनाते हैं। 'वीर-संवत्' की उत्पत्ति भी दीपावली ही के दिन से हुई। भगवान् का निर्वाण विक्रमीय संवत से पूरे पूरे ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। यूँ विक्रमाब्द में, ४७० वर्ष और जोड़ देने पर 'वीराब्द' की संख्या ज्ञात हो जाती है। उसी दिन व्यापारी लोग अपने बही-खातों को बदलते हैं, और वर्ष भर का मेल मिला कर लाभ और हानि का अन्दाजा लगाते हैं। उसी दिन स्वाभिमानी राष्ट्र समूचे राष्ट्र के बल, वैभव, शिक्षा, सभ्यता, व्यापार, विवेक बुद्धि, नेकनियती, सचाई, स्वदेशाभिमान, और राष्ट्र-हित में बलिदान की वैयक्तिक बात और बानक का व्यापार मेल मिला कर राष्ट्र के उत्थान और पतन का पार-दर्शक-पत्रक तैयार किया करते हैं। स्थावर मकानों की मरम्मत भी उसी अवसर पर की जाती है। और देश की दशों दिशाओं में अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार दीपकमाला के बहाने चारों ओर उपयुक्त गुणों का चटकीला चाँदना फैलाने का संकेत किया जाता है। जैन धर्मावलम्बी व्यक्ति दीपावली को एक त्योहार ही नहीं वरन् एक परम पावन 'पर्व-दिवस' भी मानते हैं।

दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चौदस, और प्रत्येक पक्खी को, जैन धर्मानुसार खाने, पीने की वस्तुओं में, अकसर मर्यादा का पूरा पूरा पालन किया जाता है। और, कई लोग व्रत, पौषध, दया, तथा आयम्बिल कर लेते हैं।

मार्गशीर्ष, कृष्ण पक्ष की एकम को जैनसाधु, चतुर्मास में स्थित स्थानों से विहार (गमन) कर जाते हैं। चातुर्मास-भर, वे साधुलोग, किसी से, कोई ऊनी व सूती वस्त्र, तथा सूई व धागा नहीं लेते। इसमें भी, उन्हें अपनी मर्यादा का तो पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। साधु लोग जब विहार करते हैं, तब उनके व्याख्यानों, व त्याग और क्या जैनेतर, सभी लोग, उनको दूर तक पहुँचाने को जाते हैं। मील-दो मील तक तो प्रायः सभी कोई जाते ही हैं। किन्तु कई अनुरागी भक्त लोग बीसियों मील तक उन्हें पहुँचाने को साथ हो लेते हैं। उस समय की छटा देखते ही बन आती है। समूह के आगे, २ कोई जैन-मंडल, या किसी सभा के सदस्य, अथवा जैन-पाठशालाओं के छात्र, कतारें बाँध कर चलते हैं। उनके पीछे साधुजी, या साध्वीजी होती हैं। तब आदमियों की कतारें होती हैं, जय-घोष

से आकाश-मंडल को गुँजाती जाती हैं। और, सब से पीछे माता-बहिनों, और कन्याओं का समूह होता है, जो समय के अनुकूल, बड़े ही करुणा-पूर्ण भजनों से, अपने पड़ोसी समस्त वायु-मंडल को इस नश्वर जगत् की असारता और अस्थिरता का सुन्दर सन्देश देता हुआ उसे करुणा, सौहार्द त्याग और संयम की दिव्य सुगन्धियों से महका देता है।

पौष मास की कृष्ण एकम को, जैनी लोग भगवान् पार्श्वनाथजी की जयन्ती, बड़ी ही धूम-धाम से मनाते हैं। और, इसी तिथिके आस-पास, देश में यत्र-तत्र कई मेले भरते हैं।

फाल्गुन मास में अनेकों साधुलोग केश लोचन करते हैं। यह कार्य, कभी-कभी जन साधारण के सन्मुख भी किया जाता है। इतने ही में सम्पूर्ण चर और अचर जगत् को आभ्यन्तरिक और बाह्य चेतना का प्रबोध करानेवाला चैत्र मास आ धमकता है। उसी मास में, सन्त मुनिराजों की सेवा में, देश की दशों दिशाओं से, आगामी चातुर्मास में, स्थान कल्पने की विनम्र विनतियाँ पेश होती हैं, और, देश, व समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं के आधार पर, उन आई हुई विनय विनतियों पर, गम्भीरता-पूर्वक, विचार विनिमय होता है। तब उन पर उचित स्वीकृतियों का दिया जाना भी उसी मास में, प्रारम्भ होता है।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को यत्र-तत्र देश-भर के कोने कोने में श्रमण शिरोमणी वीतराग भगवान् महावीर की जयन्ती बड़े ही समारोह और श्रद्धा के साथ मनायी जाती है। इसी दिन, देश के कई दानी, मानी, और धर्म-प्रेमी लोग, जीव-दया का प्रचार और प्रसार करने की भी पर्याप्त चेष्टा करते हैं और यत्र-तत्र छुट्टियां भी मनाई जाती हैं।

वैशाख शुक्ला तीज को यों तो समस्त भारतवर्ष ही,अक्षय-तृतीया का त्यौहार मनाता है, पर मारवाड़ में इसकी विशेष महत्ता है। इस दिन गुड़ या शक्कर का गेहूँ का खिचड़ा प्रत्येक घर-घर में होता है। इस त्यौहार की पृष्ठ-भूमि का भगवान् ऋषभदेवजी हैं। मारवाड़ की भूमि ही पर इक्षु-रस के द्वारा आपने बारह माही उपवासों का पारणा किया था। तभी से इस त्यौहार की नींव लगी सुनी जाती है।

आषाढ़ के लगते ही जैन साधु लोग चातुर्मास कल्पने में अपने-अपने पूर्व निर्धारित और स्वीकृत स्थानों के आस-पास विचरण करने लग जाते हैं। वहाँ के श्रावक और श्राविकाएँ उनका सम्मान-पूर्वक स्वागत करती हैं। आषाढ़ी-पूर्णिमा को बैठते चौमासी का प्रेम-पूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है। इस दिन की क्रिया में श्रावकों का भी पर्याप्त-मात्रा में योग-दान होता है।

श्रावण से कार्तिक तक में पूरे-पूरे चार महीनों में बिना किसी विशेष प्रयोजन के साधु व साध्वी अपने कल्पित विहार के स्थानों को केन्द्र मान

कर और अधिक से अधिक चार मील के अर्ध व्यास की दूरी से बाहर तो कभी नहीं जा सकते।

इन्हीं चार महिनों में यत्र-तत्र जैन-जगत् में तपस्या की मानों बाढ़-सी आ जाती है। कई साधु लोग भी केवल गर्म पानी ही के आधार पर दो-दो, तीन-तीन, पाँच-पाँच, और पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक की व कई एक-एक और दो-दो महिनों की घोर तपस्या करते हैं। कई श्रावक और श्राविकाएँ भी हँसते हँसते अपनी श्रद्धा और सात्विक भावों से प्रेरित होकर महिने महिने और दो-दो महिने की घोर तपस्या आराधना कर अपने अपने घनघाती कर्मों के क्षय करने में अनुपम आत्म-बल की सम्प्राप्ति करते हैं। उन्हीं दिनों कई जैन बन्धुगण पचरंगी अर्थात् पहले दिन पाँच व्यक्ति मिल कर पाँच२ दूसरे दिन पाँच व्यक्ति चार चार तपराधना करते हैं। तीसरे दिन पाँच व्यक्ति तीन तीन, चौथे दिन पाँच व्यक्ति दो-दो और पाँच व्यक्ति एक एक दिन के उपवास करते हैं। श्रद्धाशील श्राविकाएँ भी इसी शैली का अनुकरण कर अपने मानव-जीवन को सफल बनाना चाहती हैं। यही हाल 'नौरंगी' और 'सतरंगी' का होता है, जिन में क्रमशः नौ-नौ और सात-सात व्यक्ति एक साथ बैठ कर तपाराधन के द्वारा कायिक, वाचिक और मानसिक क्लेशों को शमन करने का सुदृढ़ चेष्टा करते हैं।

इन्हीं दिनों सामूहिक रूप से बहुसंख्यक श्रावक और श्राविकाएँ 'दया-पालन' करते हैं। उस दिन वे अपने निमित्त नहीं बने हुए आहार-पानी को ग्रहण करते हैं, सावद्य कार्य नहीं करते हैं, गृहस्थी सबंधी काम काम काज से निवृत्त हो जाते हैं और सारा दिन, या तो सामायिक करने में व्यतीत करते हैं, या 'नवकार' मन्त्र राज का जप और चिन्तन करने में बिताते हैं।

'आयम्बिल' और 'निवी' भी इन्हीं दिनों में प्रायः विशेष किये जाते हैं। आयम्बिल में, दिन के चौबीस घंटों में से केवल एक बार, और वह भी ठसाठस करके नहीं, वरन् युक्त-आहर के रूप में केवल रूखी रोटी, या भुने हुए चने, या फूली, या परमल चांवल के मुरमुरे, या भात, में से कोई भी धोवन के पानी अथवा गर्म पानी में भिगो कर, खा लिया जाता है। इस प्रकार, 'निवी' की आराधन में, घी दूध, दही, मीठे व तेल की वस्तुओं का सर्वथा त्याग करके, केवल रूखी रोटी, बिना बघारा साग, और मट्ठा-मात्र, सेवन किया जाता है।

उन्हीं दिनों, कई लोग, चातुर्मास-में एक या कई दिनों के लिए, 'एकाशन' करने का व्रत लेते हैं। अर्थात् वे दिन में, केवल एक बार, भोजन करते हैं।

कई लोग, भोजन तो एक बार करते हैं; पर धोवन का, या गर्म पानी, उस के कुछ देर के बाद पीते हैं। ऐसे ही, कई व्यक्ति, 'पहरसी' (अर्थात् सूर्योदय के के पश्चात्, एक पहर के अन्त में भोजन करने का व्रत), अर्द्ध पहरसी (अर्थात् सूर्योदय के पश्चात्, आधापहर बीत जाने पर), और 'नोकारसी' (अर्थात् सूर्योदय के हो जाने के बाद, पाव पहर दिन चढ़ आने पर) का व्रत धारण करते हैं।

कई धर्म-प्रेमी व्यक्ति, पौषध का पालन करते हैं। इस प्रति-पूर्ण पौषध की क्रिया में, एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के समय में, आहार, पानी, आदि कतई बन्द कर, एक-मात्र धर्म-स्थान ही पर, ईश-चिन्तन, भजन, और तत्त्व-विचार किया जाता है। एक पौषध वह भी होता है, जिस में आहर, पानी तो कुछ भी नहीं किया जाता; पर पहर-भर दिन में रहते-रहते, धर्म-स्थान में आकर, धार्मिक कृत्यों में लग जाना पड़ता है। यूँ, यह, पांच प्रहर का पौषध हो जाता है। इसी पौषध के पालन में, कोई-कोई लोग, भोजन तो कुछ भी नहीं करते; परन्तु उचित पानी (अर्थात् धोवन-धावन का, अथवा गर्म पानी को ठंढा किया हुआ पानी) मात्र पीकर, दिन में रहते-रहते, पौषधशाला, अथवा धर्म-स्थानक में आकर, धार्मिक क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैं।

जैन-जगत् की भक्ति का परिचय तो सब ही को है। भाद्रव कृष्णा चौदस तेरस से श्वेताम्बर सम्प्रदाय शु० पंचमी से दिगम्बर सम्प्रदाय का पर्वराज पर्यूषण प्रारम्भ हो जाता है। इस पर्व के दिनों में, प्राय सभी श्रद्धालु और धर्म-भीरु श्रावक श्राविकाएं हरी शाक-भाजी का सेवन नहीं करते। प्रसंगवश, आज के विज्ञान का मेलभी हम अपने धर्म के साथ यहाँ मिलाने की चेष्टा करते हैं। आज का विज्ञान जगत् भी उन्हें ऐसा करने से रोकता है। क्योंकि घन घोर वर्षा का समय वह रहता है। सूरज और चाँद, टकटकी लगाकर, दिन-दिन भर देखते इने परभी दिखते नहीं। सूरज से, सम्पूर्ण प्राणी जगत् को, जीवन दान मिलता है, और चन्द्रमा की अमृत वर्षा से, उसकी जीवन शक्ति में अथक अभिवृद्धि होती है। किन्तु आकाश के मेघाच्छल रहने के कारण वर्षाकालीन शाक भाजी और फल फूलों में यह बात केवल नाम ही नाम को देखी जाती है, काम को नहीं। इसके विपरीत, शारदीय और हेमन्तऋतु के फल फूलों और शाक भाजियों में, हमें बड़ी ही सरलता, मधुरता, और जीवनी शक्ति देखने को मिलती है। क्योंकि उस समय आकाश में खुले चँदोवे के नीचे सूरज और चाँद का विपुल प्रकाश, उन्हें, विशदता पूर्वक और सर्वत्र मिलपाता है। इसी गूढ़ जीवन रक्षण और शरीर पोषक विज्ञान नीति के कारण, सनातन धर्मावलम्बी श्रद्धालु पुरुष भी दीपावलि के दूसरे दिन अन्नकूट होजाने पर ही, फल फूलों और शाक भाजियों को, अपने काम में लाते हैं। इसके पहले, उनका उपयोग वे नहीं करते।

मादक द्रव्यों का सेवन भी पर्यूषण पर्व के अवसर पर कोई श्रावक श्राविकाएँ कभी नहीं करतीं। उन दिनों वे अपना रोजगार भी बन्द सा रखते हैं, और अधिक से अधिक संख्या में, अधिक से अधिक समय देकर मुनिराजों के मुखसे अपने सद्‌शास्त्रों का श्रवण कर उनका मनन करते हैं। उस समय साधु और साध्वियाँ, अपने प्रवचनों में अन्तकृत-सूत्र और कहीं कहीं कल्पसूत्रों का वर्णन करते, अथवा पढ़ते हैं। सौभाग्यवती माताएँ व बहिनें पहली बार, तीन, अथवा पाँच, या नौ अथवा ग्यारह या सत्तरह दिन की तपस्या का व्रत करने पर अपनी

तपस्या के अन्तिम दिन, बाजे गाजे के साथ, धर्मस्थान में आती हैं। इधर उधर की अन्य सौभाग्यवती नारियाँ जाति बिरादरी के पुरुष भी उनके साथ वहां आते हैं। धर्मस्थान पर आकर, साधु अथवा साध्वियों से तप व्रत ग्रहण किये जाते हैं। व्रत रखने वाली माता अथवा बहिन की ओर से कुछ धर्मादा भी उस समय दिया जाता है वैसे ही सजधज के साथ वे वापस अपने घर को लौटती हैं। वहाँ साथ वाले भाई और बाइयों को कुछ प्रभावना बांटी जाती है। उसी समय उनके सम्बन्धियों की ओर से तपस्या करनेवाली बाई को कुछ वस्त्र आदि भी भेंट किये जाते हैं।

भादों शुक्ल एकम को भगवान महावीर के जन्म की पावन कथा पढ़ी जाती है। शुक्ल चौथ और पंचमी को, संवतसरी-पर्व, बड़े ही समारोह के साथ मनाया जाता है। ये दिन प्रायः पर्यूषण पर्व के अन्तिम दिन होते हैं। उस अवसर पर, सात-आठ वर्ष के बालक-बालिकाओं से लगाकर, बूढ़े और बूढ़ियों तक और सभी साधु तथा साध्वियों सभी, पूरे-पूरे दिन का उपवास रखते हैं। साधु और साध्वियाँ तो, उस दिन, पानी का एक घूँट तक भी ग्रहण नहीं करते। कई श्रावक और श्राविकाएँ, उस दिन, पौषध भी करते हैं। साधु तथा साध्वियाँ, अपने-अपने केशों का लोच भी, संवतसरी के पहले, कर लेते हैं। उसी दिन, सन्ध्या के समय, सभी लोग, क्या साधु और साध्वियाँ, व क्या श्रावक और श्राविकाएँ, वर्ष भर के कार्यों की आलोचना कर के, प्रतिक्रमण करते हैं। और, तब, एक-दूसरे से क्षमा याँचते हैं। दूसरे दिन, प्रत्येक जैन बन्धु, एक-दूसरे के घर आ-जाकर क्षमा याँचना करते-कराते हैं।

संवत्सरी-पर्व के दूसरे दिन से ही, सभी दिगम्बर जैन बन्धु दस लक्षणी पर्व-दिवस मनाते हैं।

प्रायः सभी जैन-बन्धु, बिना छाना हुआ जल तो कभी नहीं पीते। कई जैनी लोग, रात्रि में कोई भी पदार्थ नहीं खाते। कई लोग, अपने-चूल्हे पर चन्द्रवा रखते हैं।

रक्षा-बन्धन के त्योहार की उत्पत्ति भी, जैन-मुनियों के रक्षा करने पर हुई है। आज तो, उस का प्रभाव, भारतवर्ष के प्रत्येक घर-घर पर एक-सा छाया हुआ है।

लग्न के समय, जो तोरण पर से पीछे फिर जाते हैं, यह भगवान् नेमिनाथजी के अनुकरण का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नेमिनाथजी जब विवाह के लिए गये और वहाँ जब उन्होंने, बरातियों के सत्कार के हित, पशुओं को, वध के लिए घेरा हुआ देखा तब उन मूक और निरपराध प्राणियों के करुण-क्रन्दन को सुन कर, उन का हृदय काँप उठा, और वे वहीं से उलटे पैरों लौट पड़े। बस उसी बात का अनुकरण, आज, भारतीय समस्त जातियों में घर कर बैठा है। इस से प्रत्यक्ष जाना पड़ता है, कि उन दिनों जैन-धर्म का झंडा भारत के गगन-मंडल में, बड़ा ही ऊँचा उठ कर

लहरा रहा था। और जिस की छत्रछाया में आकर यहां की प्रत्येक कौम का प्राणी, जीवित शान्ति, सुख और सभ्यता का सहज उपभोग करना, अपना कर्तव्य तथा धर्म मान रहा था।

दीक्षा संस्कार का महत्व भी, जैन धर्मावलम्बियों के लिए बड़े ही महोत्सव का विषय होता है। जैनधर्म की छत्रछाया में, जिस किसी भी भाई अथवा बहिन, या आठ वर्ष के ऊपरवाले किसी भी बालक अथवा बालिका का मन, संसार की असारता से ऊपर उठा है, वह, अपने घर के बड़े बूढ़ों अथवा जाति के बुजुर्गों की स्वीकृति लेकर, दीक्षित हो सकता है।

दीक्षाभिलाषी व्यक्ति को सर्वांग-पूर्ण सजा कर दो चार दस अथवा अधिक दिनों के लिए बड़े ही समारोह के साथ बिंदोरे निकाले जाते हैं। परिवार तथा जाति-बिरादरी की माताएं और बहिनें, बिन्दोरियों के पीछे अनुगमन करती हुई कोकिल कंठ से बड़े ही मधुर मधुर वैराग्य को उपजाने वाले भजनों को गाती जाती हैं। ज्यों-ज्यों दीक्षा का समय नजदीक पहुँचता जाता है, वैसे ही वैसे उस उत्सव में भी अभिवृद्धि होती जाती है। दीक्षा के निर्धारित दिन, जाति-भर के लोग जैनेतर बन्धुओं को साथ ले बड़ा भारी जुलूस निकालते हैं। तब वह जुलूस दीक्षा के निर्धारित स्थान पर पहुँचता है। अन्त में दीक्षित वैरागी सांसारिक जीवन का वेष उतार फेंकता है। और उसके बदले वह साधु अथवा साध्वी का (व्यक्ति के अनुसार) वेष धारण कर सांसारिक मोह और नातों से सदा के लिए अपना सम्बन्ध तोड़ देने की प्रतिज्ञा धारण करता है। वहीं दीक्षित व्यक्ति को पंच महाव्रत का आदर्श पाठ दीक्षा देने वाले पढ़ाते हैं। उस दृश्य को देखने पर पत्थर-से-पत्थर हृदय पुरुष का भी हृदय करुणा से पूर्ण हो उठता है सारा का सारा वातावरण वहाँ का उस समय संसार की वीतरागिता से भर जाता है उपस्थित जनता दीक्षित व्यक्ति के चरणों को नमन करती हुई उस के आत्मिक बल की हृदय से सराहना करती है और वीर भगवान् के जय-घोष से गगन को गुंजा देती है।



जैन धर्म और समाजवाद के सिद्धान्तों का साम्य

लेखक—श्री खीमचन्द मगनलाल वोरा, बम्बई



न दर्शन को अनेकान्तवाद की विशाल दृष्टि प्राप्त हुई। यह देखते हुए समाजवाद के कितनेक मूलभूत सिद्धान्त जैनधर्म के सिद्धान्तों से इतने मिलते जुलते हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये जैनधर्म से ही लिये गये हैं। परिग्रह मर्यादा, समानता, निःस्वार्थता आदि जिन अंशों में जैनधर्म में प्रतिपादित हैं उन्हीं को प्रकारान्त से समाजवाद ने भी स्वीकार किया है। अनेकान्तवाद के विराट सिद्धान्त द्वारा जैनदर्शन ने जैसे सर्वधर्मसमभाव प्रकट किया है उसी प्रकार समाजवाद ने समग्र-मानवसमाज के साथ समानता और भ्रातृभाव बतलाया हो। जैनधर्म, समाजवाद के इन सिद्धान्तों की समीक्षा कर इस लेख के द्वारा हम पारस्परिक समन्वय की परिपाटी से विचार करेंगे।

समाजवाद का प्राथमिक सिद्धान्त समानता है। समाजवाद की समानता का अर्थ है भौतिक जगत् की आर्थिक समानता। पारलौकिक दृष्टिबिंदु उसे मान्य नहीं। अगर उसे स्वीकार है तो उसकी प्ररूपणा मान्यता भिन्न प्रकार की होगी। यहां पर अब आर्थिक समानता असमानता का प्रश्न है। जहां आर्थिक समानता नहीं है वहां गरीबी और सम्पत्तिवाद के समान दो परस्पर विरोधी तत्वों का अस्तित्व है। जगत् की आज की गरीबी यह मात्र आज के समाज विधान (बंधारण) और आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है। यह नहीं समझना चाहिए कि यह आर्थिक असमानता सनातन और प्राकृतिक है। मानव ने स्वयं यह पैदा की है और मानव स्वयं ही उसे बदल सकता है। किसी के कर्म या भाग्य का यह परिणाम नहीं है। समानता के सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार बटवारा करना स्वीकार किया जाय तो आर्थिक असमानता दूर हो और आर्थिक परिस्थिति हलकी बने। फिर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति आये बिना नहीं रह सकती।

जैन दर्शन ने समानता के सिद्धान्तों पर ही समाज प्रासाद की नींव डाली है। ऊंच नीच के भेद या वर्णाश्रम जैसे भेदभाव वहां नहीं है इतना ही नहीं परन्तु मनुष्य का जीवन भी समानता और परिग्रह की निश्चित मर्यादा में नीर्मित किया है, जिसके द्वारा आर्थिक समानता भी टिक सकती है। जैनों के परिग्रह परिमाण व्रत में द्रव्य, अनाज, हीरा, माणिक, सुवर्ण, नौकर, परिचारक, पशुपालन और कृषि आदि भौतिक पदार्थों की मर्यादा को स्वीकार करने की भी दृष्टि है। इस परिपाटी से व समानता की प्रत्येक श्रेणी तक जैनधर्म में समाजवाद के तत्त्व गूढ़रीति से

भरे हुए हैं यह देखा है। लोगों में से एक भाग यह कहता है कि जैनधर्म और समाजवाद के सिद्धान्तों का समन्वय मात्र उत्पत्ति की दृष्टि से ही दिखाई देता है। अन्यत्र समाजवाद और जैनधर्म के दो परस्पर विरोधी तत्वों का सम्मिलन हो यह दृष्टि अधिकांशतः असत्य है। अलिबंम समाजवाद के वंधारण में (विध न) में क्रांति हो। किसी भी क्षेत्र में वह थोड़े भी सुधारे को स्वीकार करने को तैयार नहीं है परन्तु वर्तमान समाज विधान (वंधारण) में समाजवाद सर्वांगी परिवर्तन और क्रांति चाहता है।

ऐहिक जीवन में समाजवाद प्रत्येक मानवी को अपनी सब शक्तिओं को शारीरिक, मानसिक और आंशिक पूर्णतः खिलाने की अपेक्षा रखता है। प्रत्येक मानव को अपनी आवश्यकता में उससे प्राथमिक अधिकार के तौर पर उसी प्रकार मिलनी चाहिये। पंचेन्द्रिय मनुष्य को सभी प्रकार की समानता समानाधिकार और समान प्राप्ति का सम्पूर्ण अधिकार यह समाजवाद की प्रथम देन है। जैनधर्म भी आज परिपाटी से मनुष्य के समान अधिकार और समानता के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। परन्तु जैन धर्म का दृष्टि-बिंदु ऐहिक सुखों को गौण मानता है और पारलौकिक सिद्धान्तों को विशेष आवश्यक समझता है। ऐहिक सुखों को जैनदर्शन निरर्थक सा गिनता है क्योंकि उसका दृष्टि बिंदु सर्वथा पारलौकिक है। यों समाजवाद और जैन धर्म समानता के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, तथापि दोनों दृष्टि में आमूलाग्र भेद है। समाजवाद मात्र इस लोक की सुख-प्राप्ति की शोध करता है जबकि जैन धर्म परलोक के सुख को ही प्रधानता देता है समाजवादी आत्मा, मोक्ष, कर्म, पुण्य और पाप के सिद्धान्तों को आध्यात्मिक नहीं किन्तु मौलिक ही मानता है। समाजवादी के लिए आत्मा और शरीर का विरोध नहीं है जबकि जैन धर्म का देहाध्यास कम करने का ध्येय है। पुनः जन्म की मान्यता समाजवादी को स्पर्श नहीं करती क्योंकि उसकी दृष्टि-मर्यादा इस लोक में परिसमाप्त होती जाती है। कर्म या नसीब की मान्यता को समाजवादी ने प्रथम दृष्टि से ही धुत्कारा है। उसका कारण यह है कि मनुष्य मनुष्य में आर्थिक समानता नहीं है क्योंकि उसकी कर्मगति नहीं है और न किसी के कर्म या नसीब का परिणाम है। परन्तु मूडीवादियों ने विषमताओं को सर्जी हैं और जब तक आर्थिक-असमानता दूर नहीं होगी तब तक मानव सर्जित गरीबी भी दूर न होगी। समाजवादी को मोक्ष या स्वर्ग प्राप्ति को कोई निश्चित पारगामी दृष्टि की आवश्यकता भी नहीं है, उसका जन्म किसी निश्चित प्रकार की कर्मप्ररूपणा की दृष्टि से हुआ है, यह दृष्टि उसे मान्य नहीं है। आत्मा को मुक्ति के लिये व्रत, तप, नियम, पच्चक्खाण या देहदमन के लिये बाह्य या आन्तरिक तप की आवश्यकता को वह स्वीकारता भी नहीं। उसका मन उसका धर्म एक ही है और वह है मानव-सेवा। उसका कर्त्तव्य एक ही है और यह है समाज-सेवा। उसकी सिद्धि का साधन एक ही है और वह है जगत के सब मनुष्यों में सर्वांगी-समानता।

अब जैन दर्शन के सिद्धान्तो पर विचार करें। जैनधर्म के मत में तो मनुष्य जन्म कर्म विपाक का एक प्रतीक है। जन्म मरण के चक्कर सदंतर रूप से समाप्त हो जाय यह जैन धर्म का मुख्य ध्येय है। और उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए "अहिंसा संयमों तवो" के समान तीन आचारों को प्रधानता दी गई है। अहिंसा के सर्वमान्य सिद्धान्त पर सभी अनुष्ठानों का सम्मिलन किया गया है जिसमें अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का समावेश हो जाता है। ऐसे जैनधर्म में कहीं भी ज्ञातिभेद वर्णभेद या ऊँच नीच के भेद नहीं है। सर्वत्र समभावना और समानता ये धर्म के सिद्धान्तों में ओतप्रोत हैं इस दृष्टि से ऐहिक जगत् की सर्वमान्यताओं को समाजवादी ने सदंतर रूप से स्वीकार की हैं और वह समानता व उसी विशाल दृष्टि की श्रेणी में दोनों के बीच बहुत ही साम्य है। दोनों के बीच परिग्रह के सर्वमान्य प्रश्न के बारे में अद्भुत साम्य है और परिग्रह-परिमाण की दृष्टि से जैनधर्म में समाजवाद बहुत ही ओतप्रोत है यह निर्विवाद है। जैनधर्म पारलौकिक दृष्टि से देहाध्यास कम करने और परिग्रह छोड़ने का उपदेश देता है जबकि समाजवाद अन्य मानवी सिद्धान्तों का शोषण कर उनके भोग में अपने स्वार्थ साधने में पाप मानता है। एक ही सत्ता, उत्पादन के साधनों की खानगी मालिकी का नाश और मर्यादा बाहर का धनसंचय में सब तत्वों की सामाजिक व्यवस्था, समाजवादी समानता की श्रेणी में निश्चित करना चाहता है परन्तु ये वस्तु आज के युग में और हमारी दृष्टि से नूतनतम दिखती है जरूर परन्तु प्राचीन श्रेणी के ये आवश्यक सामाजिक व्यवस्था के तत्त्व हैं, जिन्हे आज नये स्वरूप से समाजवादी नये समाज बन्धारण (विधान) में आवश्यक मानकर स्वीकृत किये हैं। जैन दर्शन तो समानता की श्रेणी से ही समाज व्यवस्था कर रहा है। जिस धर्म में ज्ञातिजाति के भेद नहीं है और ऊँच नीच के भी भेदभाव नहीं हैं और जहां परिग्रह को महापाप माना गया है और जहां मनुष्य मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रक्खा गया है।

यों अनेकान्त दृष्टि से जैन दर्शन और समाजवाद के सिद्धान्तों में बहुत साम्य नहीं है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जैन धर्म में अकेला साम्यवाद ही भरा हुआ है। और यों मानने के कुछ कारण ऐसे हैं स्पष्ट है कि प्रथम दृष्टि से ही उस मान्यता को स्वीकार की जाय। समाजवाद की सर्व प्रथम दृष्टि प्रत्येक मनुष्य की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएं पूर्णतः पूर्ण की जाँय और जगत् के प्रत्येक मनुष्यों के बीच ऊंच नीच या ज्ञाति जाति के भेद सिवाय समानता की श्रेणी में जीवन धारण निर्मित हो यह देखने की है। और जैन दर्शन तो इन सब सिद्धान्तो एवं समानताओं को शास्त्रोक्त रीति से स्वीकार करता है यों अनेकान्तवाद की दृष्टि से जैन दर्शन और समाजवाद सर्व सामान्य समानता का उद्‌बोधन करते हैं परन्तु समाजवाद मुख्यतः ऐहिक सुख की साधना में रहता है जब कि जैन धर्म की दृष्टि मात्र पारलौकिक दृष्टि की सिद्धि में परिसमाप्ति अनुभव करती है। इत्यलम् —

महावीर स्वामी की शिक्षा का महत्व

लेखिका—सौ० मायावती जैन, प्रभाकर, लाहौर (पंजाब)



रों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था। मानवता सोई पड़ी थी यदि कोई वस्तु जागृत थी तो वह थी दानवता। मानव एक हिंस व्याघ्र से भी अधिक भयानक तथा अधिक वीभत्स होगया था। धर्म के नाम पर दीन हीन मूक पशुओं की गर्दनों पर तलवारें चलाते हुये क्रूर मानव जरा भी न हिचकिचाता था, वरन् विजयोल्लास में मदमत्त मानवी वेष में छिपी हुई दानवता इन दयनीय बलिदानों को और भी उत्साह प्रदान करती रहती थी। यह बात केवल पशुओं तक ही सीमित न थी बल्कि जीवित मनुष्य तक भी यज्ञ वेदियों पर स्वाहा कर दिये जाते थे। चारों ओर त्राहि त्राहि मची हुई थी। हिंसा का बोलबाला था, अहिंसा का तो अस्तित्व सा ही मिट गया था। ऐसे समय में एक राजपुत्र नहीं २ एक मानव-पुत्र और सच्चा मानव अपने राजसी महल में रहता हुआ कुछ सोचा करता था, बात कुछ नहीं थी केवल उसके अन्तराल में सोई हुई मानवता जाग उठी थी।

वह अपने वैभव-विलास से सन्तुष्ट नहीं थे। राजकीय वस्त्राभूषण उन्हें प्रसन्नता प्रदान करने में असमर्थ थे उन नानाप्रकार के भोजनों में उनके लिये कोई आकर्षण न था यहां तक कि वह अपनी अत्यन्त गुणशीला एवं सुन्दरी पत्नी तथा भोली भाली शिशुकन्या से भी उदासीन होचुके थे। वह प्रदोष की मौन, नीरव सुन्दरता में सहसा विचार मग्न होजाते। उस समय असंख्य जिज्ञासाएँ उनके मस्तिष्क में एकबारगी चक्कर काट जाया करतीं।

अन्त में एक शुभदिवस ऐसा भी आया जबकि उनके जीवन की वह चिर महाति आकांक्षा पूर्ण हुई। उन्हें नागरिकों ने एक अत्यन्त विनीत भिक्षु के रूप में वनपथ की ओर जाते देखा। किसी अज्ञात प्रेरणा द्वारा उनकी पलकें स्वयं ही महान शक्ति के सम्मुख झुक गईं।

वह महापुरुष अपने अन्तःकरण में एक दृढ़ लगन एक दृढ़ संकल्प, एक तीव्र जिज्ञासा लिये अगम पथ की ओर अग्रसर होरहे थे। यज्ञ वेदियों के संमुख रखी हुई पशुग्रबलियां तथा शोणित में सनी तलवारें देख कर उनका कोमल हृदय विकम्पित हो उठा। मानों सहस्रों बिच्छुओं के डंक मारने की पीड़ा से पीड़ित हो उठे हों। इस प्रकार की असगंत सी बातें उनकी कोमल विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल थीं अतः उनको एक जबरदस्त मानसिक धक्का लगना स्वाभाविक ही था।

परन्तु उस धक्के ने उन्हें साहस ही दिया। वह अपने पथ पर निरन्तर चलते ही गये। उन्होंने जो कुछ भी देखा उसे पहले अन्तः प्रदेश में सोचा, अनुभव किया

तत्पश्चात् उसके विषय में कुछ निर्धारित किया एवं तत्काल ही उसे कार्य में परिणत कर दिया।

वह वन-वन में भटकते फिरे उन्होंने घोर तपश्चर्या की अनेक परिषह शान्त भाव से सहन किये। यही समय उनके कठिन परीक्षण का था। कहते हैं उनके कानों में कीले ठोके गये और वह मौन रहे। देवलोक से संगम देव आया और उसने उन्हें भांति २ के प्रलोभन देकर ललचाया पर उन्होंने दृष्टि तक भी न उठाई। और भला उठाते भी किस प्रकार जबकि उनके मन में केवल एकधुन थी कि वह समस्त सृष्टि के मानव नामधारियों को मानवता सिखायें, उसी के द्वारा उनका अपना कल्याण भी होगा। यह किस प्रकार हो सकता था, इसी विषय को मनन करने में, इसी की खोज में उन्होंने अपने जीवन के समस्त व्यापार केन्द्रित कर दिये थे, क्योंकि यही तो उनके संसार त्याग का परम रहस्य तथा मुख्य था। अन्त में वह अपनी अत्यधिक तल्लीनता, सलंग्नता तथा कठिन परिश्रम के कारण अपने कार्य में सफलिभूत हुए। अब वह एक विजयी पथिक थे जितेन्द्रिय थ, दार्शनिक थे, अरिहंत थे, एकनिष्ठ योगी थे, केवल ज्ञानी थे, और थे एक आत्मशक्ति के धारक।

उन्होंने अपने अनुभव से प्राप्त की हुई बातें जनता के सामने सीधी सादी सरल भाषा में खोलकर रखदीं। एक भी शब्द उनकी शिक्षाओं में ऐसा न था जिसे निरर्थक कहा जा सके। प्रत्येक व्यक्ति उन शिक्षाओं को अपनाने का समान अधिकार रखता था। सर्व प्रथम अहिंसा को उन्होंने मनुष्य का परम धर्म बताया। वह आज भी उनके उपदेशों से जानी जा सकती है। वह अहिंसा कायरों की अथवा भीरुओं की अहिंसा नहीं वरन् विश्व व्यापी अहिंसा थी। आज भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह ठीक खरी उतरती है प्रत्येक समस्या पर प्रकाश डालती है तथा प्रत्येक पहलू में लागू हो सकती है। इसके साथ ही उन्होंने न केवल यही बताया कि एक मनुष्य की तथा दूसरे मनुष्य की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है बल्कि समस्त प्राणी मात्र की आत्मा एक ही है यह कहकर उन्होंने विश्व मैत्री तथा मानवता का अमर दिव्य सन्देश दिया। अधम से अधम तथा पतित से पतित प्राणी की आत्मा भी प्रयत्न करने पर परमात्मा बन सकती है प्राणी अपने कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता स्वयं ही है। ईश्वर निर्विकार निर्लिप्त है इस प्रकार श्री वीर स्वामी दो रूप में जनता के सामने आये। एक महान दार्शनिक के रूप में और एक महान सुधारक के रूप में। महान दार्शनिक के रूप में उन्होंने जनता को आत्मा के स्वरूप, उसका विकास तथा परमात्मा की सत्ता इत्यादि के विषय में बहुत कुछ बताया तथा महान सुधार के रूप में उन्होंने श्रावक धर्म, साधु धर्म तथा अहिंसा इत्यादि विषयों को प्रतिपादित किया। इन विषयों का अध्ययन करने के पश्चात् भी वीर भगवान की ज्ञान गंभीरता तथा दृष्टि विशालता का परिचय मिलता है कि किस भांति प्रत्येक बात उसकी गहराई में डूब कर उसके अन्तस्तल तक पहुँच कर कही गई है। उनकी अहिंसा का महान सिद्धान्त केवल एक ही जाति अथवा देश विशेष

के लिये नहीं अपितु समस्त विश्व और समस्त कालों में समान रूप से लागू हो सकता है। उस प्राचीन कालमें जबकि प्राणी बिलकुल अन्धकार में लिप्त थे अपने अस्तित्व से भी अपरिचित हो चुके थे, न कोई जागृति रह गई थी न जीवन था। महावीर की अहिंसा ने वह अमर जीवन फूंका था कि मृतप्रायों में भी जान आगई और उनके इस उपहार से मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी इत्यादि तक भी सन्तुष्ट हुये।

आज जबकि विश्व के कौने २ में युद्ध जनित भयंकर तूफान व्याप्त होने के पश्चात् भी शान्ति की सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। मानव-रक्त की इतनी बड़ी होली खेली जा चुकी है किन्तु तो भी निर्णय न हो पाया। बस एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़प जाने की इच्छा से लोलुप गिद्ध दृष्टि से ताका करता है। मानवता का दमभरने वाले बड़े २ राष्ट्र मानवता की ओट में उसीकी हत्या में व्यस्त रहते हैं तथा साम्राज्यवाद की पुष्टि करके दानवता को जीवन देते है। कई देशों का यह मत है कि अशान्ति की भीषण लहरों को रोकने के लिये युद्ध का होना आवश्यक है परन्तु इतना नरसंहार तथा रक्त-पात होने पर भी सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति व्याप्त है अब भी अतुल ऐश्वर्यशाली देश अपनी सम्पत्ति बड़ी तेजी से अस्त्रनिर्माण में लगा रहे हैं। एटम बम जैसे महान घातक अस्त्र का आविष्कार शान्ति स्थापन के लिये हुआ है? कहना पड़ेगा कि आज का जगत् जिसे हम वैज्ञानिक तथा उन्नतिशील कहते हैं। विद्युत गति से अपने ही विनाश की ओर दौड़ा जा रहा है। अतः इस अशान्ति तथा असन्तोष के काल में योगी महावीर की अहिंसा एक देश में या एक जाति में ही नहीं वरन् समूचे जगत के राष्ट्रों में सच्ची शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर सकती है।



GIFTS OF JAINISM TO MANKIND

by

Dr. A. N. Upadhye

Jainism is an important Indian religion. As a social organisation, consisting of monks, nuns, house-holders and house-ladies, it has survived the ravages of time with remarkable conservatism and tenacity, even to this day. Therein lies the nobility of its philosophy, as well as the stability of its moral values.

The Jaina philosophy is characterised by certain fundamental features. The Jaina God is not a creator, not merely an idol, but he stands for the highest spiritual

Ideal which every soul must try to attain by following the path of religion. The spirit is not at the mercy of any deity; but he is the master of his own destiny; ever pursuing his path according to his karman, the doctrine about which is worked out in all the details in Jaina works and nothing like which is found in any other Indian system of religious thought.

Jaina epistemology is quite original in many of its details; the conception of omniscience indicates what the ideal knowledge should be like. The mundane beings are typically imperfect: their understanding is partial and their expression is limited, especially when the complex reality with its manifold qualities and modes extended over three times is being tackled. It is to face this problem Jainism has promulgated the Nayavada and Syadvada; the former tries to analyse reality from different points of view and the latter makes an attempt to state the same as truly as possible.

In the Jaina scale of ultimate evalution, the highest value is set on 'life' which is not to be subjected to any violence in thought, word and deed. The sanctity of life is above everything. All other ethical principles such as Truthfulness, Not-stealing, Chastity and possessionlessness are just the corollaries of Ahinsa which is the highest principle. It is the monk that tries to practise it ideally, while the house-holder follows the same with certain reservations. what the Nayavada and Syadvada achieve in the intellectual fields, the Ahinsa achieves in the socio-moral field.

In assessing the contribution of Jainism to the religious heritage of India, we have to take into special account the Jaina doctrines of Karman, Syadvada and Ahinsa, which, if properly understood, have a great bearing on the progress of man along the proper path.

जैन धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि

लेखक—साहित्यरत्न उपाध्याय पण्डित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज



स प्रकार यह सृष्टि प्रवाह अनादि अनन्त है इसी तरह जैनधर्म भी अनादि अनन्त है। जो वस्तु अनादि होती है उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जैन धर्म ही ऐसा धर्म है जिसकी उत्पत्ति का पता नहीं लगाया जा सकता। जैसे कालचक्र अनादि और अनन्त है तो उत्पत्ति के लिए कोई प्रश्न नहीं हो सकता है। यही बात जैनधर्म के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। यह धर्म काल-प्रवाह के समान अनादि अनन्त है।

जिस प्रकार चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं इसी तरह जैनधर्म भी वृद्धि-हानि पाता रहता है। कभी पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से पृथ्वी को आप्लावित करता है तो कभी कृष्णपक्ष की अमावस्या का चन्द्रमा तिरोहित हो जाता है। इसी तरह कभी जैनधर्म अपने समग्र रूप में प्रकाशित होता है और कभी कालप्रभाव से इसकी ज्योति हीन हो जाती है या कहीं छिप जाता है। चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में बढ़ता है और अमावस्या को क्षीण हो जाता है और पुनः शुक्ल पक्ष में उदित होता है इससे चन्द्रमा की नवीन उत्पत्ति नहीं समझी जाती है। सूर्य का नित्यप्रति उदय और अस्त होता है इससे सूर्य का नवीन उत्पन्न होना नहीं माना जाता है वरन् सूर्य और चन्द्र का उदय और अस्त होना समझा जाता है। सूर्य और चन्द्र के उगने से उनकी उत्पत्ति और अस्त होने से उनका नाश नहीं समझा जाता वरन् एक ही सूर्य और चन्द्र का उदय और अस्त काल समझा जाता है। ठीक इसी तरह जैनधर्म का विकास और ह्रास होता रहता है। इस विकास और ह्रास की उत्पत्ति और विनाश नहीं कहा जा सकता है। इसे उदयकाल और अस्तकाल कहा जा सकता है। इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में ऋषभदेव स्वामी ने जैनधर्म का पुनरुत्थान किया। इसी तरह प्रत्येक तीर्थङ्कर ने जैनधर्म का उपदेश दिया और चौवीसवें तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी ने पुनरुद्धार किया। जैन परिभाषा में धर्म का पुनरुद्धार कर तीर्थ स्थापन करने वाले को तीर्थङ्कर कहा गया है प्रत्येक तीर्थंकर का काल जैन धर्म का उदय काल है। और एक तीर्थंकर के जन्म से दूसरे तीर्थङ्कर के जन्म काल के बीच का समय जब जैन धर्म का ह्रास हो जाता है तो जैन धर्म का अस्तकाल समझना चाहिए। इस दृष्टि से ऋषभदेव स्वामी से लगाकर महावीर स्वामी पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थङ्कर जैन धर्म के संस्थापक नहीं वरन् उसे नवजीवन प्रदान करने वाले युगावतारी महापुरुष हैं।

जैन धर्म के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य और पौर्वात्य इतिहासकार अनभिज्ञ रहे हैं और हैं। यही कारण है कि कतिपय इतिहासकारों

ने जैनधर्म के विषय में अपने गलत अभिप्राय व्यक्त किये हैं। किसीने इसे वैदिक धर्म का रूपान्तर माना है और किसी ने इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानकर भगवान् महावीर को इसका संस्थापक माना है। सचमुच यह इतिहासकारों की अनभिज्ञता का परिणाम है। साथ ही यह कहे विना भी नहीं चल सकता है कि इतिहास के बारे में जैन मुनियों और विद्वानों की उपेक्षा बुद्धि रही जिसके कारण उन्होंने जन इतिहास को अपने असली रूपमें विश्व के सन्मुख नहीं रक्खा और उसका प्रचार नहीं किया। साथ ही समय समय पर होने वाले आक्षेपों के प्रत्युत्तर भी देने में उपेक्षा बुद्धि रही है। यह भी एक मुख्य कारण है जिससे संसार का बहुतसा विद्वद्समाज जैन-इतिहास और सिद्धांत के विषय में अन्धकार में है। अजैन संसार को जो जैनइतिहास विदित है वह बहुत कुछ भ्रान्त और गलत है। अब ज्यों ज्यों ऐतिहासिक अन्वेषण होता जारहा है त्यों २ यह प्रकट होता जारहा है कि जैन संस्कृति और इतिहास अति प्राचीन हैं। आधुनिक इतिहास-काल जिस समय से प्रारम्भ होता है उससे पूर्व जैन संस्कृति विद्यमान थी यह अब इतिहासवेत्ताओं को भली भांति विदित हो चुका है। अब इन पृष्ठों में यह प्रमाणित किया जाता है कि जैनधर्म अति प्राचीन धर्म है। इसकी उत्पत्ति का पता लगाने में इतिहास तो अपनी हारमानता है क्योंकि इतिहास की परिधि तो चार पांच हजार वर्ष के अन्दर ही सीमित है। इससे पूर्व की घटनाओं के विषय में वह कुछ निर्णय नहीं देता है। इतिहास जब से प्रारम्भ होता है उसकाल में जैनधर्म का अस्तित्व था यह भलीभांति सिद्ध हो चुका है।

भारतवर्ष में मुख्य रूप से तीन धर्मों का प्रभुत्व रहा है (१) जैनधर्म (२) वैदिक-धर्म (३) बौद्ध धर्म। इन तीनों धर्मों का यहां विचार किया जाता है। प्रथम बौद्ध धर्म को लीजिए। बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध हैं। ये भगवान् महावीर के समकालीन हैं। इससे यह सिद्ध है कि बौद्ध धर्म अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का है। इससे पहिले संसार में बौद्ध धर्म नहीं था। यह सभी इतिहासों से स्वीकृत हुआ तथा है। ऐसा होते हुए भी पाश्चात्य विद्वान लेथब्रिज, एलफिस्टन, वेबर, बार्थ, आदि ने जैन धर्म की उत्पत्ति बौद्ध धर्म से मानी है इन विद्वानों का यह कथन प्रकट करता है कि इनको जैन, वैदिक और बौद्ध शास्त्रों का ज्ञान बिल्कुल नहीं था। ये लोग इसकथन द्वारा यह प्रकट करते हैं कि इन्होने इन तीनों धर्मों के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन किये बिनाही, केवल ऊपरी ज्ञान प्राप्त करके इनके विषय में अपनी अपनी राय कायम करली है। अपने अनुमान के बलपर ही जैनधर्म के सम्बंध में ऐसा गलत अभिप्राय व्यक्त करके इन्होने जैनधर्म के साथ ही नहीं परन्तु वास्तविकता के साथ अन्याय किया है।

इन विद्वानों के इस भ्रमका कारण यह है कि जैनधर्म और बौद्ध धर्म के कुछ सिद्धान्त आपस में मिलते हैं। दोनों धर्मों ने तात्कालीन वैदिक हिंसा का जोरदार खंडन किया था और ब्राह्मणों की अखंड सत्ता को अभिच्युत किया था।

इसलिए ब्राह्मण लेखकों ने इन दोनों धर्मों को एक कोटि में रखदिया। इस समानता के कारण इन पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है इन विद्वानों ने ऊपरी समानता देखकर और दोनों धर्मों में में रहे हुए मौलिक भेद उपेक्षा करके यह गलत अनुमान बांधा है।

जर्मनीके प्रोफेसर हर्मन जेकोबी ने जैनधर्म और बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की समानता की बहुत छानबीन की है और इस विषय की बहुत विस्तार के साथ आलोचना की है। इस प्रौढ़ पंडित ने अकाट्य प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करादिया है कि जैनधर्म की उत्पत्ति न तो महावीर के समयमें और न पार्श्वनाथ के समय में हुई किन्तु इससे भी बहुत पहिले भारतवर्ष के अति प्राचीन कालमें यह अपनी हस्ती होने का दावा रखता है।

जैनधर्म, बौद्धधर्म की शाखा नहीं है,बल्कि एक स्वतंत्र धर्म है इस बात को सिद्ध करने के लिए अध्यापक जेकोबीने, बौद्धों के धर्मग्रन्थों में जैनों का और उनके सिद्धान्तों का जो उल्लेख पाया जाता है उसका दिग्दर्शन कराया है और बड़ी योग्यता के साथ यह सिद्ध करादिया है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन हैं। अब यहां यह दिग्दर्शन करा देना उचित है कि बौद्धों के धर्मशास्त्रों में कहां कहां जैनों का उल्लेख पाया जाता है:—

(१) मज्झिमनिकाय में लिखा है कि महावीर के उपाली नामक श्रावक ने बुद्ध देवके साथ शास्त्रार्थ किया था।

(२) महावग्ग के छठे अध्याय में लिखा है कि "सीह" नामक श्रावक ने, जो कि महावीर का शिष्य था बुद्देव के साथ भेंट की थी।

(३ "अंगुत्तरनिकाय" के तृतीय अध्याय के ७४ वें सूत्र में वैशाली के एक विद्वान् राजकुमार अभयने निर्ग्रन्थ अथवा जैनों के कर्मसिद्धान्त का वर्णन किया है।

(४) अनुगुत्तरनिकाय में जैन श्रावकों का उल्लेख पाया जाता है और उनके धार्मिक आचार का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

(५) समञ्ञफल-सूत्र में बौद्धों ने एक भूल की है। उन्होंने लिखा है कि महावीर ने जैनधर्म के चार महाव्रतों का प्रतिपादन किया किन्तु ये चार महाव्रत महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ स्वामी के समय माने जाते थे। यह भूल बड़े महत्व की है क्योंकि इससे जैनियों के उत्तराध्ययन-सूत्र के तेईसवें अध्याय की यह बात सत्य सिद्ध हो जाती है कि तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर के समय में विद्यमान थे।

(६) बौद्धोंने अपने सूत्रों में कई जगह जैनों को अपना प्रतिस्पर्धी माना है किन्तु कहीं भी जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा या नव स्थापित धर्म नहीं लिखा।

(७) मंखलीपुत्र गोशाला महावीर का शिष्य था परन्तु बाद में वह धर्म-द्रोही पाखण्डी होगया। इसी गोशाला और उसके सिद्धान्तों का बौद्धधर्म के सूत्रों में कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

(८) बौद्धोंने महावीर के सुशिष्य सुधर्माचार्य के गोत्रका और महावीर के निर्वाण स्थान का भी उल्लेख किया है।

अध्यापक जेकोबी महोदय ने अन्य भी कतिपय प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है लेकिन बौद्ध धर्म से प्राचीन है।

प्रोफेसर हर्मन जेकोबी ने विश्वधर्मकाँग्रेस में अपने भाषण का उपसंहार करते हुए कहा है कि:—

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others, and that therefore it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

(Read in the congress of the History of Relegions)

अर्थात्-अन्त में मुझे अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करने दीजिये कि जैन धर्म एक मौलिक धर्म है। यह सब धर्मों से सर्वथा अलग और स्वतंत्र धर्म है। इसलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्वज्ञान और धार्मिक जीवन के अभ्यास के लिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण है।

जेकोबी महोदय के उक्त वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है इतनाही नहीं, किसी भी धर्म की शाखा नहीं है। वह एक मौलिक, स्वतंत्र और प्राचीन धर्म है।

जैनधर्म वेदधर्म से भी प्राचीन है

कई विद्वानों का यह भ्रमपूर्ण मत है कि जैनधर्म वेदधर्म की शाखा है और उसके आदि प्रवर्तक पार्श्वनाथ (७७७–८७७ ईसा से पूर्व) हैं। इस भ्रामक मान्यता के मूल में भी दो कारण हैं। (१) प्रथम तो यह है कि इन विद्वानों ने जैनधर्म का अध्ययन जैन शास्त्रों से नहीं किया लेकिन हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में जैनधर्म का जो विकृत रूप चित्रित है उसीको सत्य मानकर अपना अनुमान खड़ा किया है। अशुद्ध आधारों की भित्ति पर खड़ा किया हुआ अनुमान भी अशुद्ध ही होता है, यह निर्विवाद है। (२) दूसरा कारण यह है कि जैनियों के प्रति ईर्षा के कारण इसके प्रतिवादियों ने इसके धर्मशास्त्रों और अनुपम साहित्य को जला दिया। इस अत्याचार से डरकर कहीं अवशिष्ट साहित्य भी नष्ट न हो जाय इस भय से जैनों ने उसे तहखानों (भन्डारों) में छिपा दिया। बहुत से बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ

रत्न कीटकों के द्वारा नष्ट किये गये। अब जो कुछ भी जैन साहित्य बचा है वह भी विद्वानों को उपलब्ध नहीं है। इसका कारण है-भन्डारों के स्वामियों की अदूरदर्शिता और समय को पहचानने की अकुशलता। उस अत्याचार के जमाने में ग्रंथों को छिपाकर रखना आवश्यक था परन्तु वह पद्धति अब भी प्रचलित रखना हितकर नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जब कि जैन साहित्य अनुपलब्ध था—पुरातत्व की खोज करते समय पूर्वीय भाषाएँ जानने वाले योरोपीय विद्वानों को जैनधर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ा। ब्राह्मणों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे प्रतिद्वन्दी जैनों के सिद्धान्तों की पक्षपात रहित आलोचना करें। पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों में जैनधर्म का विकृत रूप देखा इसलिए उनके हृदय में जैनधर्म के विषय में कुत्सित विचार पैदा हो गये। उन्होंने अशुद्ध सामग्री को लेकर तर्क करना शुरू किया इसलिए वे सत्य को न पासके और भ्रान्त विचारों पर जा पहुँचे।

अब हम वेदधर्म के मान्य वेदों, पुराणों और अन्य ग्रन्थों के हवाले देकर यह सिद्ध करेंगे कि जैनधर्म वेदधर्म से भी प्राचीन है। मगर वेद और पुराणों का विचार करने के पहिले जैन धर्म की प्राचीनता का एक और प्रमाण पाठकों के सन्मुख उपस्थित करते हैं :—

शाकटायनाचार्य एक जैन वैयाकरण थे ये आचार्य किस काल में हुए इसका प्रामाणिक कोई उल्लेख नहीं मिलता तदपि यह निर्विवाद है कि यह आचार्य सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि से बहुत प्राचीन हैं। इसका कारण यह है कि पाणिनि ऋषि ने अपनी अष्टाध्यायी में "व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य" इत्यादि सूत्रों में शाकटायन का हवाला दिया है जो शाकटायन का पाणिनि से प्राचीन होने को सिद्धि करता है। अब विचारना है कि पाणिनि का समय कौनसा है? इतिहासकारों और पुरातत्वविदों ने महर्षि पाणिनि का समय ईस्वी सन् पूर्व २४०० वर्ष बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि ऋषि आज से चार हजार तीन सौ पैंतालीस वर्ष पूर्व हुए हैं। जब पाणिनि ऋषि अपने व्याकरण में शाकटायन का हवाला देते हैं तो यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि शाकटायन पाणिनि से प्राचीन हैं। शाकटायन का नाम यास्क के निरुक्त में भी आता है। ये यास्क पाणिनि से कई शताब्दियों पहले विद्यमान थे। रामचन्द्र घोष ने अपने "Peep into the the vedic Age" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि यास्क कृत "निरुक्त" को हम बहुत ही प्राचीन समझते हैं। यह ग्रन्थ वेदों को छोड़कर संस्कृत के सब से प्राचीन साहित्य से सम्बन्ध रखता है। इस बात से यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म का अस्तित्व यास्क के समय से भी बहुत पहिले था। शाकटायन का नाम ऋग्वेद की प्रतिशाखाओं में और यजुर्वेद में भी आता है।

शाकटायनाचार्य जैन थे इस बात का प्रमाण ढूंढने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। उनका रचित व्याकरण ही इस बात को सिद्ध करता है। वे

अपने व्याकरण के पाद के अन्त में लिखते है–"महाश्रमण संघाधिपतेः श्रुत के-वलिदेशीयाचार्यस्य शाकटायनस्य कृतौ"–उक्त लेख में आये हुए "महाश्रमण संघ" और "श्रुतकेवलिदेशीयाचार्यस्य" ये जैनों के पारिभाषिक खेलू शब्द हैं। इन पर से निर्विवाद सिद्ध होता है कि शाकटायनाचार्य जैन थे। शाकटायन पाणिनि से बहुत पहले हुए हैं यह सिद्ध किया जा चुका है; अतएव पाणिनि से बहुत पहले जैनधर्म था यह प्रमाणित हो जाता है।

वैदिक धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थों से भी यह सिद्ध होता है कि उस समय भी जैनधर्म का अस्तित्व था। वैदिकधर्म के सर्वमान्य रामायण और महाभारत में भी जैन धर्म का उल्लेख पाया जाता है। रामचन्द्रजी के कुलपुरोहित वशिष्ठजी के बनाये हुए "योगवाशिष्ठ" नामक ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

अर्थात्–रामचन्द्रजी कहते हैं कि मैं राम नहीं हूं, मुझे किसी पदार्थ की इच्छा भी नही है; मैं जिनदेव के समान अपनी आत्मा में ही शांति स्थापित करना चाहता हूं।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि रामचन्द्रजी के समय में जैनधर्म और जैन तीर्थङ्कर का अस्तित्व था। जैन धर्मानुसार बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय में रामचन्द्रजी का होना सिद्ध है। महाभारत के आदि पर्व के तृतीय अध्याय में २३ और २६ वें श्लोक में एक जैन मुनि का उल्लेख है। शान्ति-पर्व (मोक्ष धर्म अध्याय २३९ श्लोक ६) में जैनों के सुप्रसिद्ध सप्तभंगी नय का वर्णन है।

आधुनिक कतिपय इतिहासकारों की ऐसी मान्यता है (यद्यपि जैनियों को यह स्वीकृत नहीं) कि महाभारत ईसा से तीन हजार वर्ष पहिले तैयार हुआ था और रामचन्द्रजी महाभारत से एक हजार वर्ष पहिले विद्यमान थे। इस पर से कहा जा सकता है कि रामचन्द्रजी के समय में (चाहे वह कौनसा भी हो) जैन धर्म का अस्तित्व था। रामचन्द्रजी के काल में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वेदव्यास के समय में उसका आस्तित्व सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, तदपि वेदव्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र में "नैकस्मिन्नसंभवात्" कहकर जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त पर आक्षेप किया है। अगर उस समय जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त विकसित न हुआ होता तो वेदव्यास उस पर लेखनी नहीं उठाते। यद्यपि वेदव्यास ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है वह स्याद्वाद का शुद्ध रूप नहीं है उसे विकृत करके उन्होंने पेश किया है, तदपि इससे यह तो भलीभांति सिद्ध होजाता है कि वेदव्यास के समय में स्याद्वाद–जो जैनदर्शन की मुख्यता है भलीभांति प्रचलित हो चुका था। रामायण महाभारत से जैनधर्म का आस्तित्व सिद्ध होजाने पर अब पुराणों को देखना चाहिए।

अष्टादश पुराण महर्षि व्यास के द्वारा रचित माने जाते हैं। ये व्यास महर्षि महाभारत के समयवर्ती बतलाये जाते हैं। चाहे कुछ भी हो; हमें यह देखना है कि पुराण इस विषय में क्या कहते हैं ? शिवपुराण में ऋषभनाथ भगवान् का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है:—

कैलासे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः ।
चकार स्वावतारञ्च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ ५९ ॥

इसका अर्थ यह है कि केवल ज्ञानद्वारा सर्वव्यापी, कल्याण स्वरूप, सर्वज्ञाता जिनेश्वर ऋषभदेव सुन्दर कैलास पर्वत पर उतरे। इसमें आया हुआ "वृषभ" और "जिनेश्वर" शब्द जैन धर्म को सिद्ध करते हैं क्योंकि "जिन" और "अर्हत्" शब्द जैन तीर्थङ्कर के लिए रूढ़ हैं ब्रह्माण्ड पुराण में इस प्रकार लिखा है:—

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां मनोहरम् ।
ऋषभं क्षत्रिय ज्येष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञेवीरः पुत्रशताग्रजो—
ऽभिषिच्य भरतं राज्ये महाप्रव्रज्यामास्थितः ॥

इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्याः नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः ।

अर्थात्—नाभिराजा और मरूदेवी रानी से मनोहर, क्षत्रियों में प्रधान, समस्त क्षत्रिय वंश का पूर्वज ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषभनाथ के सौ भाइयों में सबसे बड़ा, शूरवीर भरत नामक पुत्र हुआ। ऋषभदेव, भरत का राज्याभिषेक करके प्रव्राजित हो गये। इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न नाभिराय और मरूदेवी के पुत्र ऋषभ ने क्षमा मार्दव आदि दस प्रकार का धर्म स्वयं धारण किया और केवल ज्ञान पाकर उसका प्रचार किया। स्कन्द पुराण में लिखा है—

आदित्य प्रमुखाः सर्वे बद्धाञ्जलय ईदृशं ।
ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदङ्घ्रियुगनीरजम् ॥
परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम् ।
निरञ्जननिराकारं ऋषभन्तुमहाऋषिम् ॥

भावार्थ-ऋषभदेव, परमात्मा केवल ज्ञानी निरञ्जन निराकार और महर्षि हैं। ऐसे ऋषभदेव के चरण युगल का आदित्य आदि सुर, नर भावपूर्वक, अञ्जलि जोड़कर, ध्यान करते हैं।

नागपुराण में इस प्रकार उल्लेख है:—

अकारादि हकारान्तं मूर्द्धाधोरेफ संयुतम् ।
नादबिन्दु कलाक्रान्तं चन्द्रमण्डलसन्निभं ॥
एतद्देविपरं तत्वं यो विजानाति तत्वतः ।
संसार बन्धनं छित्वा स गच्छेत्परमां गतिम् ॥

अर्थात्-जिसका प्रथम अक्षर "अ" और अन्तिम अक्षर "ह" है और जिसके ऊपर आधा रेफ तथा चन्द्रबिन्दु विराजमान है ऐसे "अर्हं" को जो तत्व के रूप में जान लेता है वह संसार बन्धन को काटकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

बहुमान्य मनुस्मृति में मनु ने कहा है:-

मरूदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः ।
अष्टमो मरुदेव्यान्तु नाभेजति उरुक्रमः ॥
दर्शयन्वर्त्मवीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीतित्रितय कर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ॥

भावार्थ-इस भारतवर्ष में नाभिराय नामक कुलकर हुए। तदनन्तर नाभिराय के मरूदेवी के उदर से मोक्ष मार्ग का दिखाने वाले सुर-असुर द्वारा पूजित तीन नीतियों के विधाता प्रथम जिनेश्वर यानी ऋषभनाथ सत्युग के प्रारम्भ में हुए।

"ऋषभ" शब्द के सम्बन्ध में शंका का अवकाश ही नहीं है। वाचस्पति कोष में ऋषभ शब्द का अर्थ "जिनदेव" किया है और शब्दार्थचिन्तामणि में "भगवद्वतार भेदे आदिजिनें" भगवान का अवतार और प्रथम जिनेश्वर किया गया है। पुराणों के अवतरणों से यह स्पष्ट हो गया कि पुराणकाल के पहिले जैन धर्म था। इसके अतिरिक्त भागवत् के पांचवें स्कन्ध के चौथे पांचवें और छठे अध्याय में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को आठवां अवतार बतलाकर उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। भागवत पुराण में यह लिखा है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्म ने स्वयम्भू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया। ऋषभदेव इनसे पांचवीं पीढ़ी में हुए। इन्हीं ऋषभदेव ने जैन धर्म का प्रचार किया। इस पर से अगर हम यह अनुमान करें कि प्रथम जैन तीर्थंकर और जैन धर्म के आदि पुरुष ऋषभदेव स्वामी मानव जाति के आदि-गुरु थे तो हमारा विश्वास है कि इस कथन में कोई अत्युक्ति न होगी।

दुनिया के अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक उपलब्ध समस्त ग्रन्थों में वेद ही सब से प्राचीन हैं अतएव हम अब वेदों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि वेदों की उत्पत्ति के समय जैनधर्म विद्यमान था। वेदानुयायियों

की मान्यता है कि वेद ईश्वर प्रणीत हैं। यद्यपि यह मान्यता ठीक नहीं है तदपि ऐसा मान लिया जाय तो यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही जैनधर्म प्रचलित था क्योंकि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में जैन तीर्थङ्करों के नामों का उल्लेख पाया जाता है-ऋग्वेद में कहा है

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद अस्त आदद्या वृषभो तरिक्ष जमिमीते वरिमाणं। पृथिव्याः आसीत् विश्वा भुवनानि समाड्विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि ३०। अ० ३।

अर्थ-तू अखण्ड पृथ्वीमण्डल का सारत्वचा स्वरूप है, पृथ्वीतल का भूषण है, दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है। ऐसे हे वृषभनाथ सम्राट्! इस संसार में जगरक्षक व्रतों का प्रचार करो।

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् (अ. १ अ. ६ व. १६)
अर्हन्निदं दयसे विश्वं भवभुवं न वा ओजीयो रूद्रत्वदस्ति (अ. २ अ. ७ व. १७)

अर्थ—हे अर्हन् देव! तुम धर्मरूपी बाणों को, सदुपदेशरूप धनुष को अनन्त ज्ञान रूप आभूषण को धारण किये हुए हो। हे अर्हन्! आप जगत्प्रकाशक केवल ज्ञान को प्राप्त हो, संसार के जीवों के रक्षक हो, कामक्रोधादि शत्रुसमूह के लिए भयंकर हो, आपके समान अन्य बलवान नहीं है।

ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि स्वाहा।

ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थङ्करान् ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान्शरणं प्रपद्ये।

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभं पवित्रं पुरुहुत मध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसं स्तुतं वारं शत्रुं जयंतं पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु।

इत्यादि बहुत से वेदमंत्रों में जैन तीर्थंकर श्री ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि आदि तीर्थङ्करों के नाम आये हैं। इन तीर्थङ्करों के प्रति पूज्य भाव रखनेकी प्रेरणा करने वाले कतिपय वेद मंत्र वेदों में पाये जाते हैं। इन सब प्रमाणों पर से यह प्रतीत होता है कि वेदों की रचना के पूर्व भी जैनधर्म बड़े प्रभाव के साथ व्याप्त था तभी तो वेदों में उनके नाम बड़े आदर के साथ उल्लिखित हुए हैं। इन बातों का विचार करने पर कोई भी निष्पक्ष वेदानुयायी यह नहीं कह सकता है कि जैनधर्म वैदिक धर्म के बाद उत्पन्न हुआ है। वेदों में से जो प्रमाण दियेगये हैं वही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि जैनधर्म अति प्राचीन काल से

चला आता है। जिस वैदिक धर्म को प्राचीन बतलाया जाता है उससे भी पहिले जैन-धर्म अस्तित्व रखता था।

अब, जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य और पौर्वात्य पुरातत्वविदों और इतिहासकारों ने जो अभिप्राय व्यक्त किये हैं उनका दिग्दर्शन करना अप्रस्तुत नहीं होगाः—

(१) काशी निवासी स्वर्गीय स्वामी राममिश्र शास्त्री ने अपने एक व्याख्यान में कहा था —

जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना कि यह संसार है (२) प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्यविद्यामहार्णव श्री नगेन्द्रनाथ बसु ने अपने हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग में ६४ वें पृष्ट पर लिखा है " ऋषभदेव ने ही संभवतः लिपि विद्या के लिए लिपि कौशल का उद्भावन किया था" ऋषभदेव ने ही संभवतः ब्रह्मविद्या शिक्षा की उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया। हो न हो, इसलिए वह अष्टम अवतार बताये जाकर परिचित हुए।

इसी विश्वकोष के तीसरे भाग में ४४४ वें पृष्ठपर यों लिखा है:- "भागवतोक्त २२ अवतारों में ऋषभ अष्टम हैं । इन्होंने भारतवर्षाधिपति नाभिराजा के औरस और मरुदेवी के गर्भसे जन्म ग्रहण किया था। भागवत में लिखा है कि जन्म लेते ही ऋषभनाथ के अंगमें से सब भगवान के लक्षण झलकते थे।

(३) श्रीमान् महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एम. ए. पी. एच. डी. एफ. आइ. आर. एस, सिद्धान्तमहोदधि प्रिंसिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता-अपने भाषण में कहते हैं:- "जैनमत तबसे प्रचलित हुआ है जबसे संसार में सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैनदर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्वका है।

(४) विद्वच्छिरोमणि लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलकने अपने "केशरी" पत्र में १३ दिसम्बर सन् १६०४ को लिखा है:—

महावीर स्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाये। इस बातको आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्धधर्म की स्थापना के पहले जैनधर्म फैल रहा था यह बातें विश्वास करने योग्य हैं। चौबीस तीर्थङ्करों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है।

(५) स्वामी विरूपाक्ष वार्डियर धर्मभूषण, वेदतीर्थ, विद्यानिधि एम. ए. प्रोफेसर संस्कृत कालिज इन्दौर "चित्रमय जगत्" में लिखते हैं कि:-

ईर्षा, द्वेष के कारण धर्मप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए भी जैनशासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी होता रहा है। अर्हन् देव साक्षात्

परमेश्वर स्वरूप हैं। इसके प्रमाण भी आर्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं। अर्हन्त परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है। ऋषभदेव का नाती मरीचि प्रकृतिवादी था। और वेद उसके तत्वानुसार हो सके,इस कारणही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद पुराणादि ग्रन्थों में हैं और स्थान स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है, तो कोई कारण नहीं कि वैदिक काल में जैनधर्म का अस्तित्व न मानें। वेदों में जैनधर्म को सिद्ध करने वाले बहुत मंत्र हैं। सारांश यह है कि इन सब प्रमाणों से जैनधर्म का उल्लेख हिन्दुओं के पूज्य वेदों में भी मिलता है।

(६) श्रीयुत लाला कन्नोमलजी एम. ए. सेशन जज धौलपुर ला. लाजपतराय के भारत इतिहास में जैन धर्म सम्बन्धी आक्षेपों के प्रतिवादमें लिखते हैं कि —

उपसंहार

ऊपर कतिपय पुरातत्वविदों के दिये गये अभिप्रायों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म अति प्राचीन धर्म है। ये इतिहासकार संशोधक और पुरातत्व के ज्ञाता सभी अजैन हैं अतएव पक्षपात की आशंका ही नहीं हो सकती। इन विद्वानों ने अपने निष्पक्ष अनुसन्धान एवं गवेषणा के आधार पर ही अपने अभिप्राय व्यक्त किये हैं। इससे यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि जैन धर्म सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान है। हम प्रमाणों और वेदों के अवतरणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जैन धर्म अनादि है। जिस प्रकार समय का प्रवाह अनादि अनन्त है इसी तरह जैन धर्म भी अनादि अनन्त है। थोड़े समय पहिले तक कई विद्वानों को यह भ्रम था कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म की शाखा है। जिस प्रकार अब यह भ्रम दूर हो गया है उसी तरह थोड़े समय बाद वह समय आवेगा जब इस महत्वपूर्ण समस्या पर अधिक प्रकाश पड़ेगा और बड़े२ दिग्गज विद्वानों को भी यह मानना पड़ेगा कि जैन धर्म सब धर्मों से प्राचीन धर्म है।

सभी लोग जानते हैं कि जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी हैं। जिनका काल इतिहास परिधि से कहीं परे है। इनका वर्णन सनातन धर्मी हिन्दुओं के श्रीमद्भागवत पुराण में भी है। ऐतिहासिक गवेषणा से मालूम हुवा है कि जैन धर्म की उत्पत्ति का कोई काल निश्चित नहीं है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में जैन धर्म का हवाला मिलता है। श्री पार्श्वनाथजी जैनों के तेईसवें तीर्थङ्कर हैं। इनका समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का है तो पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि ऋषभदेवजी का कितना प्राचीन काल होगा। जैन धर्म के सिद्धान्तों की अविच्छिन्न धारा इन्हीं महात्मा के समय से बहती रही है। कोई समय ऐसा नहीं है जिसमें इसका अस्तित्व न हो। श्री महावीर स्वामी जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर और प्रचारक हैं। न कि उसके आदि संस्थापक या प्रवर्तक।

भगवान् महावीर का आदर्श जीवन

लेखकः—मनोहर व्याख्यानी मुनि श्री वृद्धिचन्दजी महाराज



इस जगती तल में जब स्वार्थ, कपट, दम्भ, अभिमान और इह लौकिक सुखों की बढ़ती हुई विनाशोन्मुखी भावनाओं का विकास जब-जब अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है, जिस के कारण देश की दशों दिशाओं में करुण क्रन्दन फैल जाता है; मूक और निरपराधी प्राणियों के विकराल वध से आकाश मण्डल में एक असाधारण कम्पनसा उत्पन्न हो जाता है; जिधर भी देखो दुष्कर्मों की दावाग्नि, धाँय-धाँय करती हुई फटीसी देख पड़ती है; अन्ध-विश्वास, अशिक्षा, और सांसारिक सुखों-भोगों की बढ़ती हुई बाढ़ों के कीचड़ में फँसी हुई, भोली-भाली जनता, जब-जब अपनी सांसारिक सत्ता, शक्ति, धन, और बिखरे हुए वैभव के बलपर, दीन अनाथों को खरीद खरीद कर नर-थलियों के बाजारों को गरम करती रहती है; सत्य, संयम, और सादगी का सिर कुचल देने की प्राण-पण से चेष्टाएँ होती हैं; भौतिक स्वार्थों की पूर्ति में आध्यात्मिक आदर्श और त्यागों की उपेक्षा की जाती है; और जब स्वतन्त्रता का स्थान, स्वच्छन्दता, स्वार्थ-परायणता, और संकीर्णता ले बैठती है; तथा जब भेद-भाव की विषैली गेस से राष्ट्र की शक्ति मूर्च्छित होकर टुकड़े टुकड़े होजाती है जगत् की विषमताभरी परिस्थितियों के पलटने का समय भी, किसी न किसी दिन आता ही है। उस दिन जनता के रोते चीखते हुए भाग्य जगमगा उठते हैं, और वे आनन्द विभोर होजाते हैं। असत्य का अनादर और सत्य का समादर तब होने लगता है। हिंसा का हाहाकार, उस दिन अहिंसा में बदल जाता है। और तब अनाचार, अत्याचार, अन्ध-विश्वास, अधीरता, अबलता, अबोधता, और असमानता के पैर पृथ्वी से उखड़ पड़ते हैं और वे सबके सब प्राण-रक्षा के लिए पनाह की खोज में, पाताल की ओर, अपने पूरे बल से पलायमान होते से दीख पड़ते हैं। जुल्म का जोर जमीन से उस समय, जड़ामूल से मिट जाता है। सर्वत्र सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सुदृढ नींव पर अहिंसा अस्तेय, अपरिग्रह, सत्य और ब्रह्मचर्य की संस्थापना होती है। ऐसे ही विकटतम समय में आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले जब कि देश की दशों दिशाओं के वायु-मंडल में पाप ताप, अनाचार, और अत्याचार फूल और फल रहे थे।

भगवान का पावन जन्म, विक्रमीय संवत् से ५४२ वर्ष पूर्व, और निधन, विक्रमीय सम्वत् से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। उनका पहला नाम वर्धमान भी था। क्षत्रिय-कुंड ग्राम (जहां आज, विहार प्रान्तीय गया नामक जिले में "लखवाड़" ग्राम बसा हुआ है) के अधिपति महाराज सिद्धार्थ की महान सदाचारिणी धर्मपत्नी,

रानी त्रिशला की कोंख से, आरत भारत की धर्म-प्राण भूमि में भगवान् का पावन पदार्पण हुआ था। जो भी महाराज सिद्धार्थ के अधीन का भूभाग बहुत ही छोटा था, तथापि विद्या, वैभव, इज्जत, आवरू, और सदाचरण में, अपनी समानता के अड़ौस पड़ौस के अन्य राज्यों से, वह खूब ही बढ़ा-चढ़ा था। इसका सारा श्रेय, महाराज सिद्धार्थ ही के सिर था। उनकी प्रजाप्रियताभिलाषा लोक रंजन की लालसा, विद्याभिरुचि और सदाचार परायणता की परछायी ही, उनके अधिकृत भूभाग में, यत्र-तत्र, सजीव होकर बिखरे पड़ रही थी। सच, है "राजा कालस्य-कारण।" अर्थात राजा ही अपने समय का युग-प्रवर्तक होता है।

भगवान के जन्मोत्सव पर, राज्य ने तो भाँति २ की खुशीयां मनाई हीं, पर देवताओं ने भी इस कार्य में, भाग लिया। पुत्र-जन्मोत्सव की खुशी और स्मृति में, महाराज सिद्धार्थ ने कई कैदियों को बन्धन मुक्त किया और राज्य के छोटे बड़े सभी लोगों को, एक बड़ाभारी दरबार लगा कर, आमन्त्रित किया। राजा और प्रजा दोनों की ओर से, परस्पर, तरह-तरह की पदवियां और भेंटों तथा उपहारों का खूब ही आदान प्रदान हुआ।

अब कुमार, धीरे धीरे चन्द्र कला की भाँति बढने लगे। हमारे भावी भगवान जन्म ही से, बड़े ही सलोने, सुडौल, परम शान्त और करुणावान दयालु तथा गम्भीर स्वभाव के थे। जिनके बिखरे हुए रूप-सौन्दर्य, शील और स्वभाव को देख देख कर पुरजन, परिजन, और माता पिता फूले अंग न समाते थे।

आठवें वर्ष के आरम्भ में कुमार को विद्याध्ययन के लिये बैठाया गया। उनकी असाधारण बुद्धि और अगाढ़ प्रतिभा ने विद्यालय के उपाध्याय आदिको थोड़े ही काल में, चमत्कृत कर दिया। आज तो कुमार की युगानुयुगों की साधनाएं कुमार की सेवा में, अपने को बांधे उपस्थित थी ही, उपाध्याय के पास जाना, विद्यालय में भरती होना और पठन पाठन ये तो निमित्त मात्र थे। इसी नाते अपने गुरुओं का, धन तथा यश की प्राप्ति द्वारा ऋण जो चुकाना था, उसकी रस्म अदाई भी तो होना ही थी। अल्प काल में कुमार को अपने घर पहुंचा दिया गया। बदले में उपाध्यायजी ने समुचित सम्मान, पूर्ण यश, और पर्याप्त धन प्राप्त किया।

होते होते कुमार एक युवक के रूप में बदल चले। कुमार की प्रखरतम बुद्धि असाधारण प्रतिभा उनके सदाचरण रत-स्वभाव, और दयार्द्र भावों में अपूर्व उत्साह की झलक के साथ, अलौकिक त्याग और सुनहरी संयमशीलता को देख २ कर, एक ओर जहां उनके पुरजन, परिजन और माता पिता का हृदय आनन्द से बांसों उछल पड़ता था वहां, दूसरी ओर उनके द्वारा संसार त्याग का भय भी उनके दिल और दिमागों पर हर घड़ी सवार रहता ही था। फिर भी, येन केन

प्रकारेण, सखा, मित्र, अड़ौसी, पड़ोसी और बन्धु-बान्धवों की सहायता से समझा बुझाकर महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला रानी ने, एक दिन कुमार को विवाह बन्धन से संसार के मोह रूपी कीचड़ में फंसा रखने का साधन उपस्थित कर ही दिया। तत्कालीन एक प्रसिद्ध राजा, समरवीर की परम सुन्दरी और गुणाकारी यशोदा नामक कन्या के साथ कुमार का विवाह होगया। बड़े बड़े साज सजाये गये। कितने ही कैदियों को कारावास से मुक्त किया गया। भांति भांति के राज्यकरों से जनता को छुटकारा मिला। आये-गये लोगों ने तरह तरह का इनाम पाया। परम यशस्वी और सर्व गुण सम्पन्न पति को पाकर यशोदा ने भी अपने भाग्य को सराहा।

राज-कुमार का मन घर-गृहस्थी में स्थायी रूप से फंसा रहे, तदर्थ उनके महल में, व उसके अड़ौस पड़ौस को नित नयी भोग विलास की बहुमूल्य सामग्रियाँ जुटाये रखने का भरपूर प्रबन्ध था। किन्तु कुमार तो मानो अपने सम्पूर्ण प्रारब्ध कर्मों को, प्रकृति के साथ, अनासक्ति भाव से भोगते रहने, उसकी निर्जरा करने और कषायों के वातावरण में भी अडिग चित्त बने रहने का, कठोरतम मत धारण करके ही, इस जगत् में आये थे। अस्तु कुमार का विराग सना मन, अधिकाधिक प्रबलता से संसार की असारता और अनित्यता का अनुमान कर, त्याग-भावों की ओर अग्रसर होता जा रहा था। फिर भी, अपने अवधि ज्ञान की उपस्थिति और साक्षी में की हुई प्रतिज्ञा का भी पूरा पूरा ध्यान उन्हें अवश्य था। बस यही एक ऐसा जबरदस्त कारण था कि जिससे उन्होंने माता पिता की जिवित अवस्था में दीक्षित होने का नाम तक न लिया।

कुमार की अट्ठाईसवें वर्ष की आयु में, उनके माता पिता का देहान्त होगया। तदुपरान्त अपने पूर्व निश्चय के अनुसार, उन्तीसवें वर्ष में जगत् के कल्याण के हित आपने भी दीक्षा-व्रत धारण कर लिया। उस समय अटूट दान दिया गया और भांति भांति के उत्सव मनाये गये। दीक्षित बनकर भगवान् अपने उच्चतम चारित्र द्वारा अपने शेष घनघाती कर्मों का क्षय करने, संसार के भूले-भटके, अबोध तथा मूक प्राणियों का उद्धार करने और संसार को अहिंसा का अजर-अमर सन्देश देने के हेतु, यत्र-तत्र विचरण करने लगे।

भगवान संसार की एक महान दिव्य शक्ति थे। और थे वे एक अलौकिक और अपने समय के परमोत्कृष्ट महापुरुष। महापुरुषों की जीवनी का पल-पल युग-युगान्तरों की सत्साधनाओं से भरापूरा होता है; और वह संसार के बड़े से बड़े ऐश्वर्य की अतुल राशियों से भी मँहगा होता है। वे अपनी समूची शक्ति को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य को अपनी प्राणप्रिय वस्तु को अपनी सम्पूर्ण धनराशि को, अपने पुत्र कलत्र और सम्पूर्ण परिजनों को और स्वयं के प्राणों तक को परायों के हित में दी हुई धरोहर मात्र समझते हैं। उनके परोपकारों के पीछे

स्वार्थ की कोई गन्ध तक नहीं होती। संसार उन्हे भला कहे अथवा बुरा; लौकिक दृष्टि में वे सफल समझे जावें, या असफल, इसकी भी उन्हें कोई पर्वाह नहीं होती वे तो सदा सर्वदा, धीरता और गम्भीरता के साथ, निर्धारित मार्ग पर चलते ही रहते हैं। उन्हें मोह, माया, ममता या संसार का कोई भी अन्य बड़े से बड़ा प्रलोभन तक कभी खरीद नहीं सकता। किसी भी प्रकार का कायिक, वाचिक, मानसिक परीषह भी उन्हे अपने पथ से कभी इधर से उधर कर नहीं सकता। भगवान का पावन जन्म भी, इसी पथ पर चल कर, जगत् की आँच से तपे हुए जीवों का उद्धार करने और यहां की विषमताओं को नष्टप्राय करने के हेतु हुआ था। अस्तु।

भगवान के अलौकिक त्याग ने तत्कालीन जगत की शोचनीय परिस्थितियों के अनथक ऊबड़ खाबड़ मैदानों को समथर बनाया, मानसिक दासता के बन्धनों को तोड़ मरोड़ कर ठिकाने लगाया! जाति पांति के भेद भावों का भण्डा फोड़ दिया, यज्ञों में होने वाली पशु वध की वृद्धि को एक दम रोक दिया! शास्त्रों तथा धर्म के नाम पर होते रहने वाले विविध प्रकार में भ्रष्ट और जघन्य आचारों का का अन्त कर दिया। परम पावन प्रभु! उस यदि आपका पावन आगमन यहां न हुआ होता तो भारतीयता की डूबती हुई विचार नौका की लाज कौन रख पाता! कौन, यहां की कुरीतियों का खण्डन करता! और यहां के सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों की नींव प्रेम और सदाचार के स्थाई पाये पर कौन रख पाता!

हे दया के जीवित अवतार! हम अल्पज्ञ संसारी जन, आपकी सर्वज्ञता भरी महिमा का वर्णन करें भी तो कैसे? वास्तविक सुख को प्राप्त करने का एक-मात्र उपाय यह है कि 'सुख' के नाम से पुकारे जाने वाले संपूर्ण सांसारिक सुखों को मल मूत्र की भांति त्याग दिया जावे। भगवन! यह बात आपने अपने अमृत सने उपदेशों से जितनी उत्तमता पूर्वक बतलायी, उससे भी कहीं सैकड़ों गुना अधिक उसे आपने अपनी पल पल की करणी द्वारा बतलायी। आप एक प्रसिद्ध राज परिवार में पैदा हुए थे। फिर आपको कमी ही किस बात की थी? एक से एक उत्तम सांसारिक भोगों के पदार्थ आपके इशारों पर आपके इर्द गिर्द नाच रहे थे। फिर भी आपने, उन सबको अपनी भरी जवानी में तिनके की भांति ठुकरा दिया। राजमहलों को छोड़ा, अपनी चिर-संगिनी और प्रिय परिवार को छोड़ा, और वन की खाक छानते फिरे। कठिन साधनाओं के द्वारा आपने अपनी वासनाओं की जड़ों को मट्ठा पिला दिया। आपने बतला दिया कि सत्य संकल्प की संजीवनी शक्ति के आगे, वहां के मोह और ममता बड़े से बड़े सुख का प्रलोभन या दुखों की भयंकरता आदि कोई विघ्न कभी ठहर नहीं सकते। करुणा वरुणालय! अनेकों प्रकार के कष्टों को हँसते हँसते सह कर आपने, न केवल अपने ही लिये वरन् समस्त मानव-सन्तति के लिये भी अनन्त सुखों का दरवाजा निकाल के लिये सुगमता पूर्वक खोल दिया। आपका यह अनुभव त्याग, ऐसी सुख प्राप्ति धन्य है,

अभिनन्दनीय है। अभिमान की वस्तु है और उसके भी परे बड़े-बड़ों के लिये ईर्ष्या की एक पैंठ भरी वस्तु है।

हे संसार के महान् उपदेशक! आपकी शिक्षा, कितनी सरल और सुबोध है आपके उपदेशों की नींव कितनी सत्य पर लगी हुई है! वे कितने कल्याणकारी हैं। आपके विचार वाणी, और आँखों में, सभी मनुष्य समान है। गोरे, काले, पीले, और श्याम वर्ण सभी एक हैं। जाति-पांति के भेद भावों से कोई कभी ऊँच नीच नहीं हो पाता। अथवा न कोई किसी विशेष वंश या देश आदि में जन्म लेने के ही विशेष अधिकारों का पात्र हो सकता है। ऊँचा बनने के लिये तो, मनुष्य के कार्य ही ऊँचे होने चाहिए। हमारे जीवन के पल-पल में, सच्चाई, पवित्रता, दया, और अहिंसा तथा अस्तेय के भाव होना चाहिए। हमारी दया का दरवाजा तो, केवल सवर्ण अथवा सजातीय मनुष्यों ही के लिए नहीं, वरन् मनुष्य मात्र के लिए खुला होना चाहिए। नहीं! नहीं!! वह तो प्राणि-मात्र के लिए भी खुला रहना परम आवश्यक है। वेजवान, छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी जीव, हमारी दया और प्रेम के पूर्ण अधिकारी हैं। अपनी जिह्वा के क्षणिक स्वाद, या उदर-पूर्ति, या स्वार्थ, या मनोरंजन के लिए, निरपराध और मूक प्राणियों की हत्या करना तो, घोर-से-घोर पातक और निन्दा का काम है। वैसे ही, धर्म के नाम पर भी हिंसा करना, कलंक और कल्मष है। किसी को कभी मत सताओ। सबके तुम्हारी ही-सी जान है। इस सुन्दर और परम कल्याणकारी उपदेशामृत की चहुँ ओर वर्षा, आप ही ने तो की है।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्माचार्य

लेo श्री शान्तिलाल शेठ



जैनागम-गणिपिटक में तथा बौद्धागम-त्रिपिटक में अनेक मत-दर्शनों का नामोल्लेख पाया जाता है—जिनमें (१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) अज्ञानवाद और (४) विनयवाद मुख्य हैं। इन्हीं के उपभेद जैन दर्शन में ३६३ और बौद्ध दर्शन में—ब्रह्मजाल सुत्त में ६२ प्रचलित हैं।

भo महावीर तथा भo बुद्ध के अतिरिक्त निम्न पांच मत-प्रवर्तक उस समय अत्यन्त प्रसिद्ध थे:—

(१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप)
(२) पकुध कच्चायन (ककुद कात्यायन)
(३) अजित केस कम्बली (अजित केश कंबली)
(४) मक्खलि गोसाल (मस्करिन् गोशाल)
(५) संजय बेलट्ठिपुत्त

इन धर्माचार्यों के नामोल्लेख के साथ बौद्ध ग्रन्थों में इनका मत निरूपण किया गया है और जैन ग्रन्थ सूत्र कृताङ्ग में भी नामोल्लेख के बिना ही इन मत प्रवर्तकों के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। उसी का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है:—

पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप) "अक्रियावाद" के प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:

"करते कराते, छेदन करते, छेदन कराते, पकाते, पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान कराते, चलते—चलाते प्राण मारते, बिना दिये-लेते, सेंध काटते, गाँव लूटते चोरी करते, बटमारी करते, परस्त्री गमन करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता। छूरे से तेज चक्र द्वारा जो इस पृथिवी के प्राणियों का (कोई) एक मांस का खलियान, एक मांस का पुँज बनादें; तो इसके कारण उसको पाप नहीं, पाप का आगम नहीं होगा। यदि घात करते कराते, काटते-कटाते, पकाते पकवाते, गंगा के दक्षिण तीर पर भी जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। दान देते दिलाते, यज्ञ करते, यज्ञ कराते यदि गंगा के उत्तर तीर भी जाये, जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्य का आगम नहीं होगा। दान दम संयम से, सत्य बोलने से न पुण्य है न पुण्य का आगम है।"

पुरण कस्सप की मृत्यु पूर्व ५७२ में हुई थी ऐसा कहा जाता है; अर्थात् वह भी बुद्ध और महावीर का समकालीन ही था सामञ्ञफल (दिग्घ निकाय) सूत्त में उनके "वाद" को "अक्रियावाद" कहा गया है। सूत्रकृताङ्ग में ऐसे ही वाद का वर्णन पाया जाता है। टीकाकार उसे *'अकारक वाद' कहते हैं। उपनिषद् में वर्णित 'आत्मा अपने मूल स्वभाव में निष्क्रिय है और वह पाप पुण्य से परे है' इस प्रकार के वाद को अंतिम सीमा तक लिया जाय तो उक्त वाद फलित होता है। बौद्ध—साहित्य में पूरण कस्सप को अचेलक अर्थात् नग्न तपस्वी तथा संघ-स्वामी गणाचार्य ज्ञानी यशस्वी, तीर्थंकर (मतस्थापक) वर्णित किया गया है।

पकुध कच्चायन (ककुद कात्यायन)

शाश्वतवाद का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:—

" यह जगत् सात काय-पदार्थ का बना हुआ है। यह सप्त काय-अकृत, अनिर्मित, अवध्य-कूटस्थ, और स्तम्भवत् अचल हैं। यह चल नहीं होते, विकार

* कुव्वं च कारयं चेव सव्वं कुव्वं न विज्जई। एवं अकारओ अप्पा एवं ते उ पगब्भिया। सूत्र० १-१-१-१३.

को प्राप्त नहीं होते, न एक दूसरे को हानि पहुंचाते हैं, न एक दूसरे के लिये पर्या हैं। यह सप्त काय इस प्रकार हैं। (१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजःका (४) वायु काय (५) सुख (६) दुःख (७) जीवन। इस सप्तकाय को मार वाला घात कराने वाला, सुनने वाला, सुनाने वाला, जानने वाला, जतलाने वाल कोई भी नहीं है। जो तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का शीश भी काट डाले तो भी को किसी को प्राण से नहीं मारता। सातों कायों से अलग खाली जगह में व शस्त्र गिरता है"

पकुद कच्चायन भी भ० महावीर और बुद्ध का समकालीन शिष्यवृन्द नायक देशभर में प्रसिद्ध तीर्थ-मत प्रवर्तक था। प्रश्नोपनिषद में कवन्धी कात्याय का उल्लेख पाया जाता है। कवन्धी और ककुदी ये दोनों शब्द एक ही शारीरि पंगुता के वाचक हैं। आचार्य बुद्ध घोष इनके विषय में कहते हैं कि पकुद कच्च यन ठंडा पानी पीता नहीं था अपितु उष्ण जल ही पीता था। उनके अनुयायी तपस्वी जीवन व्यतीत करते थे। उनके वाद को 'शाश्वतवाद या अनैक्यवाद' का गया है। सूत्रकृताङ्ग (१-१-१-१५-१६) में वर्णित वाद को डा. वेणीमाधव बरुआ पकुद कच्चायन के वाद बतलाया है यद्यपि उसमें आत्मा के साथ छह पदार्थ मान वाले वादी का वर्णन है। 'आत्मा को कोई मार नहीं सकता, न छेद सकता है' उपनिषद् तथा गीता में वर्णित वाद को विशेष स्पष्ट किया जाय तो कात्यायन वाद फलित हो जाता है।

Pre buddhistic Indian Philosophy P. P. 281-286
कौशी० ३—८; कठ० १—२. १८—२१, गीता—

अजित केस कंबल

उच्छेदवाद या भूतवाद का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:—

"न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप का अच्छा बुरा फल होत है, न यह लोक है न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज (औपपाति देव) सत्त्व हैं, और न इसलोक में वैसे ज्ञानी और समर्थ श्रमण या ब्राह्मण हैं ज इसलोक और परलोक को स्वयं जानकर और साक्षात्कर (कुछ) कहेंगे। मनुष

सन्ति पंच महब्भूया इहमेगेसिमाहिया।
आयछट्ठा पुणो आहु आया लोगे य सासए सूत्र १-१-१-१५
दुहओ न विणस्सन्ति नोय उपज्जए असं।
सव्वे वि सव्वहा भावा नियत्ती भावमागया॥ सू० १-१-१-१६

मनुष्य मरे हुओं को खाट पर रख कर ले जाते हैं. उसकी निन्दा, प्रशंसा करते हैं। हड्डियां कबूतर की तरह उजली हो (बिखर) जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उसका कोई फल नहीं होता। आस्तिक-वाद (आत्मा है) झूठा है। मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं। मरने के बाद कोई नहीं रहता।"

+ उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियन्ते जीवे एस आयापज्जवे कसिणे एस जीवे जीवइ, एस मए नो जीवइ सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठम्मि यनो धरइ। एयं ते तं जीवियं भवइ, आदहणाए परेहिं निज्जइ, अगणिझामिए सरीरे कवोयवण्णाणि अट्ठीणि भवन्ति, आसन्दी पञ्चमा पुरिसा गामं पच्चागच्छन्ति एवं असन्ते असंविज्जमाणे। जेसिं तं असन्ते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवइ-अन्नो भवइ जीवो अन्नं सरीरं "।

अजित केसकंबल भी भ० महावीर तथा बुद्ध का समकालीन, शिष्यवृन्द का नायक देश भर में प्रसिद्ध तीर्थ-मत प्रवर्तक था। अजितकेस के बने हुए कंबल को ही ओढ़ता था, इसलिए वह केसकंबली के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। उनके वाद को उच्छेदवाद जड़वाद कहा गया है। उनका यह सिद्धान्तवाद नास्तिक, चार्वाक या लोकायतिक मत से मिलता जुलता है। ऐसा वाद प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में अस्तित्व में आता ही है। इस वाद को भूतवाद भी कहा जा सकता है क्योंकि जगत् के आदि मूल कारण जड़भूत तथा उनकी जड़शक्तियों के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी न स्वीकारना यह भूतवाद का मुख्य लक्षण होता है। कौटिल्य ने तो अपने अर्थशास्त्र में इस भूतवाद लोकायतदर्शन को एक स्वतंत्र दर्शन की भाँति स्थान दिया है।

मंखली गोसाल

" संसार शुद्धिवाद या नियतिवाद " का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है: —

सत्वों के क्लेश का हेतु नहीं है-प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के ही सत्व क्लेश पाते हैं। सत्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है कोई प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्व शुद्ध होते हैं। हम कुछ नहीं कर सकते हैं, (कोई) पुरुष भी नहीं कर सकता है. बल नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वश में नहीं हैं, निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से छह जातियों (में उत्पन्न

+ पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जेय पण्डिया। सन्ति पिच्चा न ते सन्ति नत्थि सत्तोववाइया।
नत्थि पुण्णेवपावे वा नत्थि लोए इओवरे। सरीरस्स विणासेणं विणासो होइ देहिणो॥
सूत्र० १-१-१-११-१२

हो) सुख और दुःख भोगते हैं। ८४ लाख महाकल्प के फेरे में जाने के पश्चात मूर्ख या पण्डित जानकर और अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है—शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्क कर्म को परिपक्क करूँगा, परिपक्क कर्म को भोगकर अन्त करूंगा। सुख दुःख द्रोण (नाप) से तुले हुए हैं, संसार में घटना, बढ़ना उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे।"

मंखलि गोसाल भ. महावीर तथा बुद्ध के समकालीन और प्रसिद्ध आजीविक मत का प्रवर्तक संघस्वामी, देश भर में प्रसिद्ध मत प्रवर्तक था। कहते हैं कि वह गोशाला में जन्मा था इसलिए गोशाला और मस्कर अर्थात् दण्ड धारण करता था। इसलिए मस्करी गोसाल नाम से प्रसिद्ध हुआ था। भ० महावीर की छद्मस्थ अवस्था में वह छह वर्ष जैसे दीर्घ समय तक उनके साथ रहा था और यही कारण है कि मस्करी गोसाल के जीवन और सिद्धान्त के विषय में भगवती-सूत्र, उपासक-दशाङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि जैन सूत्र साहित्य में संक्षिप्त तथा विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

बौद्ध ग्रन्थों में उनके सिद्धान्त को संसार शुद्धिवाद और जैन सूत्रों में नियतिवाद कहा गया है। उनके सिद्धान्त में बल, वीर्य, पुरुषाकार या पराक्रम को स्थान नहीं है क्योंकि उनके मतानुसार प्रत्येक पदार्थ नियति भावाश्रित है।*

आजीविक संप्रदाय उस समय जैन और बौद्ध जैसा ही प्रसिद्ध और मानार्ह संप्रदाय माना जाता था। उसका यही कारण है कि अशोक राजा के प्रसिद्ध शिलालेखों में आजीविक संप्रदाय का मानपूर्ण उल्लेख किया गया है और अशोक के पौत्र दशरथ ने भी उनके लिये रहने को गुफाएँ भी भेंट की थी। ऐसा वर्णन पाया जाता है। आजीविक मतानुयायी के विषय में कहा जाता है कि वे अचेलक तपस्वी थे और प्रत्येक वस्तु में जीवत्व होने के कारण किसी को विघ्न बाधा न पहुँचे इस तरह चलन व्यवहार में वे मानते थे। सामान्यतः निर्दोष भिक्षाचरी से अपना जीवन यापन करते थे। मज्झिम-निकाय में कहा गया है कि "आजीविक लोग दूसरों की आज्ञा मानकर स्वमान भंग होने नहीं देते थे और वे उद्देशिक और

* न तं सयकडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं सेहियं वा असेहियं॥ १-१-२-१
सयंकडं न अन्नेहिं वेदयन्ति पुढो जिया।
संगइयं तं तहा तेसिं इहमेगेसि माहियं॥ १-१-२-२
एवमेयाणि जम्पन्ता बाला पण्डियमाणिणो।
नियया निययं सन्तं अयाणन्ता अबुद्धिया १-१-२-३
— सूत्र कृतांग १-१-२

नैमित्तिक भिक्षा को स्वीकार करते नहीं थे, इतना ही नहीं जब लोग जीमने बैठे हों तब अथवा दुष्काल के समय एकत्रित अन्न में से भी भिक्षा मांगते नहीं थे और मछली, मांस आदि मादक पदार्थ भी खाते नहीं थे।* जैनधर्म विषयक कई बातों में भी आजीविक मत का साम्य है:—

१ निर्जीव जड़पदार्थों में भी जीवत्व की कल्पना।

२ प्राणीमात्र के शरीर के रंग के अनुसार भूरे पीले आदि छः लेश्या के प्रकार

३ संभवतः हो, संभवतः न हो, कदाच हो, कदाच न भी हो ऐसा तीन राशि वाला वाक्य प्रयोग। +मंखली गोसाल के जीवन का साम्प्रदायिक मोह के कारण कुछ विचित्र चरित्र चित्रण किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। आजीविक मत की प्रसिद्धि तथा उनके प्रभाव को देखते गोसाल प्रभावशाली व्यक्ति होंगे यह निःसंदेह है।

संजय वेलट्ठिपुत्त

अनिश्चितवाद या अज्ञानवाद का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है।

"यदि आप पूछें, क्या परलोक है? और यदि मैं समझूं कि परलोक है, तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है'। परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है। अयोनिज (औपपातिक) प्राणी है। अयो—निज प्राणी नहीं है, है भी और नही भी। न है और न नहीं है। अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं।"

संजय भ० महावीर और बुद्ध के समकालीन गणस्वामी थे। वे परिव्राजक थे और तीर्थ-मत प्रवर्तक के तौर पर प्रसिद्ध थे। भ० बुद्ध के मुख्य शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलायन सर्व प्रथम संजय वेलट्ठिपुत्त के अनुयायी थे ऐसा कहा जाता है। संजय के उपदेश का झुकाव विक्षिप्तवाद या अज्ञानवाद की ओर था और इसी कारण बौद्धागमों में संजय के वाद को अनिश्चिततावाद और जैनागमों में अज्ञान-वाद कहा गया है।

ऐसा अज्ञानवाद मनुष्यों को इन्द्रीयातीत वस्तुओं की व्यर्थ चर्चाओं में से निकालकर मनुष्य जीवन से संबंधित बातों में तन्मय करने के लिये उपयोगी सिद्ध

*विशेष जानकारी के लिए देखिए—

[1] Prebuddhistic Indian philosophy P. 297-318

[+] मंखली गोसाल लो आजीविक मत

सूत्रकृताङ्ग सूत्र– १-६-२७; १-१२-१-२; २-२-७-८ में इस अज्ञानवाद का वर्णन पाया जाता है।

हो सकता है। तो सबल लोगों के हाथ में एक उपयोगी साधन की पूर्ति कर सके ऐसा यह वाद निर्बल और सुखैषी लोगों के हाथ में जाकर एक विनाशक साधन बन सकता है। यही कारण है कि संजय का अज्ञानवाद और अनिश्चिततावाद जो एक ओर इन्द्रियातीत वस्तुओं की व्यर्थ चिन्ताओं से मुक्त करने वाला समझा जाता था, वही मानव समाज की तत्व जिज्ञासा और आचार प्रणालिका में बाधक हो सकता था। इस अनिश्चितता या अज्ञानता को दूर करने के लिये भ० महावीर ने उसमें 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त की विशिष्ट प्रणालिका द्वारा संशोधन किया और संशयवाद या अज्ञानवाद को निर्मूल किया।



महाकवि पंप

विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, अध्यक्ष, भारतीय ज्ञानपीठ
[कर्णाटक शाला] मूडबिद्री



महाकवि पंप के पूर्वज प्रथमतः वैदिक ब्राह्मण थे। इनमें इसके प्रपितामह का पिता माधव सोमयाजि बड़े-बड़े यज्ञों के द्वारा कर्णाटक में पर्याप्त ख्याति पा चुका था। पंप को सोमयाजि की महिमा पर गौरव था अवश्य, पर साथ ही साथ उसके हिंसामय यज्ञों से घृणा भी थी। माधव सोमयाजि के वंशोत्पन्न अभिरामदेव ही पंप का श्रद्धेय पिता था। यह भी पहले वेदानुयायी था परन्तु पीछे जैन धर्मावलंबी हो गया था। कवितागुणार्णव पंप को अपनी ब्राह्मण जाति पर अवश्य गर्व था, पर साथ ही साथ इस उत्तम जाति में जन्म लेने वालों के पालने योग्य, समीचीन धर्म जीवदयामय एकमात्र पवित्र जैन धर्म ही हो सकता है, यह इसकी सच्ची भावना थी। पिता अभिरामदेव ने जैन धर्म का आश्रय लेकर अपनी श्रेष्ठ जाति को श्रेष्ठतर बनाया, यों अपने पिता पर पंप को बड़ा अभिमान था।

परंपरागत वैदिक संस्कृति नवीनागत जैन संस्कृति के साथ पंप के जीवन में इस प्रकार मिल गई, जिस प्रकार दूध में पानी मिल जाता है। इन संस्कृतियों में एक ने दूसरी को सहसा नहीं खदेड़ा। पंप उदार था। इसमें धर्मान्धता नहीं थी। कवि के वंशज वेंगि-मंडल के वेंगिपलु नामक अग्रहार के निवासी थे। वेंगि-मंडल कृष्णा-गोदावरी नदियों के बीच में पूर्व समुद्र तक फैला हुआ एक विशाल देश था। यद्यपि यह आंध्र था, फिर भी हमारे साहित्य में ख्याति-प्राप्त अनेक कन्नड़ घराने पहले यहां पर रहे हैं। पंप कहां पर पैदा हुआ, बढ़ा और पढ़ा यह कहना कठिन है। हां पीछे यह महाकवि के रूप में वेंगि-मंडल के पश्चिम में कन्नड़ सीमा के निकट अवस्थित, लेंबुलपाटक [वर्तमान नैजाम राज्य के करीमनगर जिलान्तर्गत लेमुलवाड] में

राज्य करने वाले, चालुक्यवंशी द्वितीय अरिकेसरी के दरबार में पहुंचा। इसी दरबार में रह कर महाकवि ने अपने अमर काव्य की रचना की थी। साथ ही साथ गुणग्राही, प्रतापी राजा अरिकेसरी से कृति के योग्य पुरस्कार भी पाया था।

यों तो वेंगि-मण्डल से ही पंप का घनिष्ठ संबंध था। फिर भी वहां से सुदूरवर्ती बनवासि में इसका हृदय मात्र रहा, पंप ने अपनी कृति 'विक्रमार्जुन-विजय' में यहां का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। यह भी अनेक देशों में पर्यटन कर बनवासि में आये हुए अर्जुन के मुख से ही कराया है। विद्वानों की राय है कि पंप बनवासि प्रांत के सघन वनों से, सुगंधित मनोमोहक विविध जाति के पुष्पों से एवं यहां की शीतल सुगंधित हवा से अच्छी तरह परिचित ही नहीं था, इन चीजों को दीर्घ काल तक वहां पर भोग भी चुका था। इसीलिये लेवुलपाठक की सड़ी गर्मी में समय बिताने वाले महाकवि पंप को वे पूर्व स्मृतियाँ सहसा वहां पर जाग उठीं थीं। पंप इतने से ही संतुष्ट न हो कर समूचे वनवासि को नन्दन-वन मान-कर कहता है कि 'मनुष्य को बनवास में ही जन्म ले, रसिक बन कर जीना चाहिये अगर अपने भाग्य में इतना नहीं बदा है तो कोयल या भ्रमर बन कर ही सही, पर वहां पर घूमे अवश्य'×।

कविकुलगुरु, धर्मैक प्राण पंप को वनवासि जैसा पवित्र देश अधिक प्रिय लगना स्वाभाविक ही है। बनवासि वह पवित्र क्षेत्र है जहां पर प्रातःस्मरणीय आचार्यप्रवर भगवान् भूतबलि ने पवित्र जैनागम को ग्रंथबद्ध किया था। वास्तव में यह पुण्यक्षेत्र पंप के लिये ही नहीं, समूची जैन जनता के लिये पूजनीय है। बहुत कुछ संभव है कि महा कवि का विद्याध्ययन भी इसी आदरणीय क्षेत्र में पुनीत जैनाचार्यों के निकट संपन्न हुआ हो। प्रायः ई० पूर्व से ही यहां पर जैन धर्म की सत्ता मौजूद थी। कदंबों के जमाने में तो यहां पर जैन धर्म सुचारु रूप से चारों ओर फैला रहा था। इस बात को अधिकांश विद्वान् सहर्ष मानते हैं कि कदंब वंश में दीर्घ काल तक जैन धर्म ही राजधर्म रहा। उपर्युक्त बनवासि कदंबों की राजधानी थी। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कर्णाटक कवि-सार्व भौम पंप का विद्याध्ययन बनवासि में संपन्न हुआ मानना अयुक्तिसंगत नहीं है।

राजा अरिकेशरी ने बनवासि से सम्मानपूर्वक बुलवाकर, वेंगिमंडल की पश्चिम सीमा पर पंप को सादर रखा। पंप के गुणातिशय ने अरिकेशरी के मन को एक दम हर लिया था। राजा ने महाकवि को प्रेम से बुलवाकर उससे 'विक्रमार्जुन-विजय' की रचना कराई। इसके पुरस्कार में अरिकेसरी ने पंप को यथेष्ट वस्त्र, आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुओं को ही नहीं दिया, बल्कि शासनपूर्वक धर्मपुर नामक एक मनोहर अग्रहार भी प्रदान किया। राजा को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसने गुणार्णव पंप को 'कवितागुणार्णव' नामक उपाधि-द्वारा विशेष सम्मानित किया था।

× 'विक्रमार्जुन विजय' आश्वास ४, पद्य २९-३१

इधर पंपभी पुराण-प्रसिद्ध उदात्त सद्गुणों को अरिकेसरी में पाकर प्रसन्न था। कवि की दृष्टि में महाभारत का वीर अर्जुन और राजा अरिकेसरी ये दोनों एक ही जँचें। इसीलिये अरिकेशरी और अर्जुन इन दोनों को अभिन्न मान कर भारत की कथा में अरिकेशरी के चरित्र को मिला कर कहने के उद्देश से ही पंप ने विक्रमार्जुन विजय, की रचनाकर डाली। इसके द्वारा महाकवि ने वस्तुतः अपने स्वामी की निर्मल कीर्ति को सदा के लिये अमर बना दिया। कविताुगुणार्णव केवल कवि ही नहीं था,वीर भी था। अपने स्वामी के साथ अनेक भयंकर लड़ाइयों में पंप वीरता से लड़ा भी है। पंप स्वयं वीर था, इस बात के लिये वीररस प्रधान इसका काव्य ही उज्ज्वल निदर्शन है। इस काव्य में वीररस की विमल गंगा सर्वत्र बह चली है।

पंप स्वतंत्र प्रकृति का स्वाभिमानी कवि था। शासकों में शौर्य औदार्यादि गुणों के साथ—साथ मद अविवेकादि दुर्गुणों का होना भी स्वाभाविक है। इसी को सोचकर पंप ने स्वयं कहा है " कि राजाओं को प्रसन्न रखकर उनके आश्रय में रहना कष्टसाध्य है। फिर भी मालूम होता है कि अभिमानमूर्ति महाकवि के समक्ष ऐसी कोई भी विकट परिस्थिति उपस्थित नहीं हुई थी। इसका एक मात्र कारण आपस का निष्कपट प्रेम ही रहा होगा। अरिकेसरी और पंप में स्वामि-भृत्य का व्यवहार कभी नहीं रहा होगा। दोनों एक दूसरे को गौरव एवं स्नेह से ही देखते होंगे।

अरिकेसरी के सहवास में रहकर प्रायः पंप ने यह जान लिया था कि स्वामि—भृत्य का निष्कपट स्नेह अबाधरूप से कितनी दूर तक जा सकता है। इसके लिये अपने अमर काव्य 'विक्रमार्जुन विजय में पंप के द्वारा मार्मिक ढंग से चित्रित दुर्योधन तथा कर्ण का निश्चल असीम स्नेह ही उज्ज्वल दृष्टान्त है अरिकेसरी के परिचय के लिये महाकवि पंप ने अपने काव्य में बहुत–सा स्थान दे रखा है। इसमें राजा का वंशपरिचय साहस एवं उपाधियाँ बड़े सुन्दर ढंग से श्लाघनीयरूप में विस्तार से वर्णित हैं। इतिहासज्ञों को इन वर्णनों से पर्याप्त सहायता मिली है। पंप ने अपने को कदली गर्भवत श्याम रंगवाला, मृदु और कुटिल केशवाला, कमल सदृश गोलमुख वाला, मृदु एवं मध्यम देहवाला, हित–मित–मृदु वचन वाला, ललित–मधुर सुन्दर वेषवाला बतलाया है। * वेष भूषण आदि के संबंध में पंप की विशेष आसक्ति थी। इसने अन्यत्र अपने को 'ललितालंकरण' लिखा भी है। किस ऋतु में किस प्रकार की पोशाक उपादेय है, इस बात को पंप अच्छी तरह जानता था। काव्यरसिक एक विद्वान का मत है कि महाकवि ने अपने को 'घनिताकटाक्ष

" विक्रमार्जुन विजय', आश्वास १४ पद्य ४६—५०

* कदली गर्भश्यामं मृदुकुटिलशिरोरुहं सरोरुह वदनम् ॥
मृदु मध्यमतनु हित–मित । मृदु वचनं ललित मधुर सुंदर वेषम् ॥
(आदि पुराण आश्वा. १, पद्य २६)

कुवलयवनचंद्र' ही नहीं बतलाया है बल्कि केरल, मलय, आंध्र आदि देशवासी सुंदरियों से उसका जो प्रेम था उसे भी इसने निःसंकोच व्यक्त किया है। × कहने का तात्पर्य यह है कि पंप सिर्फ एक महाकवि ही नहीं था रसिक भोगी भी था। स्त्री रूपके समान चित्ताकर्षक विविध जाति के पुष्पों का भी पंप प्रेमी था। उसके लिये पुराण का ११ वां आश्वास विशेष रूप से दृष्टव्य है। यों तो पंप को सभी जाति के पुष्प प्रिय थे। फिरभी बेला पर वह विशेष मुग्ध था।

पंप ने अपने आदि पुराण की रचना शा० श० ८६३ ई० सन् ९४१) के प्लव संवत्सर में की थी × इसने उक्त आदि पुराण में अपने को दुंदुभी संवत्सरोद्भव प्रकट किया है दुंदुभि माने ३९ वर्ष पहले ई० सन् ९०२ होता है यह कविता-गुणार्णवका जन्म संवत्सर है। मालूम होता है कि आदि पुराण के रचना काल में पंप की अवस्था ३९ की थी। यह इसके पूर्व ही अरिकेशरी के आश्रय में आचुका था। इस बात को कवि की कवितागुणार्णव उपाधि ही बतला रही है। इसके थोड़े ही समय के बाद पंप ने विक्रमार्जुन-विजय' की रचना की थी। अरिकेसरी चाहता था कि यह ग्रंथ एक साल में समाप्त हो। कविकुलगुरु महाकवि पंप के लिये इतना काल भी अधिक था। इसने इस महाकाव्य को सिर्फ ६ माह में ही खतम कर डाला। आदि पुराण की रचना के लिये इसे केवल ३ माह ही लगे थे।

पंप के दो ग्रंथों में से एक लौकिक और दूसरा आगम या धार्मिक है। लौकिक ग्रंथ विक्रमार्जुन विजय का × आधार व्यास का महाभारत और आदि पुराण का आधार आचार्य जिनसेन का संस्कृत आदि-पुराण है। ऊपर मैं कह चुका हूँ कि विक्रमार्जुन विजयसामन्त अरिकेसरी को लक्ष्य करके ही लिखा गया था। अरिकेसरी वैदिक मतानुयायी था। मालूम होता है कि इसीलिये जैन मतानुयायी होकर भी उसने व्यास के महाभारत को ही विक्रमार्जुन विजय का आधार माना। फिर भी कवि ने द्रोपदी को पंचपत्नी न मान कर जैन मान्यतानुसार सिर्फ अर्जुन की ही

× पंप, २४ ६।

आदि पुराण आश्वास १६ पद्य ७६-७७.

दुंदुभि गंभीर निनद । दुंदुभि संवत्सरोद्भव प्रकटयशो ॥
दुंदुभि सिंहासन सुर । दुंदुभिपति चरण कमल भृङ्गं पंप ॥

(आदि पुराण आश्वास १. ३३.)

वत्सकुल तिलक नाभिनव । वत्सलनाभिमानमूर्ति सुकवियशोनि– ॥
र्मत्सरनमृतमयांत्रिश । रत्समयसुधांशु-विशद कीर्ति वितानं ॥

(आदि पुराण आश्वास १ पद्य ३०)

× विक्रमार्जुन विजय' आश्वास १४ पद्य ६०

× विक्रमार्जुन विजय' आश्वास १४ पद्य ६०

® श्वेताम्बर परम्परा भी द्रौपदी को अर्जुन की ही पत्नी स्वीकार करती है। (संपादक).

पत्नी मानी है। इससे आगे चल कर पंप को कुछ असुविधायें उपस्थित अवश्य हुई। फिर भी यह अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं हुआ। जैन समाज में महापुराण का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके रचयिता आचार्य जिनसेन सामान्य कवि नहीं थे। हिन्दी विश्व-कोष' के विद्वान् संपादक के मत से जिनसेन की कविता महाकवि कालिदास की कविता से किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। बाल्कि कहीं-कहीं उससे भी बढ़कर। आचार्य जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय (काव्य) संस्कृत साहित्यभाण्डार में एक बेजोड़ रत्न है। महापुराण की गंभीर वर्णन शैली से प्रसन्न हो कर ही पंप ने उसे अपने आदि पुराण का आधार माना होगा। पंप ने आदि पुराण से सिर्फ कथासार को ही नहीं लिया है; भाव एवं जहां-तहां वचन तथा पद्यों की छाया भी ग्रहण की है। कुछ भी हो पंप का आदिपुराण एक सर्व श्रेष्ठ काव्य है। पंप ने इसमें जैन धर्म का रहस्य सुंदर ढंग से समझाया है। जिनसेन के आदि पुराण का कथासार ही पंप के आदि पुराण का कथासार है। फिर भी कन्नड़ साहित्य की दृष्टि से यह एक अपूर्व रत्न है। पंप ने ललितांग-स्वयंप्रभा, श्रीमती-वज्रजंघ, नीलांजना का नृत्य आदि प्रकरणों को अपने शब्द और भाव में बहुत ही सजीव ढंग से वर्णित किया है।

महाकवि का पद मिलना आसान काम नहीं है। यह केवल प्रतिभा से ही प्राप्य वस्तु है। ऐसी प्रतिभा पुण्य से मिलती है। साथ ही साथ ऐसे प्रतिभाशाली कवि को पाने के लिये जनता का भी पुण्य चाहिये। इसमें संदेह नहीं है कि पंप के जन्म से सैकड़ों वर्ष पूर्व कन्नड़ भाषा में काव्यों की रचना हो चुकी थी। गद्य-पद्यों की रचनाओं के अतिरिक्त अनेक शासन कन्नड़ भाषा में ही अंकित किये गये थे राष्ट्रकूट चक्रवर्ती नृपतुंग के नाम से कविराजमार्ग नामक एक अलंकार ग्रंथ तथा गुणगांक उपाधिधारी पूर्व चालुक्य राजा के नाम से एक छन्द-शास्त्र की रचना भी की जा चुकी थी। फिर भी पंप के समय से कन्नड़ साहित्य में एक नया युग ही प्रारंभ हुआ। इसके बाद के जैन हो या जैनेतर सभी चंपू काव्यों का आदर्श पंप की ही कृतियां हैं। महाकवि रन्न, अभिनव पंप आदि बाद के कवियों में से अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी ने रस किसी ने रीति, इस प्रकार सभी ने कुछ न कुछ महाकवि पंप की कृतियों से उधार अवश्य लिया है। कवि मधुर के मतसे पंप कन्नड़ का आदि का कवि है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास अग्रकवि है, उसी प्रकार कन्नड़ साहित्य में महाकवि पंप अग्रकवि है। प्रायः दोनों के मनोधर्म में भी सदृशता पायी जाती है।

नृपतुंग तथा गुणगांक पंप से पहले के हैं अवश्य परन्तु उनके ग्रंथ काव्य नहीं हैं, लक्षण ग्रंथ हैं। यह बात ठीक है कि पंप से पहले ही काव्यों का जन्म हो चुका था पर खेद की बात है कि उन काव्यों में से एक भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए पंप को ही कन्नड का आदि कवि मानना बिलकुल युक्ति-संगत है।

× इसके लिये हिन्दी विश्वकोष' में जिनसेन शब्द द्रष्टव्य है।

आदि प्रकरणों का अपने शब्द और भाव में बहुत ही सजीव ढंग से वर्णन किया है।

लगभग ई० सन् ९०० से १२०० तक कन्नड़ में बहुत से चंपू ग्रंथ रचे गये थे। इन सबों का आदर्श पंप के चंपू ही हैं। इसीलिये बाद के रन्न, दुर्गसिंह, नयसेन, नागवर्म, अग्गल, जन्न और कमल भव आदि प्रायः सभी कन्नड़ कवियों ने अपनी रचनाओं में महाकवि पंप को बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। बल्कि नागचन्द्र तो पंप पर इतना मुग्ध हो गया था कि उसने अपना नाम ही अभिनव पंप रख लिया था। विद्वानों की राय से उक्त चंपू युग पंप का युग है। ख्याति-प्राप्त अधिकांश कन्नड़ कवि इसी युग में पैदा हुए थे। इस दृष्टि से यह युग वस्तुतः कन्नड़ साहित्य का सुवर्ण-युग है। जैनेतर समाज में पंप की ख्याति विक्रमार्जुन-विजय से फैली होगी। महाभारत का अर्जुन ही इसका नायक है। आश्रयदाता अरिकेसरी के गुणों से मुग्ध होकर अर्जुन के गुणों के साथ अरिकेसरी के गुणों की तुलना करने के लिये ही विक्रमार्जुन विजय का शुभ जन्म हुआ। पंप अरिकेसरी के दरबार में नहीं आता तो प्रायः विक्रमार्जुन विजय का जन्म ही नहीं होता। साथ ही साथ कर्णाटकवासी पंप के इस अमर काव्य से सदा के लिये वंचित रह जाते।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि विक्रमार्जुन विजय के कथा संविधान में कवितागुणार्णव पंप ने कुछ परिवर्तन किया है। मगर यह परिवर्तन कोई भारी परिवर्तन नहीं है। जैसे पांचाली को पंचपत्नी नहीं मानना, कृष्ण को प्राधान्य नहीं देना आदि। इसका हेतु जैन दृष्टि ही होनी चाहिये। कृष्ण महा बुद्धिशाली थे अवश्य, फिर भी जैन दृष्टि से वह पूज्य नहीं है। जैन धर्म की कथानुसार वह अभी मुक्त नहीं हुए है। हां, भविष्य में होने वाले २४ तीर्थङ्करों में वह अन्यतम हैं, साथ ही साथ कृष्ण को प्रधानता देने से नायक अर्जुन का प्राशस्त्य घट जाता है।

महाकवि पंप को निम्न लिखित उपाधियां प्राप्त थीं (१) कवितागुणार्णव (२) सुकवि जन मनोमान सोत्तंसहंस (३) संसारसारोदय तथा (४) सरस्वती मणिहार। इसका काव्य सुकविजन श्लाघ्य होने से यह 'सुकविजनमनोमानसोत्तंसहंस, इसकी कविता समुद्र की तरह नित्य नूतन एवं गंभीर होने से 'कवितागुणार्णव, इसने अपने काव्य में संसारसार स्वरूप धर्म का वर्णन किया है इसलिये "संसारसारोदय" इसका वाग्विलास सरस्वती के अलंकार प्रायः होने "सरस्वती मणिहार" और आदि पुराण की रचना से "पुराणकवि" कहलाया। इन उपाधियों में से 'कवितागुणार्णव' ही पंप को अधिक प्रिय थी। उपर्युक्त पांच उपाधियों में से 'कवितागुणार्णव' विक्रमार्जुन में एवं सुकविजनमनोमानसोत्तंसहंस' और 'संसारसारोदय' ये दोनों आदि पुराण में प्रायः प्रत्येक आश्वास के अन्त में प्रयुक्त हैं। × स्व० वी० वेंकटनारायणप्प एम० ए० का कहना है कि आज तक के उपलब्ध कन्नड़ काव्यों में भाषा शैली, वस्तु रचना, कथानिरूपण तथा वर्णनचातुर्य में पंप के काव्य ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। × हां, पंप

× आदिपुराण का 'पंप कविचरित' पृष्ठ ४ ९

ने अपने आदि पुराण में प्रौढ़ संस्कृत शब्दों को प्रचुर परिमाण में लिया है, पर यह बात विक्रमार्जुनविजय में नहीं पाई जाती है। इसमें सामान्यतः व्यवहार में आने वाले ललित संस्कृत शब्द ही लिये गये हैं। बल्कि इस विक्रमार्जुनविजय में जहां तहां अन्यान्य प्रकरणों में अनेक अपूर्व कन्नड़ शब्द भी मिलते हैं। पंप के द्वारा अपने बहुमूल्य काव्यों में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को देख कर यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि पंप संस्कृत भाषा में भी महापण्डित था। कवि सार्वभौम पंप के काव्य सरल, ललित, मधुर ही नहीं हैं। किन्तु प्रौढ़ एवं गंभीर भी है। वस्तुतः इसके कविता सौंदर्य को पहिचानने के लिये अपने में असामान्य काव्य कला कौशल चाहिए। पंप के काव्य सिर्फ पण्डितों के लिये ही नहीं; सामान्य जनता भी इन काव्यों से यथेष्ट लाभ उठा सकती है। क्योंकि इसने अपने काव्यों में प्रायः रोज के व्यवहार में आने वाले शब्दों, रूढ़िगत वाक्यों एवं भावों को ही लिया है। एक बात और है कि अनुभवगम्य स्वाभाविक घटनाओं को सजीव चित्रित करना पंप के लिये बांयें हाथ का खेल था।

महाकवि पंप के प्रयोग वास्तव में शब्द शास्त्र के लक्ष्य हैं। इसीलिये वैय्याकरणी नागवर्म्मा (ई० सन् ११४५) काव्यावलोकन' तथा 'कर्णाटक भाषा भूषण में, केशीराज (ई० सन् १२६०) ने शब्दमणिदर्पण' में और भट्टा कलंकदेव (ई० सन् १६०४) ने 'शब्दानुशासन ' में पंप के प्रयोगों को (लक्षणरूप में) लिया है। यहां पर और एक बात उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह यह है कि कविकुलगुरु पंप के द्वारा विक्रमार्जुन विजय में जितने वृत्त अन्य किसी काव्य में किसी भी कवि के द्वारा प्रयुक्त नहीं है। × पंप के वर्णन, अलंकार रस और भाव के संबंध में भी दो शब्द कहदेना अप्रासंगिक नहीं होगा। खास कर सूर्योदय तथा सूर्यास्त का वर्णन, कुरु जांगण देश और उसकी राजधानी का वर्णन, हस्ति + 'विक्रमार्जुन विजय' का उपोद्घात, पृष्ठ ३५ नापुर का वर्णन, वनवासि का वर्णन, वसंतऋतु का वर्णन तथा कुमारोदय का वर्णन ये सब गंभीर तथा चित्ताकर्षक हैं। × मुख्यतः पंप की उपमाएँ भी नवीन, स्वाभाविक हृदयग्राही हैं।

पंप की कृतियों में श्लेष विरोधाभास आदि अर्थालंकार बहुत ही कम पाये जाते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास तो सर्वत्र ही पाया जाता है। जहां तहां यमक तथा मुक्तपद ग्रस्त भी दृष्टिगत होते हैं। भावोद्रेकोत्पादक पद प्रयोग में कवि शिरोमणि पंप अधिक प्रवीण है। इसके लिये निम्न लिखित प्रकरणों का वर्णन विशेष दर्शनीय हैं (१) द्रुपद तथा द्रोण का पूर्व स्नेह विचार संबंधी संवाद (२) राजसूययज्ञ के निमित्त सुसंपादित सभा पूजा विचार, (३) वनवास के समय द्रौपदि एवं भीम को धर्मराज पर उत्पन्न आक्रोश, (४) किरातार्जुनीय विचार (५) दुर्योधन की सभा में कृष्ण का दूतकार्य, (६) कर्ण के मरणोपरान्त दुर्योधन का प्रलाप, (७) कर्ण के

×'विक्रमार्जुन विजय' का उपोद्घात पृष्ठ ३७

× विक्रमार्जुन विजय' का उपोद्घात पृष्ठ ३८

संबंध में अश्वत्थामा तथा दुर्योधन के बीच का वादविवाद भीम के आगमन के बाद का विचार।*

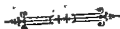
पंप के श्रद्धेय गुरुदेवेन्द्र मुनि राजा महाराजाओं के द्वारा सुसन्मानित एवं पूजित एक सुविख्यात, विद्वान् थे। श्रवणबेलगोल के नं० ४ के शासन में इनके विशिष्ट गुणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। + वास्तव में पंप जैसे कविकुलगुरु के गुरु सामान्य विद्वान् कैसे हो सकते हैं? कवितागुणार्णव का आश्रयदाता, चालुक्य-वंशी सुप्रसिद्ध द्वितीय अरिकेशरी था। इस अरिकेसरी का पिता राजा नरसिंह तथा माता जाकव्वे थी। इसकी राजधानी पुलिगेरे थी। धारवाड़ जिले का वर्तमान लक्ष्मेश्वर ही पूर्व का यह पुलिगेरे रहा। विक्रमार्जुन विजय के रचनाकाल में यहां पर चालुक्यों को हरा कर राष्ट्रकूट नरेश राज्य करते थे। राष्ट्रकूट नरेशोंने भी कन्नड़ साहित्य के लिये पर्याप्त सहायता की थी। नृपतुंग का कवि राजमार्ग नवमी शताब्दी की कृति है। पर राज्याधिकार राष्ट्र कूटों के हाथ में दीर्घ काल तक नहीं रहा। ३२ वर्षों के बाद उसे चालुक्यों ने फिर छीन लिया। इस बीच में चालुक्य वंश की

अजनि महिपचूडारत्नराराजिताङ्घ्रिः। विजितमकरकेतूद्दण्डदोर्दण्डगर्वः॥

कुनयनिकरभूध्रानीकदंभोलिदण्डः। सजयतु विबुधेन्द्रो भारतीभालपट्टः॥

कुछ शाखाओं ने देश के भिन्न भिन्न भागों में यथाशक्ति अपना अधिकार जमा लिया था। अपनी रचना में महाकवि पंप के द्वारा निर्दिष्ट राजवंशावली पुलिगेरे में शासन करने वाली चालुक्य शाखाकी ही है। इसकी पुष्टि शा० श० ८८१ [ई० सन् ९५९] में आचार्य सोमदेव के द्वारा रचित 'यशस्तिलकचंपू से भी होती है। × यह एक महत्वपूर्ण प्रौढ़ महाकाव्य है। इसके रचयिता आचार्य सोमदेव अनेक विषयों के ज्ञाता एक महा विद्वान थे। इनके द्वारा रचित 'नीतिवाक्यामृत' नामक एक उल्लेखनीय राजनीति विषयक ग्रन्थ भी है जोकि 'माणिकचंद' दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बंबई की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

संस्कृत साहित्य में आदि कवि वाल्मीकि को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान कन्नड़ साहित्य में आदि कवि पंप को प्राप्त है। काव्य रचना के लिये प्रतिभा ही उपादान कारण है फिर भी इसके लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास भी अत्यावश्यक होता है। इस अनिवार्य नियमानुसार महाकवि पंप ने आचार्य जिनसेन जैसे जैन कवियों के अतिरिक्त श्री हर्ष, कालिदास, भारवि, तथा बाण आदि सुप्रसिद्ध जैनेतर कवियों की कृतियों का भी अध्ययन किया था।



× यह महा काव्य 'बंबई' के निर्णयसागर 'प्रेस की ओर से प्रकाशित है।

जैन प्रतियों का आदि संकेत ।

श्री बनारसीदास जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०



स्त लिखित जैन प्रतियों के आरम्भ में चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर एक मंगलमय संकेत होता है जो देखने में देवनागरी अंक ८ या ९ जैसा होता है। इसका आकार पाई-रहित प से भी मिलता है जिसके ऊपर रेफ हो। कभी इसके नीचे हलन्त चिन्ह (्) भी लगा रहता है। इसके दाईं ओर बिन्दु और एक या दोनों तरफ दो दण्ड भी मिलते हैं। इस प्रकार यह विभिन्न रूपों में पाया जाता है।

इस संकेत को गुजराती में " भले " कहते हैं (१)। यह इसका पुराना नाम प्रतीत होता है क्योंकि ' प्राचीन गूर्जर काव्य संग्रह " में कई कविताएं ऐसी हैं, हिन्दी की बारह अखरी, बावन अखरी, अखरावट अथवा फारसी की सीहर्फी की भांति क्रमशः अपनी अपनी २ वर्णमाला के अक्षरों के साथ शुरू होते हैं उनमें सबसे पहले ' भले " शब्द आता है। (२)

१. इस प्रकार की एक रचना " सालि भद्द कक्क " है इसका पहला पद्य है

भलि भंजणु कम्मारिबल वीरनाहु पणमेवि ।

पउमु भणइ ककक्खरिण सालिभद्दगुण केइ ॥ १ ॥

इसके बाद क, का, ख, खा, आदि से पद्य शुरू होते हैं। ङ, ञ, और ण के लिये न' ही आया है। 'घ' के बाद स प स ह क्ष। अन्त के दो पद्य म और इ से शुरू होते हैं। २ 'दूहामातृका' दूसरी रचना है। इसका आदि पद्य है—

भले भलेविणु जगतगुरु पणमउं जगह पहाणु ।

जासु पसाइं मूढ जिउ पावइ निम्मलु नाणु ॥ १ ॥

नोट- इस पद्य में भलेविणु के स्थान में शायद भणेविणु होना चाहिये था।

आगे के पद्य ओं, न, म, सि, ध (ओं नमः सिद्धम् से) शुरू होते हैं तदुपरान्त अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, रि, री, लि, ली आदि से अन्त के पद्य क्ष और म से। (३) मातृ का "चउपइ" एक ओर रचना है जिसके पहले पद्य में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। दूसरा पद्य यह है—

भले भणेविणु भणीअइ भलउं तिहुयण माहिं सार एतलउं ।

जिन जिनवचनु जगह आधारु इतीउ मूकिउ अवरु असारु ॥ २ ॥

अगले तीन पद्य क्रमशः 'मीडउं' लीह, लीह से आरम्भ होते हैं। कदाचित् मीडउं से बिन्दु का तात्पर्य हो। लीह, लीह स्पष्टतया रेखा अर्थात् दण्ड हैं जो "भले

और 'विन्दु' के पीछे आते हैं। इनके बाद के पद्य ओं, न, म, सि, धंघइ (ओं नमः सिद्धम्) से शुरू होते हैं। फिर अ, आ, इ ई आदि क, ख, ग, घ, ङ आदि अक्षर आते हैं। अन्त के पद्यों के आदि में जं, क्षु, मं, मं, जा हैं।

(४) इसी प्रकार "सम्यक्त्व माई चउपइ" में पहला पद्य है—

भले भणउं माई धुरि जोइ, धम्मह मूलु जु समकित होइ।
समकतु विणु जो क्रिया करेइ, तातइ लोहि नीरु घालेइ ॥ १ ॥

इसके बाद ओं, न, म, सि, ध, अ, आ, इ, ई आदि से ह तक के साथ पद्य शुरू होते हैं। इनमें 'ळ' नहीं आया।

उपर्युक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि वर्णमाला के पहले ओं नमः सिद्धं और उससे भी पहले एक और शब्द बोला जाता था। (३) निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह सबसे पहला शब्द वर्णमाला का अक्षर था या कोई दूसरी प्रकार का संकेत। तथापि इसके स्थापना रूप संकेत होने की अधिक संभावना है। यह चिह्न जैन प्रतियों तथा शिला लेखों में लगभग आठ नौ-सौ बरस से मिलता है। गुप्त कालीन ताम्रशासनों के आदि में भी नागरी अङ्क ७ या ६ (६) जैसा चिह्न मिलता है जिसे कुछ विद्वान् सिद्धं और कुछ ओं का संक्षिप्त रूप मानते हैं।

जब इस जैन संकेत को ब्राह्मी अक्षरों से मिलायें तो इसकी आकृति उ या ओ से कुछ २ मिलती है जो परवर्ती विन्दु के साथ मिलकर ओं हो सकता है। परंतु ब्राह्मी में ओं लिखने की प्रथा नहीं थी जैसा कि अशोक की धर्म लिपियों से विदित होता है क्योंकि ये बिना किसी माङ्गलिक संकेत के आरम्भ होती हैं।

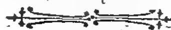
फिर इस संकेत की आकृति गुप्तकालीन ह अक्षर से मिलती है। इस अवस्था में यह (अ) हं का संक्षेप हो सकता है परंतु इसको ओं या अर्हं अथवा सिद्धं मानने में यह आपत्ति है कि इस संकेत के पश्चात ओं, अर्हं, सिद्धं आदि शब्द आये मिलते हैं।

जहां तक हमारा विचार है यह स्वस्तिक, नन्धावर्त आदि की भांति रेखामय माङ्गलिक चिह्न है। वैसे तो स्वस्तिक को ब्राह्मी लिपि के स्वस्ति का अक्षर-समूह (मोनोग्राम) बतलाया जाता है। (५) कदाचित् यह 'भद्रका' चिन्ह हो जैसा कि इसके 'भले' नाम से प्रतीत होता है।

1 Hiralal Rasikdas Kapadia: Descriptive Catalogue of the Government ollections of manuscripts deposited at the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona Vol. XVII part II (a). 1936 Appendex II symbols 1-3. Notes p. 11-13.

२ प्राचीन गूर्जर काव्य-संग्रह in Gaekwad's Oriental series No. XIII Baroda 1920. pp. 62, 67, 74, 78.

ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध प्रतियों और लेखों के आधार पर इस चिन्ह के मूल, रूप, नाम आदि का निर्णय होना चाहिये। आशा है कि प्रस्तुत लेख से प्रेरित होकर कोई समर्थ विद्वान् इस काम को अपने हाथ में लेंगे।



कृषिकर्म और जैनधर्म

[लेखकः—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ]



षि कर्म, जैन धर्म से विरुद्ध है या अविरुद्ध, इस बात का विचार करने से पहले यह देखना उचित होगा कि धर्म क्या है? और जीवन में धर्म का स्थान क्या है? क्या धर्म, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिये है, या सर्व साधारण प्राणी मात्र के हित के लिये? इन प्रश्नों पर सरसरी निगाह डालने से, कृषि कर्म का जैनधर्म के साथ जो संबंध है, उसे समझना सरल हो जायगा।

धर्म, जीवन का अमृत है, जीवन का संस्कार है। अतएव वह जीवमात्र के लिये है। धर्म का प्रांगण इतना विशाल है कि उसमें किसी भी प्राणी के लिए स्थान की कमी नहीं। यह बात दूसरी है कि कोई धर्म की छत्र-छाया में न आवे और उससे अलग ही रहने में अपनी भलाई समझे, मगर धर्म किसी को अपनी शीतल छाया में आने से नहीं रोकता। धर्म की अमृतमयी गोद में बैठकर शान्ति लाभ करने का अधिकार सबको समान है, चाहे कोई किसी भी जाति का, वर्ग का और वर्ण का हो, किसी भी प्रकार की आजीविका करके जीवन निर्वाह करता हो। इतना ही नहीं, धर्म-साधना का जितना अधिकार मनुष्य को है, उतना ही पशु-पक्षी को भी है। अलबत्ता धर्म-साधना की मात्रा प्रत्येक प्राणी की अपनी अपनी योग्यता पर निर्भर करती है।

आजकल भी पंजाब में महाजनी लिपि के आदि में १ (अंक) लिखकर उसे 'एको राम सहाई" पढ़ते हैं। कदाचित यह अंक ७ या ६ का ही परिवर्तित रूप हो। १ के पश्चात ओनामासी धौन बोलते हैं जो ओं नमः सिद्धं का अपभ्रंश है। गुरुमुखी लिपि के प्रारम्भ में १ ओंकार सत् गुरुप्रसादी लिखते हैं। अंक जैसे इस संकेत के लिखने की प्रथा प्राचीन और विस्तृत है परन्तु इसका रूप और उच्चारण भिन्न२ होगया है।

४ देखिये प्राचीन लेखों के फोटो आदि Epigraphia Indica, तथा पूरणचंद नाहर कृत 'जैन लेख संग्रह में।

5 monier monier-Williams English-Sanskrit Dictionary, स्वस्तिक और भद्र का शब्द।

मध्यकाल में धर्म के संबंध में जो विविध भ्रान्तियां उत्पन्न होगई हैं, उन भ्रान्तियों के कारण अनेकानेक रूढ़ियां जन्मी हैं। ऐसी रूढ़ियां अब तक हमारे यहां प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं। इन रूढ़ियों एवं भ्रमणाओं के काले बादलों में सूर्य की भांति चमकता हुआ धर्म का असली स्वरूप छिप गया है। आज समाज का अधिकांश भाग धर्म की वास्तविकता से अनभिज्ञ है।

धर्म संबंधी भ्रान्तियों में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति यह भी है कि धर्म व्यक्तिगत उत्कर्ष का साधक है और सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ उसे कोई लेनदेन नहीं है निस्सन्देह यह धारणा भ्रम पूर्ण ही है। क्योंकि व्यक्ति, समाज-समुद्र का एक बिन्दु मात्र है। कोई भी व्यक्ति समाज से सर्वथा निरपेक्ष रह कर जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन पर सामाजिक स्थिति का गहरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त अगर धर्म का सम्बन्ध सिर्फ व्यक्तिगत जीवन के साथ ही होता तो धर्म प्रवर्त्तक श्री महावीर स्वामी स्वयं संघ की स्थापना क्यों करते? सच्चाई यह है कि संघ या समाज के लिये वैयक्तिक जीवन भिन्न नहीं सकता। अतएव धर्म शास्त्र में जहां आत्म-धर्म (व्यक्तिगत धर्म) का निरूपण किया गया है, * वहीं राष्ट्रधर्म, संघ धर्म, आदि की भी प्ररूपणा की गई है। आशय यह है धर्म सम्बन्ध और समाज दोनों के साथ है। अतएव किसी धार्मिक आचार का विचार करते समय हमें समाजतत्त्व को भूलना नहीं चाहिए।

आत्मा अमूर्त्तिक है, अतीन्द्रिय है,यह सत्य सही है। लेकिन इससे भी अधिक प्रत्यक्ष सत्य यह है कि हमें आत्मा की उपलब्धि शरीर के साथ ही होती है। हम शरीर के बिना जीवित नहीं रह सकते। जो अशरीर हैं उन्हें धर्म की आवश्यकता नहीं है। जिनके लिए धर्म है, वे सब सशरीर हैं। और शरीर ऐसी चीज नहीं है, जिसका स्वेच्छापूर्वक चाहे जब त्याग कर दिया जाय। शरीर धर्म साधना का प्रधान अंग है शरीर निर्वाह करना हमारे जीवन की एक ऐसी मूलभूत और अनिवार्य आवश्यकता है जिसकी उपेक्षा कोई महान् से महान् आत्मनिष्ठ मुनि भी नहीं कर सकता।

शरीर-निर्वाह के लिए, चाहे कितना ही संयम, शील क्यों न हो, अन्न और वस्त्र तो आवश्यक हैं ही। वस्त्रों के अभाव में भी कदाचित् जीवित रहा जा सकता है किन्तु अन्न के बिना नहीं। 'अन्नं वै प्राणाः' यह एक ठोस सत्य है। ऐसी स्थिति में अन्न उपार्जन करने के लिए किया जाने वाला कर्म कृषिकर्म क्या अधर्म है? जिसके अभाव में जीवन-निर्वाह असंभव है, जिसके सहारे मनुष्य-समाज का अस्तित्व अवलंबित है, उस कार्य को एकान्त अधर्म कहना कहां तक उचित है? जो लोग संतोष के साथ, अन्नोपार्जन करके जगत् की रक्षा कर रहे हैं उन्हें अधार्मिक कहना क्या अतिसाहस और विचारहीनता का द्योतक नहीं है?

* ठाणांग सूत्र, ठाणा १० वाँ

पहले कहा जा चुका है कि धर्म, जीवन का अमृत है। जो धर्म जीवन का विरोधी है, जीवन का विष है, जीवन-निर्वाह का निषेध करता है वह वास्तविक धर्म नहीं हो सकता। लेकिन धर्म वास्तव में इतना अनुदार नहीं है। कृषि जैसे उपयोगी कार्य करने वालों को वह अपनी छत्र-छाया से वंचित नहीं करता। ऐसा करने वाले धर्मात्मा जीवित नहीं रह सकते और धर्मात्माओं के अभाव में धर्म टिका नहीं रह सकता। आचार्य समन्तभद्र ने यथार्थ ही कहा है—न धर्मो धार्मिकैर्विना।

एक ओर इस जैनधर्म की विशालता, व्यापकता और उदारता की प्रशंसा करते करते नहीं थकते और यह दावा करते हैं कि यह प्राणीमात्र का त्राण करने वाला और इसीलिए विश्वधर्म बनने के योग्य है, दूसरी ओर उसे इतने संकीर्ण रूप में चित्रित करते हैं कि विश्व को जीवन देने वाले कार्य-करनेवालों को भी धर्म की परछाई से अलग कर देना चाहते हैं। हमारे यह परस्पर विरोधी दावे चल नहीं सकते। जिन भगवान ने प्राणीमात्र के लिए धर्म का उपदेश दिया है। अतएव जिन कार्यों से दूसरों का अनिष्ट नहीं होता, वरन् रक्षा होती है, ऐसे उपयोगी कार्य करने वाले धर्म-बाह्य नहीं कहला सकते जब कि वे धर्म का आराधन करने के इच्छुक हों।

कृषि और हिंसा

बहुत से लोगों की यह धारणा है कि खेती का काम हिंसाजनक होने के कारण त्याज्य है। खेती में असंख्य त्रस जीवों का और स्थावर जीवों का घात होता है। अतएव त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी श्रावक खेती नहीं कर सकता। श्रावक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए अल्प-आरंभ वाली आजीविका करनी चाहिए, जिससे धर्म की साधना भी हो और जीवन-निर्वाह भी हो। ऐसी विचारधारा से प्रेरित होकर लोगों का ध्यान प्रायः सट्टे की ओर जाता है। सट्टे में न आरंभ है न हिंसा है। न कुछ करना पड़ता है, न धरना पड़ता है। न लेन, न देन, फिर लाखों का लेनदेन हो जाता है। लोग सोचते हैं-कहां तो असीम हिंसा का कारण महारंभमय खेती और कहां निरारंभ सट्टा!

इन्ही विचारों के कारण ही शायद बहुत से जैन गृहस्थ कृषिकार्य से विमुख होकर सट्टा करते हैं और उसी में संतोष मानते हैं।

इसमें तो संदेह ही नहीं कि कृषि करने में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है, और अगर जैन धर्म सिर्फ साधुओं का ही धर्म होता तो यह भी निःसंकोच कहा जा सकता था कि कृषि कार्य जैन धर्म से असंगत है। मगर ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म जैसे साधुओं के लिये है वैसे ही गृहस्थों के लिये भी है। धर्म की उपयोगिता नीचे के स्तर के जीवों को ऊँचे स्तर (Standard) पर ले जाने

❀ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार।

में है। जो धर्म गृहस्थों के भी काम न आ सके वह धर्म ही नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि जो जैनाचार का तनिक भी पालन नहीं करता, सिर्फ जैन धर्म पर श्रद्धाभाव रखता है, वह भी जैनधर्मी ही कहलाता है। इस प्रकार जब गृहस्थ भी जैनधर्म का अनुयायी है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी अहिंसा की मर्यादा क्या है? कृषिकर्म उस मर्यादा में है या उससे बाहर है?

शास्त्रों में हिंसा के मुख्य दो भेद बतलाए गये हैं-(१) संकल्पजा हिंसा और (२) आरंभजा हिंसा। मारने की भावना से, जानबूझ कर जो हिंसा की जाती है वह संकल्पजा हिंसा कहलाती है। जैसे शिकारी की हिंसा। जीवन निर्वाह भवन-निर्माण, पशुपालन आदि कार्यों में जो हिंसा होती है, जिसमें प्राणियों को मारने का संकल्प नहीं होता, वह आरम्भजा हिंसा कहलाती है। आरम्भजा हिंसा भी दो प्रकार की है-निरर्थक और सार्थक। जो हिंसा बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ की जाती है वह निरर्थक आरंभजा हिंसा है। साधारण श्रावक सिर्फ संकल्पजा हिंसा और निरर्थक आरम्भजा हिंसा का त्यागी होता है। वह सार्थक आरंभजा हिंसा का त्यागी नहीं होता। अगर वह इस हिंसा का भी त्याग कर डाले तो फिर वह गृहस्थी का कोई भी काम नहीं कर सकता ऐसी स्थिति में साधु और श्रावक के अहिंसाव्रत में कोई अन्तर ही न रह जायगा।

गृहस्थकर्म का प्रतिपादन करने वाले उपासक-दशांगसूत्र में आनन्द श्रावक के व्रत-ग्रहण में यह पाठ आया है-'थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाई-जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा। अर्थात् दो करण और तीन योग से आनन्द स्थूल हिंसा का त्याग करता है।

स्थूल हिंसा किसे समझना चाहिए? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण श्री हेमचंद्राचार्य ने अपने योग-शास्त्र में इस प्रकार किया है।

'स्थूला-मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या हिंसा सा स्थूल हिंसा। स्थूलानां वा त्रसानां जीवानां हिंसा स्थूल हिंसा। स्थूलग्रहण मुपलक्षणं, तेन निरपराध सङ्कल्पपूर्वक हिंसानामपि ग्रहणम्।'

-योगशास्त्र, द्वि. प्र. श्लो० ६८ (टीका) अर्थात्-जिस हिंसा को मिथ्यादृष्टि भी हिंसा समझते हैं वह स्थूल हिंसा कहलाती है। अथवा स्थूल जीवों की अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा स्थूल हिंसा कहलाती है। यहां स्थूल का ग्रहण उपलक्षण मात्र है, अतएव निरपराध जीव को संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा भी समझ लेनी चाहिए।

इससे आगे आचार्य ने और भी स्पष्ट किया है -

पङ्गु कुष्ठि कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः। निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥

अर्थात्-हिंसा करने वाले अगले जन्म में लँगड़े, कोढ़ी और कुबड़े होते हैं,

यह हिंसा का अनिष्ट फल देखकर बुद्धिमान पुरुष को निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना चाहिए।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक के द्वारा होने वाली इस हिंसा से उसका अहिंसाणुव्रत खंडित नहीं होता–

(क) अपराधी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा से

(ख) निरपराध त्रस जीवों की आरम्भजा हिंसा से

(ग) स्थावर जीवों की हिंसा से

अब हमें यह देखना है कि खेती करने में जो हिंसा होती है वह उक्त तीन तरह की हिंसा के अन्तर्गत होती है या नहीं ? खेती में होने वाली हिंसा उक्त ख और ग विभाग के अन्तर्गत है। खेती करने वाले का उद्देश्य हिंसा करना नहीं वरन खेती करना होता है। इसका प्रमाण यह है कि खेती करने वाले श्रावक को अगर एक हजार रुपये का प्रलोभन देकर कहा जाय कि हजार रुपये ले लो और इस मकोड़े को मार डालो तो वह ऐसा करने के लिये तैयार न होगा। जो किसान श्रावक खेती करने में अनगिनती जीवों की हिंसा करके सौ-दो सौ रुपयों का धान्य पाता है, वह हजार रुपये लेकर भी एक मकोड़े को मारने के लिये तैयार नहीं होता इसका कारण यही है कि मकोड़े को मारना संकल्पी हिंसा है और खेती की हिंसा आरंभी हिंसा है। असंख्य जीवों की आरंभी हिंसा होने पर भी श्रावक का अहिंसा व्रत भंग नहीं होता, जबकि एक मकोड़े की संकल्पी हिंसा से भी व्रत का भङ्ग हो जाता है। आरंभी और संकल्पी हिंसा की तुलना करते हुए श्री आशाधरजी सागार धर्मामृत नामक श्रावकाचार में कहते हैं–

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सङ्कल्पिकीं त्यजेत् । घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥

—सागरधर्मामृत द्वि. अ.

अर्थात्–आरंभ करने में भी समझदार श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करे। क्योंकि संकल्पी हिंसा अतिशय पापमयी है। खेती करने के भाव से पृथिवीकाय आदि की हिंसा करनेवाले किसान की अपेक्षा, मछली आदि न मारने वाला किन्तु मारने की भावना वाला मच्छीमार अधिक पापी है। वास्तव में संकल्पी हिंसा में अध्यवसाय अत्यन्त उग्र और दुष्ट होता है, आरम्भी हिंसा में नहीं। यही कारण है कि आरंभी हिंसा से व्रत का भंग नहीं होता। अब यह स्पष्ट है कि खेती करने से श्रावक का अहिंसाणुव्रत खंडित नहीं होता।

कृषि और आरम्भ

दूसरा प्रश्न अल्पारंभ-महारंभ का है। अनेक लोगों की साधारण धारणा है कि खेती महारंभ का कार्य है अतएव वह श्रावक के लिए यह है । किन्तु हमें यह देखना है कि क्या खेती सचमुच महारंभ का कार्य है ?

आजकल जनता में अल्पारंभ-महारंभ के संबंध में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। जैनधर्म के उद्भट विद्वान स्वर्गीय जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने इस विषय में बहुत विस्तृत और विचारपूर्ण व्याख्यान किया है। हम पाठकों से उनके इस संबंध के व्याख्यान पढ़ जाने का आग्रह करते हैं। उन्होंने सन् १९२७ में एक भाषण में कहा था—

'मित्रों! अब एक प्रश्न मैं तुम्हारे सामने रखता हूँ। बताओ खेती करने में ज्यादा पाप है या जुआ खेलने में? ऊपर की दृष्टि से जुआ (सट्टा) अल्प पाप गिना जाता है। इसमें किसी की हिंसा नहीं होती। केवल इधर की थैली उधर उठाकर रखनी पड़ती है। पर खेती में? एक हल चलाने में न जाने कितने जीवों की हिंसा होती है। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि खेती में छहों कायों की हिंसा होती है।

मित्रों! उथले विचार से ऐसा मालूम होता है सही, पर अगर गहराई में आकर विचार करेंगे तो आपको कुछ और ही प्रतीत होगा। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि जगत् का कल्याण किसमें है? पाप का मूल क्या है? क्या यह संदेह की बात है कि खेती के बिना जगत् सुखी नहीं रह सकता? खेती से प्राणियों की रक्षा होती है थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि संसार के सब किसान कृषि कार्य छोड़कर जुआरी बन जाएँ तो कैसी बीते?

जिस कार्य से प्राणियों की रक्षा होती है वह कार्य पुण्य का है या पापका? वह कार्य पाप का नहीं हो सकता।

अब आप जुए की तरफ देखिए जुआ जगत्-कल्याण में तनिक भी सहायक नहीं है। बल्कि जुआ खेलने वालों में झूठ, कपट, छलछिद्र, तृष्णा आदि अनेक दुर्गुण पैदा होजाते हैं। अधिक क्या कहें, संसार में जितने दुर्गुण हैं, वे सब जुए में विद्यमान हैं।

जुआ और खेती के पाप की तुलना करते समय आप यह न भूल जाइए कि शास्त्रों में जुए को सात कुव्यसनों में गिना गया है, पर खेती करना कुव्यसनों के अन्तर्गत नहीं है। श्रावक को सात कुव्यसनों का त्याग करना आवश्यक है। अगर जुए की अपेक्षा खेती में अधिक पाप होता तो कुव्यसनों की अपेक्षा खेती का पहले त्याग करना आवश्यक होता। परन्तु शास्त्र कहते हैं कि आनन्द जैसे धुरंधर श्रावक ने श्रावकधर्म धारण करने के पश्चात् भी खेती करने का त्याग नहीं किया था।

जो लोग यह समझते हैं कि हमें बिना विशेष आरंभ किये बाजार से ही जब धान्य मिल सकता है, तो धान्योपार्जन करने के लिए आरंभ-समारंभ क्यों किया जाय? भले ही खेती में महारंभ न हो, किन्तु जिस आरंभ से बचना संभव है, उससे क्यों न बचना चाहिए।

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आचार्य सोमदेवसूरि की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है:—

क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ?

—नीतिवाक्यामृत, वार्तासमुद्देश।

आचार्य ने यहां खरीदे हुए आहार और वेश्या की तुलना की है। यह तुलना बड़ी बोधप्रद है और मार्मिक भी है। विवाह करने में अनेक आरंभ-समारंभ करने पड़ते हैं, सैकड़ों तरह की झंझटों में पड़ना पड़ता है, बाल-बच्चों की परम्परा चलती है और उस परंपरा से पाप की परम्परा बढ़ती है। इस महारंभ से बचने के लिए वेश्यागमन करके ही काम-वासना तृप्त क्यों न करली जाय ? थोड़े से पैसे खर्च किये और अनेक पापों से बचे। कहां तो पापों की अनन्त-परम्परा और कहां वेश्या का अल्प पाप !

इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से वेश्यागमन में अल्प पाप और विवाह करने में महापाप भले ही प्रतीत हो लेकिन कोई भी विवेकशील पुरुष इस व्यवस्था का समर्थन नहीं कर सकता। धर्म शास्त्रों में तो इसका समर्थन हो ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि अल्पारंभ और महारंभ की मीमांसा बाह्य दृष्टि से और तात्कालिक कार्य से नहीं की जानी चाहिए। संसार की व्यवस्था और समाज-कल्याण की दृष्टि भी इसमें गर्भित है।

इसके अतिरिक्त, थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि बाजार से धान्य लाकर खाना ही धर्मसंगत है और धान्य उपार्जन करना अधर्म है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बाजार में धान्य आएगा कहां से ? अगर मनुष्य मात्र इस धर्म को अंगीकार करले और खेती करना छोड़ दे तो जगत् की क्या स्थिति होगी ? क्या धर्म के प्रचार का फल प्रलय होना चाहिए ? जिस धर्म को अंगीकार करने से जगत में हाय हाय मच जाए, मनुष्य भूख से तड़फ तड़फ कर प्राण दे दें, वह धर्म क्या विश्व धर्म बनने के योग्य है ? धर्म का उद्देश्य केवल पारलौकिक सुख-शान्ति नहीं है। ऐहलौकिक शान्ति, सुख और सुव्यवस्था भी धर्म का लक्ष्य है। परलोक इस लोक पर अवलंबित है और इस लोक की सुख शान्ति कृषि कर्म पर बहुत कुछ अवलंबित है। आचार्य श्री सोमदेव ने कहा है—

'तस्य खलु संसार सुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानंच ॥

टीका-तस्य गृहस्थस्य खलु निश्चयेन सुखं भवति, यस्य किं ? यस्य गृहे सदैव कृषिकर्म क्रियते तथा धेनवो महिष्यो भवन्ति'।

—नीति वाक्यामृत, पृष्ठ, ६३

अर्थात्, उस गृहस्थ को निश्चय ही सुख की प्राप्ति होती है, जिसके घर में सदैव खेती की जाती है तथा गायें और भैंसें होती हैं।

आचार्य सोमदेवजी यद्यपि स्पष्ट रूप से खेती और पशुपालन करने का विधान नहीं करते, ऐसा करना साधु की भाषा के विरुद्ध है तथापि उनका आशय कदम स्पष्ट है। वे परोक्ष रूप से कृषि और पशुपालन का गृहस्थ के लिये समर्थन कर रहे हैं ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि खेती करना श्रावक धर्म से विरुद्ध है ? अतएव आरंभ-समारंभ की दृष्टि से कृषि का निषेध करना उचित नहीं कहा जा सकता।

कृषि-कार्य में आरंभ नहीं है यह कहना यहां अभीष्ट नहीं है। कृषि में ही क्यों, आरंभ तो छोटे से छोटे कार्य में भी होता है। यहां तक कि घर आये हुए को आसन देने में भी आरंभ होता ही है, मगर इस आरंभ का त्याग गृहस्थधर्म की मर्यादा में नहीं है। श्रावक की योग्यता के अनुसार उसके आचार की अनेक कोटियां हैं। उसका आचार तर-तम भाव से अनेक प्रकार का है। कोई श्रावक साधारण त्यागी होता है, कोई प्रतिमाधारी होता है। जैनशास्त्रों में बतलाया गया है कि प्रत्येक प्रतिमाधारी श्रावक भी आरंभ का त्यागी नहीं होता। प्रतिमाओं का सेवन क्रमपूर्वक ही होना है और आरंभ त्याग प्रतिमा (पडिमा) में श्रावक खेती का त्याग करता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं:-

सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति । प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अध्याय ३।

अर्थात्-सेवा, कृषि और वाणिज्य आदि आरंभ से, जो कि हिंसा के हेतु हैं, जो श्रावक निवृत्त होजाता है, वह आरंभ त्याग नामक प्रतिमा का पालक कहलाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री सिद्धसेन सूरि ने भी प्रवचनसारोद्धार की टीका में लिखा है:-

'एषा पुनर्नवमी—प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा भवति, यस्यां नव मासान् यावद् पुत्र-भ्रातृप्रभृतिषु न्यस्तसमस्तकुटुम्बादिकार्यभारतया धनधान्यादि परिग्रहेष्वल्पाभिष्वङ्गतया च प्रेष्यैरपि-कर्मकरादिभिरपि- आस्तां स्वयं आरम्भान्-सपापव्यापारान् महतः कृष्यादीनिति भावः ।

—प्रवचनसारोद्धार।

आशय यह है कि प्रतिमाधारी श्रावक आरंभ त्याग नामक आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरंभ करने का त्याग कर देता है। तत्पश्चात् प्रेष्यारंभत्याग नामक नौवीं प्रतिमा धारण करता है। इस प्रतिमा में नौ महीना पर्यन्त वह कुटुम्ब का भार अपने पुत्र या भाई आदि पर छोड़ देता है और परिग्रह में उसकी आसक्ति कम होती है, इस कारण नौकरों-चाकरों से भी खेती आदि आरंभ के बड़े काम नहीं करता।

औरों की बात जाने दीजिये और सिर्फ पहले कर्मादान अंगारकर्म, को ही लीजिए श्रावक अपने उदरनिर्वाह के लिए अग्नि जलाता है, कोयले जलाता है, तो क्या उसे कर्मादान लगता है? अगर भोजन बनाने के लिए अंगार जलाने से ही कर्मादान का महापातक लग जाता है और श्रावक का व्रत दूषित हो जाता है, तो फिर कर्मादानों का त्याग करने के लिए आजीवन संथारा लेने के सिवाय और क्या चारा है? इस प्रकार तो श्रावक के व्रत ग्रहण करना अर्थात् शीघ्र ही मौत को आमंत्रण देना ही ठहरता है। धर्म की यह कितनी ऊलजलूल व्याख्या है।

लेकिन कर्मादानों का स्वरूप यह नहीं है। श्रावक अपने लिए गाड़ी बनाए खरीदे और स्वयं चलावे तो भी साडीकम्मे कर्मादान नहीं लगता। कर्मादान उस हालत में लगता है, जब कि गाड़ी बनाने का धंधा ही अख्तियार कर लिया जाय और इसी धंधे से आजीविका चलाई जाय। इसी प्रकार अपने भोजन आदि उपयोग के लिए अंगार जलाने का काम करने से अंगारकर्म कर्मादान नहीं लगता। कोयला बना-बनाकर बेचने का व्यापार करने से कर्मादान लगता है। यही बात कृषि के संबंध में है। अपने लिए खेती करना कर्मादान नहीं है 'फोडिकम्मे' वरन् हल चला-चला कर आजीविका करना-हल चलाने की ही आजीविका करना और हल चलाकर उपार्जित किये हुए धन से निर्वाह करना कर्मादान है।

'फोडीकम्मे' कर्मादान में तालाब खोदना, कुआ-बावड़ी खोदना आदि कार्य भी गिने जाते हैं। परन्तु हमारा सहज ज्ञान क्या यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि परोपकार के लिए या अपने उपयोग के लिए कुआ आदि खोदने से महान् पाप-इतना बड़ा पाप जिससे श्रावक का व्रत खंडित हो जाय, लगता है! कदापि नहीं। वास्तव में अपने पेट के लिए भूमि फोड़ने का धंधा करना ही फोडीकम्मे कर्मादान है। कृषि करना कर्मादान में सम्मिलित नहीं है।

शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

—बृहत्स्वयंभू स्तोत्र।

अर्थात्—हे प्रभो! आपने कृषि आदि कर्मों की शिक्षा दी। अगर कृषिकर्म आर्योचित कर्म न होता महान् पाप का कारण होता तो भगवान् उसको उपदेश क्यों देते? तात्पर्य यह है कि कृषिकर्म न कर्मादान है, न अनार्य कर्म है। बल्कि जगह-जगह उसे वैश्यों का कर्म बतलाया गया है। श्रीसोमदेव सूरि ने लिखा है:—

कृषिः पशुपालनं वाणिज्या च वार्त्ता वैश्यानाम्।

—नीतिवाक्यामृत।

उत्तराध्ययनसूत्र में "वइसो कम्मुणा होइ" इस सूत्रांश की टीका इस प्रकार की गई है:— 'कर्मणा-कृषि-पशुपालनादिना भवति'। अर्थात् कृषि पशुपालन आदि कर्मों से वैश्य होता है।

कृषिकर्म वैश्य का कर्त्तव्य है इस संबंध में अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि कृषिकर्म अनार्य—व्यवसाय नहीं है।

कृषिकर्म के संबंध में मुख्य मुख्य वातों का यहां तक विचार किया गया है। इससे यह भलीभाँति सिद्ध है कि कृषिकर्म, श्रावक धर्म को बाधा नहीं पहुँचाता है। हाँ। जो श्रावक गृह-वास का त्याग करके, प्रतिमा धारण करके, विशिष्ट साधना में अपना समय व्यतीत करने के लिए उद्यत होते हैं, वे जैसे अन्यान्य आरंभों का त्याग करते हैं, उसी प्रकार कृषि का भी त्याग कर देते हैं। जो श्रावक व्रत रहित हैं, या व्रतधारी होते हुए भी आरंभ त्याग की कोटि तक नहीं पहुँचे हैं, उनके लिए कृषिकर्म त्याज्य नहीं है। इतना ही नहीं, अगर आजीविकाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह भी प्रतीत होगा कि व्याजखोरी आदि अन्य आजीविकाओं की अपेक्षा कृषि-आजीविका श्रावक धर्म के अधिक अनुकूल है। सट्टे के साथ, जो एक प्रकार का जुआ ही है, कृषि की तुलना की जा चुकी है। जुआ को धर्मशास्त्रों ने त्याज्य ठहराया है। सूदखोरी का धंधा भी प्रशस्त नहीं है। आचार्य सोमदेव सूरि ने लिखा है—

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते—शोभते, इति राष्ट्रम्।

अर्थात्—जो देश पशु धान्य और हिरण्य से सुशोभित होता है, वही सच्चा राष्ट्र है। यहाँ पशुओं और धान्य को प्रथम स्थान दिया गया है और उसके बाद हिरण्य (चांदी-सोने) को। ऐसा करके आचार्य ने यह सूचित कर दिया है कि किसी भी देश की प्रधान सम्पत्ति पशु और धान्य हैं, क्योंकि उनसे जीवन की आवश्यकताएँ साक्षात् रूप से पूर्ण होती हैं। जो वस्तु जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं की साक्षात् पूर्ति करती है, उसका उपार्जन करने वाला सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से समाज एवं राष्ट्र का उपकार करता है। वह जगत् को अपनी ओर से कुछ प्रदान करता है। अतएव वह जगत् का बोझ नहीं है, वरन् बोझ उठाने वालों का हिस्सेदार है। वह समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है, तो उसके बदले समाज को कुछ देता भी है। अनाज पैदा करने वाला किसान दूसरों का भार नहीं है, बल्कि दूसरों का भार सँभालता है— अनेक प्राणियों को अन्न के रूप में जीवन दे रहा है क्योंकि पैदा किया हुआ सारा अनाज वह स्वयं नहीं खा लेता। यही बात पशु-पालन करने के संबंध में भी कही जा सकती है। मगर सूद का धंधा करने वाला पुरुष स्वार्थ-साधन के सिवा और क्या करता है? एड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर किसान जो अन्न उपजाता, उसी पर उसका जीवन निर्भर है, फिर वह उन्हें पेट भर खाने नहीं देता। वह समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के परिश्रम पर गुलछर्रे उड़ाता है, मगर उनमें से किसी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह आत्मदान नहीं करता। बल्कि वह समाज में विषमताओं का विष ही फैलाता है। अतएव उसका कार्य जगत् के लिए कल्याणकारी न होकर अकल्याणकर ही कहा जासकता है।

दूसरी बात यह है कि खेती मूल आजीविका है। मूल आजीविका वह कहलाती है जिस पर अन्य अनेक आजीविकाएँ निर्भर हों। कपास, रुई, सूत, जूट, वस्त्र बुनाई, कपड़े के मील, बजाजी का धंधा व इस संबंध के तमाम आढ़त आदि के धंधे तथा समस्त अनाज संबंधी व्यवसाय, हलवाई की दुकानें, होटल, ढावा आदि-आदि कृषि-कर्म पर अवलंबित हैं। अगर किसान, खेती करना छोड़ दे तो दुनियां के अधिकांश व्यापार चौपट हो जाएँ। इस दृष्टि से व्यापार का मूल भी खेती ही ठहरता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न आजीविकाओं के साथ तुलना करने पर कृषि की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। निःसन्देह कृषि जीवन है, और कृषक जीवनदाता हैं लोग राजा-महाराजाओं को अन्नदाता कहते, मगर ईमानदारी से तो किसान ही अन्नदाता है।

जैन धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार आचार विषयक विभ्रम उत्पन्न होने का प्रधान कारण यह है कि हम उसे एकान्त निवृत्तिमय मान बैठे हैं। धर्मोपदेशक भी प्रायः इसी रूप में धर्म का स्वरूप प्रकट करते हैं। लेकिन क्या एकान्त निवृत्ति कहीं सम्भव है? निवृति प्रवृत्ति, के विना और प्रवृत्ति निवृत्ति के विना असम्भव है, जैसे दिवाल की एक बाजू दूसरी बाजू के विना असम्भव है। अक्सर लोग समझते हैं अहिंसा निवृत्ति रूप है, लेकिन वास्तव में, अहिंसा में जो निवृत्ति है वह अहिंसा का शरीर है और उसमें पाया जाने वाला प्रवृत्ति का भान उसकी आत्मा है। किसी प्राणी को नहीं सताना अहिंसा का बाह्य रूप है, और इस निवृत्ति के साथ सर्व प्राणियों में बन्धु भाव होना, विश्वप्रेम का अंकुर उगना, करुणाभाव से हृदय का द्रावित होना, जगत् के सुख के लिये यत्नशील होना, इत्यादि प्रवृत्ति अहिंसा का आन्तरिक रूप है। इसके विना अहिंसा की भावना न उद्भूत होती है, न जीवित रह सकती है।

जैसे पक्षी एक पंख से आकाश में नहीं उड़ सकता उसी प्रकार एकान्त प्रवृत्ति या एकान्त निवृत्ति से आत्मा ऊर्ध्वगामी नहीं बन सकता। जीवन को समुन्नत बनाने के लिए दोनों की समुचित रूप में आवश्यकता है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है।

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को ही चारित्र समझना चाहिए।

इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के सुयोग्य समन्वय से ही चारित्र का निर्माण होता है।

जब हमें जीवन यापन करना है तो एकान्त निवृत्ति से काम नहीं चल सकता, प्रवृत्ति कुछ करनी ही होगी। इस प्रकार किससे निवृत्त होना चाहिए

और किसमें प्रवृत होना चाहिए, यह प्रश्न अपने आप उत्पन्न हो जाता है। उसका सामान्य समाधान ऊपर उद्धृत किये वाक्य से हो जाता है कि शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करनी चाहिए। लेकिन शुभ क्या है और अशुभ क्या है? यह प्रश्न फिर भी बना रहता है। शुभ और अशुभ की व्याख्या कुछ कुछ देश काल की परिस्थिति पर निर्भर करती है, लेकिन उनकी सर्व-देश-कालव्यापी व्याख्या यही हो सकती है कि जिस कार्य से आत्मा का और जगत् का कल्याण हो वह शुभ है। और जिससे व्यक्ति का अकल्याण हो वह अशुभ है। इस दृष्टि से हमें जीवन निर्वाह के लिए कोई शुभ कार्य ही पसंद करना चाहिए। पहले जो विवेचन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि कृषिकार्य जीवन के लिए अत्युपयोगी है। व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन उसी पर निर्भर है। उससे किसी वर्ग को कोई क्षति नहीं पहुंचती। अतएव जीवन निर्वाह का जहाँ तक प्रश्न है, कृषि औरों की अपेक्षा अधिक विधेय कर्म है। इस प्रकार सट्टा आदि की निवृत्ति से कृषि आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही फलित होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाया गया है कि धर्मात्मा जीव स्वर्ग में उत्पन्न होने के पश्चात् जब मनुष्य योनि धारण करता है तब उसे इस श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। यथा।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥

-उत्तराध्ययन, ३ अ।

यहां क्षेत्र (खेत) की प्राप्ति को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में पुण्य के उदय से खेत मिलता है और खेत जोतने वाला जगत् की रक्षा करके पुण्य का भागी होता है। हमारा खयाल है पाठक इतने विवेचन से भलीभाँति समझ सकेंगे कि जीवन-निर्वाह के कार्यों में कृषि का स्थान क्या है और धर्म से वह संगत है या विसंगत है?

सेठ रतनलालजी नाहर, बोली (भोपाल) वालों की ओर से आयोजित निबंधप्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कृत निबंध।



श्री जैन दिवाकरजी की जीवन ज्योति।



ह दृश्यमान सकल संसार द्वन्द्वों का पिण्ड है। संसार द्वन्द्वमय है और द्वन्द्व ही संसार है। चर अचर, जीव, अजीव जंगम, स्थावर अन्धकार, प्रकाश, सुख, दुख, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि द्वन्द्वों का नाम ही संसार है। इस अनन्त संसार रूपी समराङ्गण में इन द्वन्द्वों के बीच सतत संघर्ष हुआ करता है। इस संघर्ष में कभी कोई प्रबल होता है कभी कोई। कभी प्रकाश की प्रबलता होती है तो अंधकार की निविड़ता। कभी पुण्य का प्राधान्य होता तो है कभी पाप का। कभी दुनिया में सुखशान्ति का साम्राज्य होता है तो कभी भयंकर हिंसा का ताण्डव नृत्य। कभी आकाश से देवगण फूलों की वर्षा करते हैं तो कभी पृथ्वी की छाती पर बम के गोले बरसते हैं। कभी शान्ति के झरने फूट पड़ते हैं तो कभी खून की नदियां बह निकलती हैं।

जब दुनिया में पाप का प्राधान्य हो जाता है, जब वसुन्धरा पाप के भारसे संत्रस्त हो उठती है, जब तामसिक प्रकृति का बोलबाला हो जाता है, जब धर्म एवं न्याय की हत्या कर दी जाती है, जब चारों ओर भीषण रक्तपात, हत्या, लूटमार, और अग्निकाण्ड के दृश्य दिखाई देते हैं, जब पाप अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है तब उसकी प्रतिक्रिया अवश्यमेव होती है। पापों की प्रतिक्रिया के लिए प्रकृति महापुरुषों को जन्म देती है। संतों के रूप में प्रकृति, दुनिया के संत्रस्त आत्माओं को अपने आश्वासन और आशीर्वाद देती है।

संत दुनिया के लिए आशीर्वाद और वरदान हैं। ये पाप के भयंकर दावानल से झुलसी हुई दुनिया को शान्ति प्रदान करने वाले देव-दूत हैं। संत, दुनिया के खून से भरे हुए, उजड़े और सुनसान रेगिस्थान में शान्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाले अक्षय स्रोत हैं। ये विनाश की ओर तेजी से भागने वाली दुनिया को सावधान और सतर्क करने वाले लाल प्रकाश के स्तम्भ हैं। विश्व में जो कुछ शान्ति, सुख और सात्विकता है उसका श्रेय संतों को ही है। संत महात्मा संसार को सुखशान्ति का सच्चा मार्ग प्रदर्शित करते हैं। वे अपने परम पावन आचरण से दुनिया को बोधपाठ देते हैं। उनके जीवन की जगमगाती हुई ज्योति भानभूले हुए मानवों के लिए आकाश-दीप के समान मार्गदर्शिका होती है। संतों को पाकर दुनिया धन्य है ? ?

सन्तों की महिमा इसीलिये है कि वे अपने आपको विश्व-हित के लिये समर्पित कर देते हैं। वे इसी लिये महान् हैं कि वे स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र से ऊंचे

ठे होते हैं और " वसुधैव कुटुम्बकम् " समझ कर विश्व कल्याण को ही अपने जीवन का ध्येय बना लेते हैं। यही सन्तों और महापुरुषों की महत्ता का हेतु है।

विश्व की विशाल वाटिका में असंख्य फूल खिलते हैं और खिलते रहेंगे। ये फूल अल्पकाल के लिये अपनी सुन्दरता और मनोहारिता पर इठलाकर-मंद मंद मुसकरा कर- धराशायी हो जाते हैं। क्षण भर के यौवन पर इतरा कर धूल में मिल जाते हैं। जिस सुमन समूह ने अपने सौरभ से संसार को सुरभित नहीं बनाया वह अकारण ही उत्पन्न हुवा। इसके विपरीत जिस पुष्प समुदाय ने अपने पवित्र सौरभ से संसार को भर दिया, जिसने अपने मनोहर सौ दर्य से संसार की शोभा बढ़ाई, जिसने अपना सर्वस्व—सौरभ दुनिया के लिये लुटा दिया, वही 'सुमन' सच्चा सुमन है। यही बात मानव जीवन के सम्बन्ध में समझना चाहिये। विश्व में असंख्य प्राणी जन्म लेते हैं और जैसे तैसे अपना जीवन खोकर मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। जीवन और मरण सृष्टि के निरंतर चलने वाले कार्य हैं। संसार में प्रतिपल सैकड़ों प्राणी जन्म लेते हैं और अपनी जीवन लीला पूर्ण करते है। परन्तु उसी प्राणी का जीवन सार्थक है जो दूसरों के लिये जीता है। अपने लिये तो प्रत्येक प्राणी जीता ही है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। परन्तु जो व्यक्ति अपना जीवन दूसरों के लिये समर्पण करता है उसी का जीव जीता है। जो व्यक्ति दूसरों के हित के लिये आत्म समर्पण करता है उसी का जीना, जीना है। जो व्यक्ति दूसरों के हित के लिये अपने जीवन का भोग देता है, जो अपने जीवन से दूसरों में प्रेरणा और स्फूर्ति का संचार करता है जो अपना सर्वस्व परोपकार के लिये न्योछावर करता है इसीका जीवन सफल जीवन है। वही कृतकृत्य है और वही धन्य है। ऐसा पुरुष ही महापुरुष, महात्मा और सन्त कहा जाता है और सारे संसार में उसकी महिमा का यशोगान होता है।

जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज एक ऐसे ही महात्मा और महापुरुष हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन विश्व कल्याण के लिये और मानव जाति की सेवा के लिये समर्पित कर दिया है। जैन दिवाकरजी की महत्ता इसीलिये है कि उन्होंने अपना जीवन, अपने लिये न जीकर विश्व के प्राणियों की सेवा के लिये अर्पित किया है।

प्रकृति इसीलिये महान् है कि वह अपना सारा वैभव दूसरों को लुटा देती है। सूर्य इसीलिये महान् है कि वह दूसरों के लिये तपता है। चन्द्रमा इसीलिये महान् है कि वह दूसरों को शान्ति प्रदान करता है। जैन दिवाकरजी इसीलिये महान् है कि वे दूसरों के हित के लिये जीते हैं। सचमुच, जैन दिवाकर जैनाकाश के ज्योतिर्मय दिवाकर हैं। आप अपनी अलौकिक प्रतिभा के प्रकाशपुञ्ज से जैनाकाश को उद्भासित कर रहे हैं। जैसे आकाश की शोभा दिवाकर से है ठीक इसी तरह जैन संसार की शोभा जैन दिवाकरजी से है। अस्तु।

जीवन अतिशय समुज्ज्वल होने वाला था तो वे भला मौज शौक की जहरीली हवा से कैसे प्रभावित हो सकते थे ? महापुरुष यकायक नहीं बनते, वे पूर्व जन्म के संस्कारों के साथ अवतीर्ण होते हैं और इस जन्म में भी अपनी कुशलता से अपने भावी जीवन की सामग्री जुटाते हैं और अग्रिम जीवन की भूमिका तैयार करते हैं। तदनुसार यौवन के पदार्पण के साथ जहां साधारण व्यक्तियों में उच्छृंखलता और स्वच्छन्दाचार का आविर्भाव होता है वहां आपमें विचार-गम्भीर्य और संयम शीलता का आधिक्य था।

सांसारिक व्यवहार के अनुसार युवावस्था आनेपर आपका विवाह प्रतापगढ़ निवासी श्रीमान् पूनमचन्दजी सा. की सुपुत्री के साथ होगया। युवावस्था में सामान्य प्राणी विषय वासना में डूब जाता है। उस समय उसे संसार का सारा सुख विषयों में ही दिखाई देता है। उसकी सारी शक्ति और चित्त वृत्तियां वासना की ओर ही केन्द्रित होती हैं। वह विषयों के कीचड़ में बुरी तरह फँस जाता है। परन्तु आप में यह बात नहीं थी। आपका अन्तःकरण विषय-वासना में लगा न था। आपके हृदय में सहज विरक्ति की लहरें तरंगित होती। भर जवानी में विरक्ति के संस्कारों से आपका अन्तःकरण ओत-प्रोत था। इसका कारण यथाविधि पूर्व संस्कारों के साथ आपकी माताजी की धर्मपरायणता भी समझना चाहिए।

जिस प्रकार कमल कीचड़ में होता हुआ भी कीचड़ से लिप्त नहीं होता है इसी तरह वैवाहित जीवन बिताते हुए भी आप वासना के कीचड़ से लिप्त न हुए। आपकी चित्तवृत्तियां वासना में न डूबीं। जिसने अपने जीवन का लक्ष्य वैराग्य बना लिया हो वह भला वासनाओं में अन्धा कैसे हो सकता है ? आपश्री के हृदय में वैराग्य की प्रबल तरंगें तरङ्गित हो रही थीं। आप किसी अनुकूल संयोग की प्रतीक्षा में थे। आपका मन सांसारिक अर्थोपार्जन के व्यवसायों की ओर आकर्षित न हुआ। आप के द्वारा संसार के अनुपम ही लाभ मिलने वाला था इसीलिए सामान्य गृहस्थोचित पैदाइश आदि के कार्यों में आपका चित्त नहीं लगा। आप सब प्रपञ्चों को छोड़कर अपने वैराग्य के लक्ष्य को सन्मुख रखकर साधु मुनिराजों की संगति तथा उनकी सेवाभक्ति में समय व्यतीत करने लगे।

संसारत्यागी महात्माओं और साधु-संतों की सत्संगति करते हुए हमारे चरित्र नायकजी को आत्मिक संतोष प्राप्त होने लगा। आगे चलकर जो व्यक्ति स्वयं आदर्श लोकोपकारी महात्मा बनने वाला हो उसका महात्माओं की संगति से सुख एवं संतोष का अनुभव करना नितान्त स्वाभाविक ही है।

संयोग वश इसी समय विक्रम सं. १९५० में आपके पूज्य पिता श्री का देहावसान होगया। आपको पितृवियोग का दुस्सह दुःख झेलना पड़ा। आपने अपने विचारों की गम्भीरता एवं सहज वैराग्य भावना की प्रबलता से शान्ति के साथ इस वियोग जन्य दुःख को सहन किया। तदनन्तर आपकी धर्मपरायणा

माताजी ने आपके सामने दीक्षा अंगीकार करने की अपनी अभिलाषा प्रदर्शित की उसके उत्तर में आपने कहा कि—माताजी ! आपने गृहत्याग कर संयमी जीवन व्यतीत करने की अपनी अभिलाषा प्रगट की है यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं भी आपके इस विचार के पूर्व ही स्वयं दीक्षा अंगीकार करने का निश्चय करचुका हूं। अपन दोनों साथ ही संयम स्वीकार करें। अपने हृदय को स्वाभाविक स्नेह के कारण चोट लगी। वे उत्तर देती हुई बोलीं "पुत्र अभी तुम्हारी अवस्था छोटी है। अभी तुम्हारा विवाह हुआ है। तुमने अभी दुनिया का अनुभव नहीं किया है। इसलिए पहले तुम मुझे अनुमति दो और तुम योग्य वय में इच्छानुसार त्यागमार्ग को अंगीकार करना" माता के उस कथन का आपके ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। आपके हृदय में वैराग्य का बीज तो विद्यमान था ही। अब अपनी माता के दीक्षा के विचार से वह वैराग्य बीज अंकुरित और पल्लवित होगया।

जब आपकी धर्मपरायणा माताने आपके वैराग्य-विषयक प्रबल भावों को सुना तो वह समझ गई कि अब यह गृहस्थावस्था में रहने वाला नहीं है। तदपि उन्होंने कहा कि तू अपनी धर्मपत्नी को उसके पीहर से लेआ और उसके साथ विचार विनिमय करके उसकी अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् दीक्षा का विचार करना। यदि तू उसे भी दीक्षा के लिए समझा सके तो अच्छा है नहीं तो उसकी अनुमति लेकर तू दीक्षित हो जाना। माताके कथनानुसार आप सुसराल गये और वहां से अपनी धर्मपत्नी को लेकर नीमच आगये। आपने अपनी पत्नी के सामने दीक्षा लेने की बात रखी। आपकी पत्नी ने इसे अस्वीकार करते हुए दलील पेशकी कि यदि तुम्हें दीक्षा ही लेनी थी तो विवाह क्यों किया ? पहले सांसारिक गृहस्थ-धर्म का पालन करो और फिर योग्य समय पर दीक्षा का विचार करना। पत्नी अपने निश्चय पर दृढ़ थी। खूब समझाने पर भी उसने अनुमति नहीं दी इधर आप भी अपने संकल्प पर दृढ़ थे। पत्नी की युक्ति भरी दलील का आपके वैराग्य से ओतप्रोत हृदय पर कुछ भी असर नहीं हुआ। पत्नी ने आपके वैराग्य को दूर करने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किये परन्तु आप पर जो रंग चढ़ चुका था वह भला कैसे उतरता ? पत्नी के विरोध से आपका वैराग्य और भी अधिक प्रबल हो उठा।

जब आपके प्रबल वैराग्य के समाचार आपके श्वसुर पूनमचंदजी को विदित हुवे तो वे बड़े क्रोधित हुए और नीमच आये। वहां आकर उन्होंने भी दीक्षा न लेने के लिये आपको खूब समझाया परन्तु आप पर उसका किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी बात को असफल जानकर पूनमचंदजी ने दूसरा ही मार्ग अपनाया। उन्होंने सरकारी अधिकारियों से कह सुन करके आपको हवालात में बैठा दिया। उनकी धारणा थी कि ऐसा करने से वे आपका वैराग्य दूर कर देंगे। हवालात में बैठा दिये जाने पर आपके श्वसुर वहां आये और व्यंग भरे शब्दों में बोले कि जमाईजी ! आनन्द में तो हो ! जगह तो पसन्द आई न ? यदि यहां नहीं रहना

चाहते हो तो यह इकरार करना पड़ेगा कि मैं दीक्षा नहीं लूंगा। आपने देखा कि यहां हवालात में बैठे रहने से तो मैं अपने लक्ष्य को नहीं पहुंच पाऊंगा अतएव उन्होंने आपद् धर्म समझकर अपने श्वसुर के वचन मान लिये और हवालात से मुक्त हुए।

आप श्री की प्रबल वैराग्य भावना के कारण आपके श्वसुर महाशय को इतना कर लेने पर भी संतोष न हुआ। उन्हें यह आशंका सताती रही कि कहीं यह चले न जांय। इन पर अपना पूरा निरीक्षण और नियंत्रण रखने की इच्छा से वे आपको व आपकी माता को अपने साथ धम्मोत्तर (प्रतापगढ़) ले आये। वहां इनकी प्रवृत्तियों पर पूरी पूरी देखरेख रखने लगे। अपनी मातुश्री के साथ आप धमोत्तर में अपना समय बिताने लगे। आपके हृदय में वैराग्य का संचार बराबर होता रहा परन्तु वह श्वसुर महाशय के निमित्त से बाहर प्रकट न होकर अन्दर ही बना रहा। जिस प्रकार अन्तर्मद वाले गजराज का मद बाहर न आकर अन्दर ही रहकर अपना प्रभाव व्यक्त करता है वैसे ही आपका वैराग्य हृदय में ही बना रहा।

एक बार किसी प्रसंग पर आपकी माता ने महासती श्री रंगूजी म. का वृत्तांत सुनाया। रंगूजी महासतीजी ने अपने बाल वैधव्य काल में शील धर्म पर आये हुए संकट का सामना करने के लिये प्राणोत्सर्ग करने का संकल्प कर लिया। जब आपने अपने शील की रक्षा का कोई दूसरा उपाय न देखा तो मकान की छत पर से गिरने का संकल्प किया और जब आप वैसा करने के लिये तैयार हुई तो क्या देखती हैं कि एक पुरुष खिड़की के पास ऊंट पर बैठा हुआ कह रहा है कि बहन! आओ ऊँट पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें तुम्हारे अभीष्ट स्थान पर पहुँचादूँ"। रंगूजी ने अपनी विवेक बुद्धि से यह जान लिया कि यह पुरुष अवश्य मेरा रक्षक है। वह ऊंट पर बैठ गई और थोड़े समय में ही उसने अपने आपको अपने पीहर में पाया। कोई शंकाशील प्राणी इस चमत्कार पूर्ण घटना की सत्यता में संदेह कर सकता है परन्तु यह सर्वथा सत्य घटना है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। पतिव्रताओं के शील में ऐसी गजब की शक्ति होती है कि वह ब्रह्माण्ड को हिला सकती है तो इसमें क्या आश्चर्य है! धन्य है शीलपरायणा महासती रंगूजी को। माता के मुख से रंगूजी की यह सत्य घटना श्रवण कर हमारे चरित्र नायकजी का हृदय वैराग्य से ओत प्रोत होगया। इनके हृदयस्थ वैराग्य को अधिक वेग मिला अब वह प्रबल वैराग्य हृदय में ही सिमित न रह सका। आखिर वैराग्य का प्रवाह सब बन्धनों को तोड़कर बाहर फूट पड़ा और आप वहां से योग्य मौका पाकर निकल गये।

—विरक्त के रूप में—

संसार की असारता को भलीभांति हृदयगंम करके तथा संसार क परित्याग का दृढ़ संकल्प करके आपने साधु मुनिराजों की सेवा भक्ति का लाभ लेने के लिए,

सद्गुरु की शरण में जाने के लिए तथा साधुचर्या का पूर्वानुभव करने के उद्देश्य से कई ग्रामों और नगरों में घूमना प्रारम्भ किया। आपने अपनी इस यात्रा में पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी म., श्रीलालजी महाराज, नन्दलालजी म. सा, हीरालालजी म. सा. पूज्य चौथमलजी म., रघुनाथजी म. सा., आदि प्रसिद्ध मुनिराजों के दर्शनों का लाभ उठाया और इन मुनिवरों की सेवा में रहकर साधु जीवन का पूर्व परिचय प्राप्त किया। उदयपुर में विराजमान श्री नन्दलालजी म० सा० की सेवा में रहकर आपने प्रतिक्रमण एवं दशवैकालिक के तीन अध्ययन सीख लिये। इसी तरह जहां आप मुनिराजों के दर्शन के लिये पधारे वहां आपने साधुजीवन की पूर्व भूमिका के रूप में त्याग एवं प्रत्याख्यान अङ्गीकार किये।

गृहस्थ एवं साधु के जीवन में आकाश पातालका अन्तर होता है। त्याग और भोग की दिशा ही न्यारी न्यारी है। भोग यशा से त्याग मार्ग में यकायक आजाना दुष्कर होता है। इसके लिये सतत क्रमिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। यदि व्यक्ति बिना विचार किये केवल आवेश के वशीभूत सहसा कोई परिवर्तन कर बैठता है तो वह परिवर्तन स्थायी नहीं होता। आवेश का वेग उतरते ही उसे अपने किये हुए कार्य से असंतोष मालूम होने लगता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपनी विवेक बुद्धि से विचार करके और खूब मनोमन्थन के बाद कार्य करता है तो उसमें स्थायित्व होता है। अतएव हमारे चरितनायकजी ने गृहस्थाश्रम के त्याग और साधुजीवन के अंगीकार करने में आवेश बुद्धि को परे रखा और पर्याप्त काल तक साधु की दिन चर्या एवं जीवन का सूक्ष्म निरिक्षण किया और जब आपने आत्म-परीक्षण करके यह जान लिया कि "मैं इस दुष्कर संयम के भार को वहन करने में सफल हो सकूँगा" तभी आपने त्यागी जीवन अंगीकार करने का संकल्प किया यही कारण है कि आप साधुजीवन की साधना में फलीभूत होकर साधु-शिरोमणि के रूप में पूज्यनीय हो सके हैं।

विभिन्न स्थानों पर परिभ्रमण कर साधु-जीवन का पूरा अनुभव प्राप्त कर लेने तथा अपने गहन मनोमन्थन के पश्चात् आप श्री ने गृहत्याग का दृढ संकल्प किया। परन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" की उक्ति प्रसिद्ध है। श्रेष्ठ कामों में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। यही बात आपकी दीक्षा के सम्बन्ध में भी बनी।

जैन शासन का यह विधान है कि कोई भी व्यक्ति अपने प्रमुख सम्बन्धियों की अनुमति के बिना दीक्षित न होना चाहिए। आपकी दीक्षा में आपकी धर्मपत्नी एवं आपके श्वसुर महाशय अन्तराय रूप थे। यह एक बड़ा भारी विकट विघ्न सन्मुख उपस्थित था। आपके श्वसुर दीक्षा के सख्त विरोधी थे। एकबार जब आप हीरालालजी म. सा. की सेवामें रहते थे तब करीग्राम (टोंक स्टेट) के श्रावकगण आपकी दीक्षा के सम्बन्ध में आपके श्वसुर महाशय की आज्ञा प्राप्त करने के उद्देश्यसे प्रतापगढ़ आये। उन श्रावक बन्धुओं ने जब आपके श्वसुर पूनमचन्दजी को बुलवाकर दीक्षा की आज्ञा की बात की तो वे लाल नेत्रकर बोले कि "खबरदार!

याद रखना ! मेरे पास दो नाली बन्दूक है एक नाल से गुरुको और दूसरी से शिष्य को परमधाम पहुंचादूंगा"। इतना सुनते ही वे श्रावक वहां से लौट आये और महाराज सा. को सब वृतान्त कह सुनाया। इस वृतान्त से पूज्य चौथमलजी म. सा. चमके और उन्होंने आपको दीक्षा देने से साफ इन्कार कर दिया। इसपर आप श्री हीरालालजी म. के साथ मन्दसौर आये और वहां सेवा में वैरागी के रूप में रहने लगे। आपकी माता भी मन्दसौर ही थीं।

एक दिन आपकी माता ने खूब सोच विचार कर आपसे कहा कि पुत्र ! यदि तेरी इच्छा हो तो अपने पास के सब आभूषण तेरे श्वसुर को दे आऊं और उनसे दीक्षा का आज्ञापत्र लिखवा लाऊं ताकि दीक्षा देने में किसी को आपत्ति न हो। उस पर आप सहमत होगये। आपकी माता उसी समय आपके श्वसुर के पास धम्मोत्तर गई और उनसे कहा कि मैं अपना कुल आभूषण तुम्हें देती हूं। तुम हम दोनों मां पुत्र को दीक्षा लेने के लिए अपनी अनुमति सूचक पत्र लिखदो।

यह बात आपके श्वसुर ने स्वीकार करली। उनके हृदय में कपट अपना काम कर रहा था। उन्होंने सब आभूषण लेलिये और यह लिख दिया कि मेरे समधिन (व्याणजी) यदि दीक्षा लें तो मेरी आज्ञा है लेकिन मेरे जमाई के लिए मेरी आज्ञा नहीं है। भोली माताने आपके श्वसुर के वचनों पर विश्वास करलिया था। वह इस छल कपट को न समझ सकी कि ये मुंह से कुछ और पढ़ते हैं और इस पत्र में कुछ और लिखा हुआ है। जब माताजी ने दूसरी जगह वह पत्र पढ़वाया तब उन्हें इस कुटिलता का भेद मालूम हुआ। किन्तु क्या करती ? वे मन्दसौर आकर अपने पुत्र से कहने लगी कि पुत्र ! अब कोई चिन्ता की बात नहीं ? मैं तेरे श्वसुर को तेरी पत्नी के लिए आभूषण दे आई हूं, अब वे यह न कह सकेंगे कि मेरी लड़की का कोई इन्तजाम न किया। अपन ने अपनी जवाबदारी अदा करदी। इसके पश्चात् दोनों-मां पुत्र हीरालालजी म. की सेवा में जावरे पधारे। वहां दीक्षा का प्रश्न आया परन्तु श्रीसंघने उसमें श्वसुर की आज्ञा न होने से आपत्ति की। इस तरह आपके दीक्षा ग्रहण में आये हुए विघ्नों का इतिहास बड़ा लम्बा चौड़ा है। परन्तु आपके द्वारा जैन समाज का ही नहीं अपितु समस्त मानव जाति का कल्याण होने वाला था अतएव विघ्न बाधाओं को पार करते हुए आपने अपने ध्येय में सिद्धि प्राप्त कर ही ली।

—दीक्षा—

आपके गुरुदेव श्री हीरालालजी म. सा. ने जावरे से विहार किया और ताल, उन्हेल होते हुए बोलिया ग्राम (इन्दौर रियासत) में पधारे उस समय दोनों माता पुत्र साथ ही थे। उस अवसर पर माता केशरांबाई ने विचारा की अब विलम्ब करना उचित नहीं है। अब गृहवास का परित्याग करके अनगार धर्म स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने आपसे कहा कि-पुत्र ! अब अवसर आचुका है। दोनों माता पुत्र

ने विचार विमर्श किया। तदनन्तर नदी के तटपर वट वृक्ष के नीचे संवत् १९५२ फाल्गुन शुक्ला ५ रविवार पुण्य नक्षत्र में आपकी माता ने आपको साधुवेश धारण कराया। जिस प्रकार प्राचीनकाल में वीर क्षत्राणियां अपने पुत्रको अपने हाथों से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करके प्रसन्नता के साथ रणसंग्राम में भेजती थीं ठीक इसी तरह धर्मपरायणा वीराङ्गना माता ने कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने पुत्र को संयम के साज से सज्जित किया।

साधुवेश धारण कराने के पश्चात् आपको गुरुदेव हीरालालजी म. के सन्मुख खड़ा करके माता केशरबाई ने प्रार्थना की कि "गुरुदेव! मैं आपको शिष्यरूप भिक्षा प्रदान करती हूं। आप इसे स्वीकार करके आभारी करें"। श्री हीरालालजी म. भलीभांति शिष्य की परीक्षा कर चुके थे अतएवं उन्होंने भिक्षा स्वीकार की हमारे चरित नायकजी को परम पावनी भागवती दीक्षा प्रदान की। इसके सातवें दिन पंच पहाड़ में आपकी बड़े समारोह के साथ बड़ी दीक्षा की क्रिया सम्पन्न हुई। इस प्रकार आपके जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। आपके जीवन की दिशा का परिवर्तन हुआ। आप अगारवास को छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हुए। आपने संकुचित कौटुम्बिक जीवन को छोड़कर सारे विश्व को अपना कुटुम्ब बनाया। अपने मर्यादित प्रेम को विश्वप्रेम के रूप में परिवर्तित कर दिया। अपने आपको विश्वमय बना लिया। विश्व की सेवा में अपने आपको लगा दिया। लोक-सेवा के लिए अपने सर्वस्व को ठुकराकर त्याग मार्ग का अवलम्बन लिया। सांसारिक सुखोपभोग के पर्याप्त साधनों के विद्यमान होते हुए भी लोक सेवा की अदम्य भावना से प्रेरित होकर कठिन तपोमय जीवन अङ्गीकार किया।

जैन साधु का जीवन अर्थात् स्व-पर कल्याण की साधना के लिए कठोर तपश्चर्या। जैन साधु अहिंसा, त्याग एवं तपश्चर्या की मूर्ति होते हैं। उनके हृदय विश्वप्रेम और लोकोपकार की भावना से ओतप्रोत होते हैं। संसार के छोटे से छोटे प्राणी के प्रति भी उनका प्रेम उमड़ा रहता है। इसी उज्जवल-प्रेम के कारण वे संसार के किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट न हो ऐसा ही कार्य करते हैं। वे अपने कार्यकलापों में इस बात का विशेष लक्ष्य रखते हैं कि उनके द्वारा संसार के लघुतम प्राणी को भी कष्ट न पहुंचने पावे। इसके लिए वे स्वयं कठिन से कठिन कष्टों का प्रसन्नता के साथ सामना करते हैं परन्तु अपने लिए वे किसी को कष्ट नहीं देते। इस विश्वप्रेम की कल्याण भावना से प्रेरित होकर वे असह्य दुःखों को हंसते हुए सहलेते हैं। जैन साधु कष्ट-सहिष्णुता एवं आत्मसंयम के अनुपम आदर्श हैं। हमारे चरित्र-नायकजी ने स्वपर-हित साधन के लिये जैन साधु का त्यागमय-जीवन अङ्गीकार किया।

धन्य हैं वे विरल विभूतियाँ! जो संसार के प्राणियों के सुख के लिए अपने सुखों को कुर्बान करती हैं। धन्य हैं वे महापुरुष! जो संसार के कष्टों को निवारण करने के लिए स्वयं कष्टमय जीवनयापन करते हैं। धन्य हैं हमारे चरितनायक

जिन्होंने नवपरिणीता प्रियतमा के प्रणय को ठुकरा कर भर यौवन में संयम का कठिन मार्ग अङ्गीकार किया। धन्य है यह वैराग्य! धन्य है यह अनासक्ति! धन्य है यह दृढ़ता! ऐसे संयम शील मुनिराज सचमुच धन्य हैं।

साधु जीवन का ध्येय स्व-पर कल्याण करना है साधु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है-साधयति स्वपर हित कार्याणीति साधुः-अर्थात् जो अपने और पराये हित साधन में निशदिन तत्पर रहता है वही साधु कहलाने का अधिकारी है। जो व्यक्ति जितने अंश में स्वपर हित साधन का काम करता है, वह उतने ही अंश में साधुता का पात्र होता। अब हम इस लेख की पंक्तियों में यह बताने का प्रयास करेंगे कि जैन दिवाकरजी ने किस प्रकार स्वपर हित साधन किया और उनके द्वारा विश्व का क्या उपकार हुआ।

—संयम की साधना एवं ज्ञानाभ्यास—

परम एवं चरम कल्याण की साधिका, परम पावनी भागवती दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् आपने अपनी सारी शक्ति अपने गुरुदेव की सेवा भक्ति एवं ज्ञानाभ्यास में लगा दी। "विनय धर्म का मूल है" यह समझ कर आपने विनय धर्म का विकास किया और अपने विनय व्यवहारों से गुरुदेव की प्रसन्नता एवं प्रियता प्राप्त की। विनय के साथ ही साथ आपने ज्ञानोपार्जन की ओर विशेष लक्ष रखा। फलस्वरूप विनय और विद्या का मणि काञ्चन सा संयोग आप में दृष्टिगोचर होने लगा। जिनेन्द्र भाषित मुनि के आचार-गोचर का भले प्रकार पालन करते हुए आपने ज्ञानोपार्जन में अपने को तन्मय बनाया।

समस्त अनुभवी आप्त पुरुषों ने ज्ञान एवं क्रिया के द्वारा मोक्ष होना बताया है। एकान्त ज्ञान और एकान्त क्रिया मोक्ष के साधक नहीं हो सकते। क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है और ज्ञान के बिना क्रिया अन्धी है। ज्ञान और क्रिया का सहयोग ही मोक्ष का कारण है इस इसीलिये "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" कहा गया है। आपके संयमी जीवन का लक्ष भी यही सूत्र रहा है। ज्ञान और क्रिया की निर्मल आराधना ही को आपने संयम का लक्ष बनाया और इसी लक्ष की ओर आप क्रमशः आगे बढ़े और बढ़ रहे हैं।

यौवन के विकास काल में संयम की साधना करना तलवार की धार पर चलने से भी विशेष कठिन है। अनुभव बताता है कि विरले ही ऐसे मानवी होते हैं जो भर यौवन में इन्द्रिय-दमन का आदर्श उपस्थित करते हैं। भर जवानी-जबकि इन्द्रियों की उच्छृंखलता दुर्दम्य होती है संयमपूर्वक ज्ञानोपार्जन करना बड़ी भारी विशेषता रखता है। इस अवस्था में इन्द्रियों और मन पर विजय पाना सचमुच टेढ़ी खीर है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये आगम की गाथा दी है "मणो साहसि ओ-भीमो" गीता में अर्जुन अपने इस अनुभव को व्यक्त करते हुए कहता है:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायेरिव सुदुष्करम् ॥

अर्थात्—हे कृष्ण ! यह मन बड़ा ही चञ्चल, शुभ वृत्तियों को मथने वाला, बलवान और दृढ़ है। इसका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है। मैं ऐसा मानता हूँ कि जैसे वायु को रोकना अत्यन्त कठिन है इसी तरह मन का निग्रह करना भी अत्यन्त दुष्कर है। इस प्रकार जब अर्जुन मनोनिग्रह की अत्यंत कठिनता अनुभव करता है तो कृष्ण वस्तुतः मनोनिग्रह की कठिनाई को स्वीकार करते हुए तथा मनोनिग्रह के उपाय बताते हुए फर्माते हैं—

असंशयं महा बाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महापराक्रमी अर्जुन ! यह निस्सन्देह सच है कि मन की चञ्चलता का निग्रह करना बड़ा कठिन है तदपि हे कुन्तीपुत्र ! सतत अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिग्रह किया जा सकता है।

अर्जुन के समान महापराक्रमी व्यक्ति भी मन की चञ्चलता के आगे हार मानता है तो साधारण प्राणियों का तो कहना ही क्या ? ऐसी अवस्था में यह सहज समझा जा सकता है कि जैन दिवाकरजी ने १७-१८ वर्ष यौवन की वय में मन का मन्थन करके उसे संयम और ज्ञान की ओर गतिशील बनाया यह कितना बड़ा भारी पुरुषार्थ है।

विक्रम सम्वत १६५२ में दीक्षा अङ्गीकार करने के पश्चात् संयम पूर्वक सतत अभ्यास और उत्कट जिज्ञासा वृत्ति के कारण आपने थोड़े ही समय में अनेक सूत्रों का अध्ययन कर लिया। स्वसमय का ज्ञान प्राप्त करके आपने पर समय के ग्रन्थों का भी भलिभांति वाचन, मनन और अध्ययन किया। बचपन से ही आपको पुस्तकों के पठन का बड़ा चाव है इसलिए विविध विषयों के ग्रन्थों एवं पुस्तकों के पढ़ने से आपका ज्ञान खूब विशाल हो गया। आपने आज "प्रसिद्ध वक्ता" के रूप में जो प्रसिद्धि प्राप्त की है वह आपके विशाल अध्ययन को आभारी है। विशाल अध्ययन के विना कोई भी व्यक्ति सद् वक्ता नहीं बन सकता। वक्ता बनने के लिए विशाल अनुभव और पर्याप्त परिशीलन की आवश्यकता होती है। आपका अध्ययन सर्वतोमुखी है। आपने जैन-सूत्र साहित्य का गहन अध्ययन किया है। बत्तीस आगमग्रन्थों का आपको विशाल ज्ञान है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों का, वैदिक सम्प्रदाय के वेदों और पुराणों का और मुस्लिम सम्प्रदाय के कुरआन शरीफ, हदीस शरीफ, गुलिस्तां बोस्तां, आदि का भी अध्ययन किया है। इस प्रकार आप स्वसमय और परसमय के अच्छे ज्ञाता बन गए। जैन दिवाकरजी

और जैनेतर तत्वों और सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं।

दीक्षा अंगीकार करने के समय से अबतक आपका सतत वाचन, मनन और अनुशीलन चालू है। लगभग पचास वर्षों के सतत वाचन एवं अनुभव से प्रत्येक व्यक्ति आपकी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य का सहज ही अनुमान कर सकता है। इस वढ़ी हुई उम्र में भी आपके वाचन एवं पठन का कार्यक्रम चलता रहता है। आपका अधिकांश समय ज्ञान ध्यान, एवं धार्मिक चर्चा तथा समाजोत्थान की वातों में ही वीतता है। इसलिए आपका ज्ञान बहुत विस्तृत एवं विशाल है आपकी विद्वत्ता एवं विषय प्रतिपादन शैली के कारणही आप एक सफल वक्ता बन सके हैं।

इस प्रकार हमारे चरितनायकजी ने ज्ञानोपार्जन किया। ज्ञान के विकास के साथ ही आप चारित्र धर्म के आचार विचार का बड़ी उग्रता के साथ पालन करते हैं। आपकी उत्कृष्ट चारित्र परायणता अन्य मुनियों के लिए आदर्श रूप है। यों ज्ञान और क्रिया के संयुक्त साधनों के द्वारा जैन दिवाकरजी ने संयम की आराधना की और आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाया, तथा पंच महाव्रतों का उग्रता से पालन करके आत्मा का विकास करते हुए स्वहित का साधन किया। अब परहित साधक के रूप में जैन दिवाकरजी की झांकी के दर्शन करिये।

—प्रसिद्ध वक्ता के रूप में—

जो व्यक्ति विश्व में महापुरूष के रूप में विख्यात होने वाला होता है, जिसका व्यक्तित्व असाधारण होता है तथा जिसका भावी उज्ज्वल होता है उसमें कुछ प्रकृति दत्त विशेषताएँ होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी शक्ति अथवा संस्कार नहीं होते कि वह विश्व में असाधारण पुरूष के रूप में विख्यात हो सके। प्रत्येक व्यक्ति भ० महावीर के समान तीर्थङ्कर नहीं होसकता, प्रत्येक व्यक्ति हेमचन्द्राचार्य के समान सब विषयों में निष्णात नहीं हो सकता, हरेक व्यक्ति नैपोलियन के समान साहसी नहीं होसकता। हरेक व्यक्ति महात्मागांधी नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि महापुरूषों में कतिपय विशेषताएं ऐसी होती हैं जो असाधारण होती हैं और वे प्रकृति की अनुपम देन होती हैं।

जैन दिवाकरजी में पाई जाने वाली वक्तृत्व की प्रतिभा ऐसी ही प्रकृति की अनमोल देन है। यही कारण है कि आप कुशल वक्ता हैं। अपनी मौलिक वक्तृत्व शक्ति के कारण ही जैन दिवाकरजी की इतनी सर्वव्यापिनी कीर्ति और प्रसिद्धि है। सचमुच आपके वक्तृत्व में कुछ ऐसा जादू है कि वह श्रोताओं को मंत्र मुग्ध बना लेता है। जैन दिवाकरजी के गुणों की मणि-माला में वक्तृत्व का गुण सर्वाधिक आकर्षक एवं मनोहर है। इस वक्तृत्व के चमत्कार ने आपकी गुणगरिमा को चार चांद लगा दिये हैं। आपकी वक्तृत्व शैली के आकर्षण ने आपको बहुत ही उच्चपद

पर प्रतिष्ठित कर दिया है। आप स्वभाव सिद्ध वक्ता हैं।

दीक्षा अङ्गीकार करने के प्रथम वर्ष में ही आपको व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त हुआ। छावनी (झालावाड़) का चातुर्मास शान्ति और आनन्द के साथ पूर्ण होने पर श्रीमान् हीरालालजी म. ने वहां से विहार किया। उस समय आपके साथ चैनरामजी म. तथा कालूरामजी म. भी थे, गुरुदेव ने साधु-समुदाय के दो विभाग किये और चैनरामजी म. और चौथमलजी म. को छोटे २ गावों में होते हुए कोटा पधारने की आज्ञा दी। दोनों मुनिवर कोटा पधारे। तब दोनों मुनियों में यह विचार होने लगा कि व्याख्यान कौन वांचेगा? उस समय श्रीमान् चौथमलजी म. ने कहा कि कोई विचार की बात नहीं, मैं व्याख्यान वांचूंगा। वहां आपने दो व्याख्यान दिये। आपके ये प्रारम्भिक व्याख्यान भी जनता को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुए। इसके पश्चात् हीरालालजी म. सा. भी पधार गये। कुछ दिन के पश्चात् जब वहां से विहार की तैयारी होने लगी तो वहां के श्रावक कहने लगे कि नये महाराज (चौथमलजी महाराज) के मुख से एक व्याख्यान सुनने की हमारी और इच्छा है। इस पर से यह समझा जा सकता है कि प्रारंभ से ही आपकी व्याख्यान शैली कैसी हृदय-ग्राही एवं आकर्षक थी।

संवत १९५५ का चातुर्मास बड़ी सादड़ी में अपने गुरुदेव के साथ पूर्ण करने पर आप निम्बाहेड़ा और चित्तौड़ होते हुए पारसोली (मेवाड़) पधारे।

वहां के रावजी सा. रत्नसिंहजी जो श्रीमान् मेदपाटेश्वर, मेवाड़ाधीश हिन्दु-आसूर्य महाराणा साहब के सोलह जागीरदारों में से एक थे-जैन धर्म के बड़े अनुरागी थे। आप जैन मुनियों को बड़े आदर और भक्ति की दृष्टि से देखते थे। उनकी मान्यता थी कि जैन साधुओं के जैसा त्याग और उच्च एवं आदर्श आचरण अन्यत्र नहीं पाया जाता। रावजी सा० के हृदय में जैन धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा और भक्ति थी इसका श्रेय पं० मुनि श्री नन्दलालजी म० सा० सरल स्वभावी कविवर श्री हीरालालजी म० सा० आदि मुनिराजों को है, जिनकी सत्संगति के कारण रावजी सा. को जैनधर्म के प्रति अनुराग हो गया। केवल अनुराग ही नहीं, वरन् आपका व्यवहार भी ऐसा उत्तम हो गया था कि आपको जैन श्रावक-कहना अत्युक्ति पूर्ण नहीं है। शिकार करने का विचार तो उनके दिल से निकल ही गया था। उनका स्वभाव बड़ा ही सरल था। जब हमारे चरितनायकजी ने वहां व्याख्यान दिये तो उक्त रावजी साहब बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि-"आपने जो व्याख्यान दिये वे बहुत ही उत्तम हैं। आपके व्याख्यानों को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है और मुझे पूर्ण विश्वास होगया है कि यदि आपकी यही गति रही तो गुरुदेव के शुभाशीर्वाद से समय पाकर जैनसिद्धान्त के धार्मिक क्षेत्र में आपका मुख्य और अत्यन्त आदरणीय स्थान होगा।"

रावजी सा. के इन वाक्यों पर से सुज्ञ पाठक भलीभांति समझ गये होंगे कि

दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में भी जैन दिवाकरजी की व्याख्यान शैली कैसी अद्भुत थी। वस्तुतः रावजी सा. के कथनानुसार ही हुआ और आज हमारे चरितनायकजी का स्थान जैनधर्म के मुनि उपदेशकों में अग्रगण्य है।

इसके थोड़े समय पश्चात् आप मन्दसौर पधारे। अन्य मुनियों के आग्रह से श्री चौथमलजी म. सा. ने व्याख्यान दिया। मन्दसौर में मोतीलालजी वागिया एक शास्त्रवेत्ता श्रावक थे। ये श्रावक महोदय हमारे चरितनायकजी को वैराग्यावस्था में कहा करते थे कि ' चौथमलजी ! तुममें साधु होने के लक्षण नहीं हैं"। परन्तु आज श्री चौथमलजी म. सा. के व्याख्यान को श्रवण करके आप दंग रह गये। हमारे चरितनायकजी ने वहां धाराप्रवाह व्याख्यान दिया। आचारांग सूत्र का अस्खलित उच्चारण करते हुए उसका सुन्दर विवेचन किया। श्री वागियाजी श्रावक भगवती सूत्र, पन्नवणा सूत्र आदि आगमों के तत्त्वों के वेत्ता थे। उनकी उपस्थिति में बहुत से साधु तक सूत्र वांचने में झिझका करते थे। लेकिन हमारे चरित्रनायकजी ने सुन्दर शैली से शास्त्रीय व्याख्यान फर्माया जिसे श्रवण करके उक्त श्रावकजी को कहना पड़ा कि " महाराज सा० आपने थोड़े ही समय में अच्छा परिश्रम किया और खूब योग्यता सम्पादन की। हम ऐसा नहीं समझते थे कि आपके व्याख्यान की शैली इतनी हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक हो जायगी। वैराग्यावस्था में आपसे मैंने जो शब्द कहे थे उनके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूं।" यह आपके आरम्भिक व्याख्यानों की हृदयग्राहिता का प्रमाण है।

नीमच और नाथद्वारा के संस्मरण

संवत १९५९ का चातुर्मास नीमच नगर में हुआ। वहां आपके उपदेशों के द्वारा बहुत उपकार हुआ। जनता आपके व्याख्यानों को सुन कर चकित हो जाती थी। शहर में आपके व्याख्यानों की धूम थी। नीमच आपकी जन्मभूमि है इसलिए नीमच निवासियों को इस गौरव का अनुभव होने लगा कि हमारी इस भूमि ने कैसे अनमोल रत्न को जन्म दिया। शहर में सब जगह यही चर्चा होने लगी कि हम नहीं समझते थे कि चौथमलजी दीक्षा लेकर ऐसे विद्वान् एवं वक्ता होजावेंगे। ये तो गुदड़ी में छिपे हुए रत्न निकले। इन्होंने अपने नगर को एवं माता पिता के गौरव को बढ़ाया है। वैराग्य अवस्था में तो नर-नारी इनका उपहास किया करते लेकिन अब तो बात ही कुछ और होगई। सर्वत्र आपके चमत्कारपूर्ण उपदेशों की भूरि भूरि सराहना होने लगी। इस प्रकार नीमच नगर में आप प्रसिद्धवक्ता के रूप में समाज के सामने आये।

नीमच का चातुर्मास सानन्द पूर्ण होनेपर आप छावनी जावद, अट्ठाणे, निम्बाहेड़े आदि स्थानों को पावन करते हुए चित्तौड़ पधारे। मार्ग में जैन अजैन, मजदूर, काश्तकार आदि सभी बहुत बड़ी संख्या में आपके उपदेश—श्रवण का लाभ लेते थे। अट्ठाणे के रावजी सा. ने आपके व्याख्यानों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

आप छोटे बड़े सभी ग्रामों को पावन करके अपने उपदेशामृत का सर्वसाधारण को दान करते थे। चित्तौड़ से आप नाथद्वारा पधारे। नाथद्वारा विष्णुपुरी के नाम से प्रसिद्ध है। यह वैष्णवों का बहुत बड़ा तीर्थस्थान है। यहां स्थानकवासियों के बहुत कम घर हैं। जब महाराज श्री नाथद्वारा पधारे तब वहां के श्रावकों ने अपनी अपनी दुकानों पर ही खड़े होकर वन्दना की। उतरने का स्थान पूछने पर उत्तर मिला कि द्वारका-धीश की खड्ग पर। तब महाराज श्री वहीं जाकर ठहरे। दूसरे दिन प्रातःकाल आपका व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में केवल जैन सम्प्रदाय के मनुष्य ही व्याख्यान में आये क्योंकि व्याख्यान का स्थल एकान्त में था। स्थान की एकान्तता के कारण अधिक लोग व्याख्यान श्रवण का लाभ न लेसके। हां, व्याख्यान सुनने पर श्रावकगण तो लट्टू होजाते थे। एकदिन प्रसंगवश आपने वहां के श्रावकों से अन्यस्थल में जहां सर्वसाधारण जनता व्याख्यान श्रवण का लाभ लेसके, व्याख्यान करवाने का संकेत किया। इसपर लोगों ने कहा कि महाराज! बाजार का नाम न लिजिए, यह तो विष्णुपुरी है। प्रथम तो अजैन लोग आवेंगे ही नहीं यदि आभी गये और कोई कुछ प्रश्न कर बैठा तो आप क्या उत्तर देंगे। आपको दीक्षा लिये अभी थोड़ा ही समय हुआ है इसलिये जैसा चल रहा है वैसा ही चलने दीजिये। वहां के श्रावकगण आपकी प्रतिभा से अज्ञात थे इसलिए उन्होंने ऐसा उत्तर दिया। इस पर महाराजश्री ने फर्माया कि आप चिन्ता न करिये। गुरुदेव के प्रताप से सब ठीक होगा। हम गुरुदेव की आज्ञानुसार स्वतन्त्र विचरते हैं तो तदनुकूल योग्यता होगी तभी तो ऐसा करते हैं। जो कोई शंका करेगा उसकी शंका का हम योग्यतानुसार उत्तर देंगे। धर्म प्रचार करना हम साधुओं का कर्तव्य है। अगर इस तरह से शंका भय और संकोच से काम करें तो धर्म के प्रचार का आशय पूर्ण नहीं हो सकता। यह विष्णुपुरी है इसलिए यहां जैन धर्म के तत्वों का प्रचार करने की अधिक आवश्यकता है"। महाराजश्री के ऐसा कहने पर भी वहां के श्रावकों को संतोष न हुआ। उनके हृदय में शंकाओं ने स्थान कर लिया था। उसी समय उदयपुर निवासी राजमलजी ताकड़िया ने महाराजश्री से प्रार्थना की कि लिलियाकुण्ड नामक स्थल व्याख्यान के लिये बड़ा अनुकूल है। महाराजश्री भी व्याख्यान के समय पर लिलियाकुण्ड की पेढ़ी पर जा विराजे और राजमलजी सन्मुख ही व्याख्यान सुनने के लिये बैठ गये। व्याख्यान आरंभ होने पर श्रावकों को विदित हुआ तो उन्होंने इसे ठीक नहीं समझा। उनका हृदय शंकाओं से कांपने लगा। किसी प्रकार १०-१२ श्रावक श्राविकाएं वहां उपस्थित हुईं। लगभग २०-२५ अजैन भी आये। महाराजश्री का व्याख्यान अजैनों को बड़ा रुचिकर लगा। दूसरे दिन १५०-२०० अजैन व्याख्यान में आये यह देखकर श्रावकों की शंका दूर हुई और अब वे प्रसन्नता के साथ अधिकाधिक संख्या में योग देने लगे। उत्तरोत्तर श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी। केवल पांच ही व्याख्यानों के होने पर श्रोताओं की भीड़ उमड़ पड़ी। हजारों की संख्या में लोग आपके व्याख्यानों में उपस्थित होते। शहर में जैन श्रावकों की

विनती की। उनके अत्यन्त आग्रह भरे शब्दों के कारण आपने विनती स्वीकार की और सं. १९७१ का चातुर्मास आगरे में किया। वहां प्रतिदिन आपके ओजस्वी व्याख्यान होते जिनका स्थानीय जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार आगरा में आपके व्याख्यानों की खूब धूम रही।

वक्तृत्व शक्ति की लाक्षणिकता

जैन दिवाकरजी महाराज की देश व्यापिनी कीर्ति और प्रसिद्धि का मुख्य कारण आपकी वक्तृत्व शक्ति की लाक्षणिकता है। इस मौलिक शैली ने आपको बहुत उच्च पद पर प्रतिष्ठित करादिया है। वास्तव में सुन्दर वक्तृत्व-शैली में गजब की शक्ति होती है। दूसरों पर प्रभाव डालने में वक्ता अपनी सानी नहीं रखता। सद्वक्ता अपनी उस शक्ति के कारण युगान्तरकारी परिवर्तन कर देते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वक्ता ने अपने वक्तृत्व द्वारा दुनिया के इतिहास को बदल दिया है। विजयी सिकन्दर जब एक के बाद एक देशों पर विजय पताका फहराता हुआ भारत पर आक्रमण करने के लिए आया। तब उसकी विशाल सेना निरन्तर संग्राम करते रहने से ऊब चुकी थी। वह भारत न आकर पुनः यूरोप लौट जाना चाहती थी, सारी सेना आगे बढ़ने से इन्कार कर रही थी।" हम नहीं लड़ेंगे, हम नहीं लड़ेंगे" के शब्द सभी सैनिकों के मुख से निकलते थे। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो वह निराश और हताश हो जाता। लेकिन सिकन्दर ने एक ऊंचे स्थान पर खड़े होकर अपना भाषण शुरू किया। विजयी सिकन्दर के भाषण ने हताश बनी हुई सेना में नवीन प्राण का संचार कर दिया। जो सेना थोड़े ही क्षण के पहले "हम नहीं लड़ेंगे" के सूत्र पुकारती थी वही सेना बड़े उत्साह के साथ आगे बढ़ने के लिए उत्सुक हो उठी। निराश और हतवीर्य बने हुए सैनिकों के भी भुजदण्ड फड़कने लगे। सहसा यह परिवर्तन ! आश्चर्य ! महा आश्चर्य ! कहना न पड़ेगा कि यह सारा वक्तृत्व शक्ति का चमत्कार है।

वक्तृत्व शक्ति के चमत्कार को कौन नहीं जनता ? बड़े राष्ट्रों का निर्माण तलवार के बलपर नहीं अपितु वक्तृत्व के बलपर होता है। राष्ट्र, जाति औरसमाज का उत्थान तभी हो सकता है जब व्यक्तिगत उत्थान हो। क्योंकि व्यक्तियों से ही जाति, समाज एवं देश बनते हैं। व्यक्तियों को सुधरने पर जाति समाज एवं देश का सुधार स्वयमेव हो जाता है। एक सद्विचारक वक्ता अपने वक्तव्य के प्रभाव से हजारों ही नहीं बल्कि लाखों करोड़ों मानवों का सुधार कर सकता है। जैन दिवाकरजी ने अपने वक्तृत्व के द्वारा हज़ारों प्राणियों का सुधार किया है। आपके व्याख्यानों को श्रवण करते ही मानव हृदय में अलौकिक परिवर्तन हो जाता है।

आपके व्याख्यान मधुर, सरल, मनोरंजक तथा प्रभावशाली होते हैं।

आपके व्याख्यान बड़ी सुललित, मधुर एवं हृदयग्राही भाषा में होते हैं। पता नहीं, आपके साधारण शब्दों में भी क्या जादू रहता है कि उपदेश का प्रत्येक शब्द कान के रास्ते अन्तर तक जा पहुंचता है और एक अपूर्व आह्लाद उत्पन्न करता है। जिस समय आप अपने प्रभावशाली शब्दों में उपदेश की वर्षा करते हैं तब श्रोतागण चित्रलिखित से रहजाते हैं; मानों किसी अद्भुत रस का पान करने में तल्लीन होरहे हों। श्रोता अपनी सुधबुध भूलकर ऐसी तन्मयता के साथ आपके उपदेशामृत का पान करते हैं कि हजारों की उपस्थिति होने पर भी एकदम सन्नाटा सा छाया रहता है। आप जिस समय अपने हृदय-गत उद्गारों को सरल एवं सुबोध भाषा में व्यक्त करके श्रोताओं के कर्णपुटों में प्रवेश कराते हैं उस समय आपकी छटा एक अपूर्व रूप धारण करलेती है, जिससे श्रोताजनों का मन स्वाभाविक रीति से आपकी ओर आकर्षित हो जाता है।

आप जैन सिद्धान्तों के अच्छे ज्ञाता एवं विद्वान् हैं तथापि आप अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के द्वारा कदापि नहीं करते। अपने पाण्डित्य को शब्दों में भरकर आप श्रोताओं के कानों में उसे जबर्दस्ती कभी नहीं ठूंसते। कठिन से कठिन बातको सरल और सुबोध भाषा में समझा देना पाण्डित्य का प्रमाण है। जैन दिवाकरजी की सरल विवेचन शैली आपके पाण्डित्य की परिचायक है।

प्रायः देखाजाता है कि एक वक्ता साधारण जनता पर तो खूब प्रभाव जमा लेता है परन्तु शिक्षित और विचारशील समुदाय पर उसका कोई खास असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार एक ऐसा वक्ता होता है जो शिक्षित समुदाय पर प्रभाव डाल सकता है परन्तु साधारण जनता में वह आदर नहीं पा सकता। जैन दिवाकरजी ऐसे वक्ता हैं जिनका प्रभाव साधारण जनता और शिक्षित वर्ग पर समान रूप से पड़ता है। सभी श्रेणियों के मनुष्यों पर आपके व्याख्यान का प्रभाव पड़ता है। यह आपकी एक मुख्य विशेषता है। हम देखते हैं कि मुनि महाराज के पास यदि आज एक धुरन्धर विद्वान् आता है तो कल एक अबोध किसान। कभी वे नगर निवासियों को उपदेश देते हैं तो कभी ग्राम निवासियों को। तात्पर्य यह है कि जैन दिवाकरजी के व्याख्यान ऐसी शैली से होते हैं जो सर्व प्रकार के मनुष्यों के लिए उपयोगी एवं लाभप्रद होते हैं।

जैन दिवाकरजी, न केवल प्रखरवक्ता ही हैं अपितु वे मानव-प्रकृति के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपके उपदेशों को सुनकर श्रोता यह समझने लगते हैं कि मुनि श्री हमारे हृदय के रहस्यों को जानते हैं और हमारे दुःखों के निवारक और पापों से त्राण करने वाले हैं। मुनि श्री अपने प्रवचनों में केवल पुस्तकीय एवं शास्त्रीय उद्धरण ही नहीं रखते वरन् वे अत्यन्त अनुभवों की पृष्ठभूमि पर मानव हृदय का परिष्कार करते हैं। वे साधारण अनुभवों के द्वारा भी ऐसी सचोट बात

कि वह श्रोताओं के हृदयतल को छू लेती है। रात दिन की साधारण बात को भी वे इस ढंग से प्रतिपादित करते हैं कि वह एकदम नवीन मालूम होने लगती है। तात्विक विषयों के प्रतिपादन में भी मनोरंजन का पुट लगा देना आपकी एक प्रमुख विशेषता है।

जैन दिवाकरजी ने तात्विक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक विषयों पर बड़ी गम्भीरता से विवेचन किया है एवं कर रहे हैं। मानवजीवन को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए आप भरसक प्रयत्न कर रहे हैं अतएव आपके व्याख्यानों के विषय भी तदनुकूल ही होते हैं। आपने बाल विवाह, वृद्ध विवाह, कन्याविक्रय, वरविक्रय, अहिंसा, धर्म, मांसाहार, मदिरापान, कुशील सेवन, संगति, एकता, संगठन, क्षमा, दया, सत्य, क्रोध, मोक्ष मार्ग, मनुष्यकर्तव्य, लोकसेवा, भक्ति, वैराग्य आध्यात्म, ज्ञान, प्रेम, आत्मज्ञान, दृढ़ता, इच्छाशक्ति, कर्तव्य पालन,, संसार की असारता, सामाजिक जीवन, दुराग्रहत्याग, सदाचार, विद्या, तपस्या का आदर्श, जीवन संग्राम में विजय, अतीतस्मृति, धार्मिक पतन, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय निग्रह, पर्यूषणपर्व और जैनधर्म, जैनधर्म की श्रेष्ठता, धर्म की तात्विक एवं व्यावहारिक मीमांसा, गार्हस्थ्य जीवन, मन की महत्ता, सत्यनिष्ठा, सुख का उपाय, आत्मसिद्धि, मंगलमार्ग, इत्यादि कतिपय आध्यात्मिक, सामाजिक व्यावहारिक एवं नैतिक विषयों पर गवेषणापूर्ण तथा अनुभवगम्य विवेचन किया है और कर रहे हैं। सामाजिक जीवन को ऊँचा उठाने के लिये आपने भगीरथ प्रयत्न किया है।

आपके प्रवचनों के प्रभाव से अनेकों आत्माओं का उद्धार हुआ है अनेकों विपथगामी व्यक्ति सन्मार्ग के पथिक बने हैं। पाप के भयंकर गर्त में गिरे हुए व्यक्तियों ने धर्म का आश्रय लिया। इस प्रकार मुनि श्री मानव जाति की नैतिक एवं धार्मिक प्रगति के लिये देवदूत का काम कर रहे हैं।

धार्मिक उदारताः—

आपके प्रवचनों की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि आप किसी भी धर्म का खंडन नहीं करते। आपका हृदय अत्यन्त उदार और सहिष्णु है। आपको किसी भी सम्प्रदाय या मजहब से घृणा या द्वेष तो है ही नहीं; साथ ही आप सभी को प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। आपका यह कथन है कि "मनुष्य को धर्म सम्बन्धी मतान्तरों के विवाद में न फँसकर कर्त्तव्य पालन की ओर लक्ष्य देना चाहिए। धर्म का उच्च आदर्श तो आत्मोन्नति एवं लोकसेवा है। इसी उद्देश्य से प्रवृति होनी चाहिए। दीन दुखियों के दुःखों का निवारण करना बहुत बड़ा धर्म है। आपकी इस धार्मिक उदारता के कारण आपके व्याख्यान में मुसलमान, ईसाई, आर्य समाजी एवं वेदधर्मावलम्बी इत्यादि सब मजहबों के व्यक्ति खूब रस लेते हैं। आपके

व्याख्यान सार्वजनिक होते हैं। आप विषयका इस रीति से प्रतिपादन करते हैं कि हर मतावलम्बी यह समझता है कि मुनि श्री हमारे ही धर्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं। आपकी यह धार्मिक उदारता बड़ी आदर्श एवं आदरणीय है। आज के युग में मत मतान्तरों मान्यताओं को झूँठी ठहराने और अपने आपको ही सच्चा सिद्ध करने का वृथा प्रयास करना हानिकारक है। धार्मिक विवादों का समय अब नहीं रहा। अब तो आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के मानसिक और व्यावहारिक जीवन को उन्नत बनाने वाले ही उपदेश दिये जायँ। जैनदिवाकरजी महाराज अपनी धार्मिक उदारता के द्वारा यह आवश्यकता पूर्ण कर रहे हैं। आपके प्रवचनों द्वारा जैन, मुसलमान, बोहरा, वैष्णव आदि की पारस्परिक सहयोग की भावना फली फूली है। प्रसंगवश यहां संवत् १९७९ के उज्जैन चातुर्मास में मुनि श्री की सेवा में रहने वाले मयाचंदजी महाराज के ३३ उपवास के तपः पूर्ति महोत्सव के अवसर पर वहां के अजैन बन्धुओं ने जो सहयोग दिया उसका उल्लेख करना अनुचित न होगा वह इस प्रकार है,—

तपस्वी श्री मयाचन्दजी म. ने ता. २६-७-२२ श्रावण शुक्ला ८ बुधवार से ३३ उपवास की तपश्चर्या प्रारम्भ की, जिसकी पूर्ति ३०-८-२२ भाद्रपद शुक्ला ८ बुधवार को थी। इस तपःपूर्ति महोत्सव के शुभ प्रसंग पर उज्जैन के कपड़े के मील, प्रेस, जीन, कसाईखाना इत्यादि बन्द रहने चाहिये एसा सोचकर श्रीसंघ का एक शिष्टमण्डल (डेप्युटेशन) विनोद मील के एजेन्ट बाबू मदनमोहनजी के पास गया। एक दिन मील बन्द रखने में रु ७०००) की हानि होती थी। तदपि दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी बाबू मदनमोहनजी ने उसकी पर्वाह न करके उस दिन मील बंद रखा। इसी प्रकार खान साहब सेठ नजरअली अल्लाबक्सजी के मील मालिक सेठ लुकमान भाई ने भी मील बंद रखा। इस्लाम के अनुयायी होने पर भी आपने इतनी उच्च सहयोग की भावना प्रदान की। इतनी ही नहीं किन्तु उक्त अवसर पर मोहर्रम के दिन होने पर आपने जाति भोज में भी मीठे चावल बनवाए। अर्थात उस दिन जाति भोज के लिए भी उन्होंने किसी तरह का अभक्ष्य (मांसादि) वस्तु का उपयोग नहीं किया। इस प्रकार १०० बकरों को अभयदान मिला। कहने का तात्पर्य यह है कि अजैनों में भी इतनी सहयोग की भावना उत्पन्न हुई इसका श्रेय जैन दिवाकरजी की प्रभावमयी वाणी को ही है।

तपः पूर्ति के दिवस महाराज श्री का "अहिंसा परमो धर्म" पर प्रवचन हुआ जज साहब मौलवी फाजिल, जज साहब मिस्टर चौबे आदि प्रतिष्ठित सज्जनों ने व्याख्यान का लाभ लिया। व्याख्यान समाप्त हो जाने पर जज साहब ने कहा कि अपने व्याख्यानों एवं उपदेशों के द्वारा कौमी एकता का वातावरण तैयार करने का प्रयास करके श्रीजैन दिवाकरजी म. राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं।

व्याख्यानों का प्रभाव क्यों !

जैन दिवाकरजी म. के व्याख्यानों की सर्वत्र धूम रहती है। जहां जैन दिवाकरजी म. का पदार्पण होता है वहां नई चहलपहल हो जाती है, धार्मिक जागृति की लहर दौड़ जाती है। छोटे गांव हों अथवा बड़े शहर हों, जहां आप श्री का पदार्पण हुआ या होता है वहां किसी उत्सव के समान ठाठ जम जाता है। लोगों के झुण्ड के झुण्ड आपके दर्शनों के लिए आते हैं और आपके व्याख्यान रूपी अमृत का आस्वादन कर अपने आपको धन्य मानते हैं यह किसी एक स्थान विशेष की बात नहीं वरन् सर्वत्र ऐसा होता है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि आपके भाषण में इतना प्रभाव क्यों है ?

इसका समाधान यह है कि व्याख्याता का प्रभाव उसके व्यक्तित्व, आत्मबल, त्याग, माधुर्य, उत्साह, भाषण-शैली, वाक्य रचना तथा सबसे अधिक उसके हृदय की शुद्धि पर निर्भर है। यदि वक्ता का हृदय दुखियों के दुख से दुखित, अत्याचारियों के अत्याचार से विक्षिप्त, तथा पापियों के पाप से पीड़ित है, यदि वह पीड़ित मानवता की दुर्दशा पर आंसू बहाता है, यदि वह अज्ञान एवं दुख के गहन अन्धकार में पड़ी हुई मानव जाति के साथ पूर्ण करूणामयी सहानुभूति रखता है और यदि वह दुखियों को दुख से छुड़ाने के लिए दृढ़ संकल्प कर चुका है तो क्या यह सम्भव है कि उसकी वाणी में अलौकिक शक्ति, उसके शब्दों में आध्यात्मिक चमत्कार, उसके विचारों में प्रतिभा, उसके भावों में सत्यता और उसके चरित्र में विचित्रता एवं विशेषता न हो ?

जो व्यक्ति दुखियों के प्रति सहानुभूति रखता हो, जो उन्हें दुख से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हो, जो दूसरों को दुख मुक्त करने के लिए स्वयं तपोमय जीवन यापन करता हो और जो जैसा कहता है वैसा ही आचरण करता हो उसके वचनों में यदि अनुपम चमत्कार हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे सद्गुणों से अलंकृत व्यक्ति दुनिया में नयायुग उपस्थित करने की क्षमता रखता है।

जैन दिवाकरजी के भाषण के प्रभाव का कारण आपका अति उच्च चरित्रबल और सरल स्वभाव भी है। आप पंच महाव्रतों एवं मूल उत्तर आचार विचारों का का बड़ी सावधानी से पालन करते हैं। आपके हृदय में राग द्वेष की भावना नहीं सी है, अतएव आपका आत्म-बल अत्यन्त उच्च कोटिका है। ऐसे आत्म बल सम्पन्न सुवक्ता की वाणी को नरनारी बड़े चाव एवं रुचि के साथ श्रवण करें, उसके पवित्र हृदय से निकलने वाली वाणी—सुधा का पान करने के लिए अपार भीड़ उमड़ पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? संसार में दूसरों को उपदेश देने वालों की संख्या अल्प नहीं है परन्तु जो उपदेश का स्वयं पालन करते हों, जो जैसा कहते हैं वैसा ही पालन करते हों ऐसे व्यक्तियों की बड़ी कमी है। सुधारक वही कहा जा सकता है जो अपने से ही सुधार का आरम्भ करे। उसका अमिट

प्रभाव पड़ता है जो अपने शुद्ध आचरण द्वारा अपने व्यक्तिगत जीवन को आदर्श बनाले। जो व्यक्ति स्वयं पाप का सेवन करता है और वह सभा में खड़ा होकर उस पाप कर्म को न करने का उपदेश करता है तो उसका कोई असर नहीं होसकता। उसका उपदेश करना केवल प्रलाप मात्र है। "खुदरा फजीतह दीगरा नसीहत" "आप खावे काकड़ी दूजों को दे आखड़ी" इत्यादि लौकिक कहावतों के अनुसार काम करने वाले व्यक्ति का कदापि प्रभाव नहीं पड़ सकता है। समाज पर या व्यक्तियों पर उसीका असर पड़ सकता है जो सदाचार सम्पन्न हो। जैन दिवाकरजी म० ने अपने जीवन को पवित्राचार, दृढ़ आत्म संयम एवं उत्कृष्ट तपोमय जीवन के द्वारा अति उच्च श्रेणी पर स्थापित कर लिया है। यही कारण है कि उनके वचनों में इतना प्रभाव और शक्ति है। यही कारण है कि सफलता उनके आगे हाथ बांध कर खड़ी रहती है और वे जनता की रुचि के प्रवाह को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वसाधारण पर जैन दिवाकरजी का इतना प्रभाव कैसे पड़ता है। साधारणतया लोग व्याख्यान के सूक्ष्म तर्क, अकाट्य प्रमाण, गम्भीर गवेषणा, ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रमाणों के लम्बे चौड़े वर्णनों की अपेक्षा सच्चे हृदय से निकले हुए उत्साह एवं सहानुभूति, आशा और आश्वासन पूर्ण स्पष्ट सुबोध एवं व्यवहारोपयोगी वाक्यों से अधिक प्रभावित होते हैं। वचनों की सरलता और सुबोधता का विशेष असर होता है। उपदेशक की बाहरी आकृति और शब्द का लालित्य निस्संदेह बड़े महत्व की वस्तु हैं तदपि सबसे अधिक महत्व और मूल्यवान वस्तु विषय की आन्तरिक आत्मा है।

जिस व्यक्ति को जैन दिवाकरजी म. का एक भी प्रवचन सुनने का सुअवसर मिला है वह भली भांति जानता है कि आप अपने प्रवचनों में ऐसी ही बातों का निर्देश करते हैं जो जीवन को ऊँचा उठाने के लिए परमोपयोगी हों। काल्पनिक पुराणों एवं दार्शनिक चर्चाओं की भूल भुलैयों में आप श्रोताओं को नहीं उलझाते, बल्कि उनके सामने ऐसे विषयों को उपस्थित करते हैं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन विकास की ओर अग्रसर होसके। व्यक्तियों का व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, जातीय, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन उच्च कोटि का हो, यही आपके व्याख्यानों का आशय रहता है। इसीलिए सर्वसाधारण पर जैन दिवाकरजी के व्याख्यानों की एवं उच्च कोटि के पवित्र आचारण की गहरी छाप अंकित हुई है और हो रही है। आपके पवित्र उपदेशों के द्वारा अनेक आत्माओं ने अपना कल्याण सिद्ध किया। अतएव आपका प्रभाव सर्वसाधारण पर हो इसमें कोई नवीनता नहीं है।

—धर्म-प्रचारक के रूप में—

इस कथन में अल्प भी अतिशयोक्ति नहीं है कि अर्वाचीन जैनधर्म के इतिहास में जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमलजी म. का धर्म-प्रचारक के रूप में बहुत ही

ऊँचा स्थान है। आपने अपने दीक्षा काल से लगाकर अद्यावधि भगवान् महावीर के अहिंसा एवं सत्य के सिद्धान्तों का समस्त भारत में प्रचार किया। आपके सुमधुर एवं रसीले प्रवचनों के कारण आपको अपने प्रचार कार्य में असाधारण सफलता प्राप्त हुई एवं हो रही है। आपके शब्दों में ऐसा अद्भुत जादू भरा हुआ है कि श्रोता चित्रलिखित से बनकर आपके वचनामृत का पान करते हुए नहीं अघाते। इस अद्भुत वक्तृत्व शैली के कारण आपने दूर दूर प्रान्तों में जैनधर्म का प्रचार किया और उसके सिद्धान्तों के रहस्यों का दुनियां को ज्ञान कराया। आपने अपने प्रवचनों द्वारा जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना की है। एक महान् शासन प्रभावक के रूप में आपका नाम जैनधर्म के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगा।

जैन दिवाकरजी की शैली भी बड़ी अनोखी एवं निराली है। अन्य धर्म प्रचारकों की अपेक्षा आपकी प्रचार शैली भी कुछ विशेषता रखती है। धनी निर्धन, राजा, रंक, उच्च-जातिय,हीन-जातीय इत्यादि सब प्रकार की जनता में आपने धर्म-प्रचार किया है। राणा-महाराणा, राजा महाराजा, ठाकुर, सेठ साहूकार एक ओर आपके परम पवित्र प्रवचन के पियूष का पान करके अपने आपको धन्य मानते हैं तो दूसरी ओर आप समाज में घृणा पात्र समझे जाने वाले, जातिमद के कारण ठुकराये हुए व्यक्तियों को भूल नहीं जाते। आप में जैन मुनि के योग्य साम्यभाव विद्यमान है। आप जिस भावना के साथ एक पुण्यशाली धनवैभव सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश प्रदान करते हैं उसी भावना से तुच्छ, हीन जातीय उपेक्षित, अपमानित एवं दीन गिने जाने वाले व्यक्तियों को भी उपदेश का दान करते हैं। जिस प्रकार सूर्य और चंद्रमा अपने प्रकाश के वितरण में ऊँच नीच का भेद नहीं रखते, जैसे मेघ की धारा भेदभाव बिना सर्वत्र समरूप से गिरती है इसी तरह जैन दिवाकरजी महाराज की उपदेश-धारा भी उच्चनीच का विचार किये बिना अभेदरूप से समस्त वर्गों पर बरसती है वे मनुष्यों को उपदेश प्रदान करते हुए किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखते। आप चमारों, खटीक और वेश्याओं तक को अपना पवित्र संदेश सुनाते हैं और उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। ऐसे समाज द्वारा उपेक्षित एवं अपमानित वर्ग में भी आप नैतिक एवं धार्मिक भावना भरते हैं। कितने ही हिंसकों ने आपके उपदेश से आजीवन हिंसा का त्याग किया है, कितने ही मांस भक्षकों ने मांस भक्षण को छोड़कर अपना कल्याण किया है, कितने ही शराबियों ने शराब त्यागी है तथा कतिपय व्यक्तियों ने गांजा,भांग, तमाखू आदि मादक द्रव्यों का त्याग किया है। आपके व्याख्यानों के द्वारा कतिपय समाजों की कुरीतियाँ दूर हुई हैं और उनमें सुन्दर रिवाजों का प्रचलन हुआ है। आपके द्वारा होने वाले उपकारों का विशद वर्णन आगे किया जावेगा।

महाराजश्री ने उंचे, नीचे, छोटे बड़े, जैन, अजैन आदि का किसी भी प्रकार

का भेदभाव न रखते हुए सभी श्रेणियों की जनता में भगवान महावीर की अहिंसा एवं सत्य का प्रचार किया है। सभी पर आपने जैनधर्म की श्रेष्ठता का प्रभाव डाला है। इसी तरह जैन अजैन सभी को अपने उपदेश से आभारी बनाया है। मानव जाति के नैतिक एवं धार्मिक धरातल को ऊंचा उठाने में आपने जो भाग लिया है वह सर्वथा प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

जैन मुनियों के कल्प के अनुसार उन्हें पैदल भ्रमण करना होता है। इस मुनिमर्यादा के अनुसार पैदल भ्रमण करते हुए भी आपने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में विहार किया है। आपके प्रचार का क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। मेवाड़, मालवा, मारवाड़, आदि राजपुताने के प्रान्त तो आपकी प्रधान विहार भूमि हैं ही, साथ में आपने दिल्ली, आगरा, कानपुर, बम्बई, पूना, अहमदाबाद, लखनऊ आदि दूरवर्ती नगरों तक परिभ्रमण करके वहां की जनता को लाभ पहुंचाया है एवं धर्म का प्रचार किया है।

कानपुर, लखनऊ इत्यादि यू. पी. प्रान्त के नगरों में स्थानकवासियों की संख्या नगण्यसी ही है, परन्तु जैन दिवाकरजी म. ने यहां भी अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा सत्य व अहिंसा धर्म का प्रचार करके शासन का महत्व बढ़ाया। आपके प्रवचनों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि कानपुर निवासी लाला फूलचंदजी ने जैन दिवाकरजी म. का चातुर्मास कानपुर में करवाने के लिये अत्यधिक आग्रह किया। धर्मप्रेमी लालाजी के आग्रह को मान देकर सं. १९९४ का चातुर्मास कानपुर में किया। इसके पहले कानपुर में किसी भी स्थानकवासी मुनि का चातुर्मास नहीं हुआ। यह सर्व प्रथम ही अवसर था कि कानपुर में स्थानकवासी जैन साधु का चातुर्मास हुआ। लाला फूलचंदजी सा. ने समस्त खर्च अपनी ओर से किया। लालाजी का धर्म प्रेम बड़ा ही सराहनीय है। इस चातुर्मास में दर्शनार्थी यात्रियों के लिये इतना सुन्दर प्रबन्ध लालाजी की ओर से किया गया था कि सब के मुंह से ये ही शब्द निकलते थे कि ऐसी सुन्दर व्यवस्था और दर्शनार्थियों का स्वागत अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

लालाजी ने अपनी धर्मशाला में चातुर्मास करवाया था। चातुर्मासकाल में जैनदिवाकरजी म. के व्याख्यानों में हजारों नर नारियों की भीड़ जमा हो जाती थी। कानपुर जैसे नवीन क्षेत्र में पं. मुनि श्री ने अपना ऐसा प्रभाव डाला कि स्थानीय जनता के हृदय में जैन धर्म एवं उसके साधुओं के प्रति गहरी श्रद्धा पैदा होगई।

शासन की प्रभावना के लिये चातुर्मास काल में विविध आयोजन हुए। जैन दिवाकरजी म. द्वारा संग्रहीत जिनेन्द्रदेव की पवित्र वाणी का संक्षिप्त संकलन रूप 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' ग्रन्थ के सन्मानार्थ निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह मनाने का आशय अपनी मान प्रतिष्ठा

एवं पूजा नहीं है अपितु जिनेन्द्र देव की वाणी का सन्मान करना ही है। ऐसे आयोजनों से तीर्थङ्करों की पवित्र वाणी का प्रचार होता है और सर्व साधारण को यह विदित होता है कि जैन शासननायकों ने दुनिया के कल्याण के लिये कैसा कल्याणकारी मार्ग का प्रदर्शन किया। इन दिनों में 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' का वाचन एवं विवेचन किया जाता है। जिसे श्रवण कर भव्य आत्माएं आत्मिक आनन्द के सागर में गोते लगाने लगती हैं। वे भव्यात्मा जीव इसे श्रवण कर आध्यात्मिक मस्ती से झूमने लगते हैं। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह के अन्तिम दिवस विराट जुलुस निकाला गया था। इसी चातुर्मास में जैन दिवाकरजी म० की सेवा में एक मुमुक्षु आत्मा की दीक्षा भी बड़े समारोह से हुई। इसी तरह उक्त अवसर पर कवि सम्मेलन का भी आयोजन हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि कानपुर जैसे नवीन क्षेत्र में जहां पहले कभी जैन मुनि का चातुर्मास नहीं हुआ जैन दिवाकरजी ने स्थानकवासी जैनधर्म की नींव दृढ़ की तथा भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

इसी तरह लखनऊ में स्थानकवासी का केवल एक ही घर है। जब आप श्री लखनऊ पधारे तब आपका किसी तरह का सत्कार नहीं हुआ लेकिन दूसरे दिन जब आपने व्याख्यान प्रारंभ किया तब दो चार श्वेताम्बर और एक दो भाई दिगम्बर सम्प्रदाय के ही आये परन्तु इसके पश्चात् तो श्रोताओं की संख्या अपने आप बढ़ती गई और हजारों पर पहुंच गई। दिगम्बर सम्प्रदाय की तरफ से व्याख्यान कराये गये और व्याख्यान के अन्त में सात दिन तक उनकी ओर से प्रभावना बाँटी गई। श्रीयुत् अजितप्रसादजी सा. जैन एडवोकेट ने आप श्री का एक व्याख्यान करवाया था। आपके व्याख्यानों का वहां ऐसा प्रभाव पड़ा कि वहां के नरनारी आप श्री से चातुर्मास की विनती करने लगे और हजारों रुपये खर्च करने के लिये तैयार होगये परन्तु कानपुर का चातुर्मास स्वीकृत हो चुकने से वहां चातुर्मास की विनती स्वीकृत नहीं हुई। जब जैन दिवाकरजी म. का वहां से विहार होने लगा तब सैकड़ों नर नारी आपको विदा देने के लिये कोसों तक साथ आये। विचारने की बात है कि जब आपका पदार्पण हुआ तब तो स्वागतार्थ कोई नहीं आया और जब विहार हुआ तब सैकड़ों स्त्री पुरुष साथ थे। यह है जैन दिवाकरजी म. के प्रवचनों का प्रभाव। लखनऊ में जैन दिवाकरजी म. ने अपने सिद्धान्तों का अच्छा प्रचार किया और उनका वहां काफी अच्छा असर पड़ा। इसी तरह संयुक्तप्रान्त के अन्य कतिपय ग्रामों एवं नगरों में घूम घूम कर आपने अपने धर्म का प्रचार किया।

कानपुर के चातुर्मास के बाद जब आप इटावा पधारे तो वहां कलकत्ता का डेप्युटेशन आप श्री को कलकत्ता पधारने के लिये विनती करने के लिये आया। लेकिन दूरी की अधिकता के कारण उधर पधारने की स्वीकृति आप न दे सके। तत्पश्चात् आप धर्म प्रचार करते हुए आगरा पधारे। वहां दिल्ली का श्रीसंघ चातु

मास की विनती करने के लिये आया। दिल्ली वालों का यह कहना हुआ कि वे पहले कभी किसी मुनिराज के पास डेप्युटेशन लेकर विनती मनवाने के लिये नहीं गये। आप श्री की सेवा में ही इतनी अधिक संख्या में उपस्थित हुए हैं। अतएव हमारे आग्रह को मान देना चाहिए। दिल्ली संघ का आग्रह होने से संवत् १९६५ का चातुर्मास दिल्ली में हुआ।

भारत की राजधानी दिल्ली में जब आप श्री का चातुर्मास था तब आपकी सेवा में एक जर्मन महोदय कुछ प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुए। वे सज्जन अंग्रेजी में बोलते थे और प्रोफेसर फूलचंदजी सा. दुभाषिये का काम करते। वे जर्मन महाशय की बात का हिन्दी में अनुवाद करके महाराज श्री को कहते और महाराज श्री जो फर्माते उसका अंग्रेजी अनुवाद करके उन महाशय को सुनाते। महाराज श्री के उत्तर से आगन्तुक महोदय को बड़ा संतोष हुआ। आगन्तुक महोदय एवं महाराज श्री के बीच जो प्रश्नोत्तर एवं वार्तालाप हुआ उसका पूरा विवरण अलग पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है अतएव यहां उनकी चर्चा करके पृष्ठों का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं।

दिल्ली के चातुर्मास में हिन्दूकुल सूर्य हिज हाईनेस महाराजाधिराज महाराणा साहेब श्रीमान् सर भूपालसिंहजी साहेब बहादुर के० सी० आइ० इ० ऑफ उदयपुर ने जैन दिवाकरजी म. सा. के व्याख्यान-श्रवण का लाभ लिया तथा चातुर्मास उदयपुर में करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया। इस पर जैन दिवाकरजी म. ने फर्माया कि साम्प्रदायिक विधिविधान के अनुसार फाल्गुन मास के पहले कहीं की भी चातुर्मास की विनंती स्वीकृत नहीं कर सकते, अतएव फाल्गुन के बाद जैसा अवसर होगा वैसा किया जावेगा। इसपर फाल्गुन महीने के पश्चात पुनः उदयपुर महाराणा साहेब ने अपने विश्वस्त राजकर्मचारी को भेजकर चातुर्मास का आग्रह करवाया। अतएव सं. १९९६ का चातुर्मास उदयपुर का स्वीकार किया गया।

यहां यह बताने का प्रयोजन इतना ही है कि जैन दिवाकरजी म. का प्रभाव नरेशों पर भी कितना अधिक है। नरेशों के राजमहलों से लेकर गरीबों के झोपड़ों तक जैन दिवाकरजी म. ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया और अहिंसा तथा नैतिक कर्त्तव्यों की ओर जन समुदाय का ध्यान आकृष्ट किया।

—नरेशोंपर आपका पुण्य प्रभाव—

वर्तमान जैनधर्म के प्रचारकों में से राजा महाराजाओं पर जितना जैन दिवाकरजी म. का प्रभाव है उतना अन्य किसी का भी नहीं यह निस्संदेह और बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है। आप कुछ ऐसे ही संस्कार लेकर अवतरित हुए हैं कि जो कोई व्यक्ति एक बार आपके सम्पर्क में आजाता है वह

आपकी भव्य मुखाकृति पर अङ्कित तेज से चौंधिया जाता है और सदा के लिए आपका अनन्य उपासक हो जाता है। आपके मुख मण्डल पर ऐसी आभा एवं प्रसन्नता नृत्य करती रहती है, कि बड़े बड़े व्यक्ति भी सहज ही आपकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। आपकी भव्याकृति के साथ ही साथ आपकी सरल प्रकृति भी दर्शक को मोहित किये बिना नहीं रहती। भव्याकृति, सरल प्रकृति एवं वाणी का प्रभावोत्पादक अतिशय ये ही सब कारण हैं कि बड़े २ नरेश एवं महाराजा भी आपके ऊपर अत्यन्त श्रद्धा रखते हैं। अपने इस पुण्य—प्रभाव के कारण जैन दिवाकरजी महाराजा सा. ने राजमहलों तक अहिंसा का संदेश पहुंचाया और अनेक राजाओं महाराजाओं तथा ठाकुरों को प्रतिबोध देकर हिंसा के पाप से उन्हें छुड़ाया और इस प्रकार असंख्य संत्रस्त प्राणियों को अभयदान दिलाने में आप मूल सहायभूत हुए।

जिन जिन नरेशों एवं महाराजाधिराजों ने आपकी व्याख्यान-सुधा का आस्वादन किया और फलस्वरूप जो धर्म का प्रचार हुआ उसका संक्षिप्त विवरण देना यहां अत्यावश्यक है। वह इस प्रकार है:-

हिन्दूकुलावतंस महाराजाधिराज महाराणा फतेहसिंहजी साहब

भगवान् महावीर के सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रामानुग्राम प्रचारित करते हुए, उदयपुर श्रीसंघ की अत्यन्त आग्रह भरी प्रार्थना को मान देकर जैन दिवाकरजी म. ३१-१२-१९२५ के दिवस उदयपुर शहर में पधारे। पं. मुनि महाराज श्री के स्वागतार्थ नरनारियों का विशाल समूह जयघोषण से गगनमण्डल को शब्दायमान कर रहा था। मेवाड़ की पाटनगरी में जैन दिवाकरजी म. के प्रवचन होने लगे। धर्मरूपी रंगभूमि के महारथी श्री जैन दिवाकरजी म. के प्रवचनों की गम्भीर गर्जना से पापियों के दिल दहल उठे। यह आप श्री का अतिशय पुण्य प्रभाव है कि जहां आप विराजमान होते हैं वहां धर्म की पवित्र धारा अस्खलित रूप से प्रवाहित होने लगती है। साथ ही साथ दया का महासागर कल्लोल करता हुआ तरंगित होने लगता है। उदयपुर में आपके प्रवचनों की धूम रही। सर्व धर्मानुयायी, जैन, वैष्णव, मुस्लिम, ईसाई-आपके भाषणों को अत्यन्त रस के साथ श्रवण करने आने लगे। सर्वत्र शहर में आपके व्याख्यानों की चहल पहल थी। जैन दिवाकरजी म. की यह प्रशंसा हिन्दूकुलावतंस हिज हायनेस महाराजाधिराज महाराणा साहिब श्रीमान् सर फतेहसिंहजी सा. बहादुर जी. सी. आई. ई. जी. सी. वी. ओ. महाराणा ऑफ उदयपुर तथा उनके सुपुत्र स्वनामधन्य श्रीमान् युवराज महाराजकुंवार सा. सर भूपालसिंहजी बहादुर. के. सी. आई. ई. के कानों तक पहुंची।

हिन्दु गौरव के आदर्श छत्रपति मेवाड़ाधिपति महाराणा सा. ने सर्व श्री फतेलालजी महोदय को सूचना की कि "महाराज श्री का शुभ पदार्पण महलों में

हिन्दुआ सूर्य स्व० महाराना श्रीफतहसिंहजी साहेब
उदयपुर (मेवाड़)



आपने—श्रीजैनदिवाकरजी म. के उपदेशों से प्रभावित हो
हमेशा के लिए ४ अगते पलवाने के पट्टे लिख दिये।

हिन्दुआ सूर्य महाराना श्री भूपालसिंहजी साहेब
उदयपुर (मेवाड़)



आपने—श्रीजैनदिवाकरजी म. के उपदेशों से प्रसन्न हो
हमेशा के लिए ४ अगते पलवाने के पट्टे लिख दिए।

करवाने की व्यवस्था करो"। श्रीयुत् फतहलालजी के द्वारा महाराणा सा. के संदेश के मिलने पर अपने शिष्यमण्डल सहित "शिवनिवास" नामक राजमहल में जैन दिवाकरजी म. का पदार्पण हुआ। श्रीमन्त महाराणा साहब ने विनय एवं भक्तिपूर्वक महाराज श्री का स्वागत किया। धर्मनायक एवं जननायक का पवित्र सम्मिलन हुआ।

प्रारम्भिक शिष्टाचार के पश्चात् जैन दिवाकरजी म. ने प्रबोध देना आरम्भ किया। महाराज श्री ने उपदेश प्रदान करते हुए फर्माया कि "हे मेवाड़ाधिपते राजन्! यह समस्त संसार पुण्य एवं पाप की लीलामात्र है। अच्छे कर्म करना पुण्य है और बुरे कर्म करना पाप है। दुनिया में जो कुछ सुख साधन हैं वे पुण्य है और बुरे कर्म करना पाप है। दुनिया में जो कुछ सुख साधन हैं वे पुण्य के फल हैं और जो अनिष्ट हैं वह पाप का परिणाम हैं। आपने अपने पूर्वभव में अनेक पुण्यकर्मों का उपार्जन किया है इसीलिए आप इतने विशाल राज्य के स्वामी बन सांसारिक सुखों का उपभोग कर रहे हैं। अनेक पूर्व संचित पुण्यों के एकत्रित होने पर आपको और हमको यह मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ हैं। संसार में छोटे २ कीड़ों और जन्तुओं की असंख्य राशि दृष्टिगोचर होती हैं। जैन शास्त्रों ने चौरासी लाख जीव योनियां बताई हैं। इन चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते जब पुण्य अत्यन्त प्रबल होता है तब यह देव-दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त होता है। यह मानव जीवन चिन्तामणि रत्न के समान अनमोल है। इसी शरीर से परमात्मपद की प्राप्ति हो सकती है। देवता भी इसे प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। ऐसा अनमोल रत्न सहसा आपके हाथ लग गया है अतएव इसका यथेष्ठ लाभ उठाना चाहिए।

हे राजन! मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घायु, पञ्चेन्द्रियों की सफलता, आरोग्य, उपदेशश्रुति, श्रद्धा तथा तदनुसार आचरण की योग्यता इतनी बातों का संयोग मिलना अति कठिन है। आपने पूर्व जन्म में अनेक शुभकर्म किये हैं इसलिये आपको ये साधन उपलब्ध हुए हैं। इसलिये आपको परभव के लिये भी विषेश पुण्योपार्जन करना चाहिए।

आप सूर्यवंशी हैं। यह सूर्यवंश भगवान् ऋषभदेव से चला आ रहा है। इस वंश के अनेकों नरेशों ने अपने तपोबल के द्वारा परमपद प्राप्त किया है। अब आप भी चतुर्थआश्रम की वय में है। इस आश्रम में प्रभु-भजन एवं आत्म चिन्तन के लिए उपयुक्त बनें। दीन दुखियों के प्रति दया की भावना प्रदर्शित कीजिए।

हे प्रजावत्सल नरेश! प्रजा का न्याय से पालन करना आपका कर्तव्य है प्रजा को अपने पुत्र के समान समझकर न्याय नीति से उसका पालन करना राजाओं का धर्म है। संसार में न्याय का प्रवर्तन करना, नीति की रक्षा करना, नरेशों का कर्तव्य है। राजा इसीलिए राजदण्ड को धारण करता है। हमारा उद्देश्य भी यही है कि हम जनता को पाप से बचावें। अकर्तव्य और अधर्म से

मनुष्यों को बचाने के लिये ही हमारा उपदेश होता है। इस नाते से आपका और हमारा एक काम है। अन्तर इतना है कि हमारा उपदेश प्रेम से होता है और आपका कार्य भय से। आप यदि चाहें तो अपार सुधार कर सकते हैं। मैं आपसे इतना कहना चाहता हूँ कि आप बड़े प्रेम के साथ अपनी प्रजा का पालन करें। दीन दुखियों के साथ करुणा और प्रेम का व्यवहार करें। हम साधु हैं। हमें किसी तरह की धन दौलत की इच्छा नहीं है। हम आपसे यही चाहते हैं कि आप अपने राज्य में अहिंसा धर्म का बन सके उतना पालन करावें। आपके राज्य में मूक पशुओं का वध नहीं होना चाहिए। "इत्यादि"।

इस आशय का जैन दिवाकरजी महाराज ने महाराणा साहब को प्रतिबोध दिया। इसे श्रवण कर महाराणा साहब अत्यन्त प्रसन्न हुए और उत्तर में निवेदन किया कि-आप श्री ने मुझे उपदेश सुनाकर बड़ी कृपा की है। आपके उपदेश से मुझे बड़ी प्रसन्नताहुई है और मैं चाहता हूँ कि आपके उपदेश के अनुसार कार्य करने की मुझमें शक्ति पैदा हो। आपकी जीवदया सम्बन्धी शिक्षा को सुनकर मुझे हर्ष हुआ है। इसके बाद महाराणा श्री ने महाराज श्री के पधारने और विहार करने के दिन सारे शहर में अगता रखे जाने की राज्याज्ञा घोषित की। इस प्रकार महाराणा साहब को उपदेश प्रदान करने से हजारों जीवों को अभयदान दिलवाने में जैन दिवाकरजी म० सफल हुए।

तत्पश्चात् संवत् १६८२ के उदयपुर चातुर्मास में दूसरी बार महाराणा सा० का संदेशा श्रीयुत मदनसिंहजी सा० की मार्फत मिला कि यदि महाराज श्री यहां पधार कर उपदेश प्रदान करें तो ठीक हो। इस प्रकार संदेश मिलने पर महाराज श्री अपनी शिष्य मण्डली सहित "शिवनिवास" राजमहल में पधारे। श्रीमन्त महाराणा सा० ने अत्यन्त विनय पूर्वक मुनि श्री का स्वागत किया।

तत्पश्चात मुनि श्री ने उपदेश प्रदान करते हुए अठारह पापों का विवेचन किया। महाराणा श्री बड़ी तन्मयता के साथ उपदेश श्रवण करते थे। इसका प्रमाण यह है कि वे बीच बीच में महाराज श्री से प्रश्न भी करते जाते थे। पुण्य एवं पाप के सुन्दर एवं सारगर्भित विवेचन को सुनकर महाराणा सा० अत्यन्त प्रसन्न हुए।

महाराज श्री के कथन से महाराणा सा० ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) के दिन सारे शहर में जीवहिंसा न करने की घोषणा करवादी। हर महावीर जयन्ती के दिन तब से उदयपुर में अगता पाला जाता है।

उपदेश समाप्ति पर जब महाराज श्री अपने स्थान पर पधारने लगे तब महाराणा सा० ने फर्माया कि धूप में आपने पधारने की कृपा की आपको कष्ट हुआ होगा"। इस पर महाराज श्री ने फर्माया कि शीत अथवा उष्ण परिषह को सहन करके भी उपकार करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार महाराणा सा० को प्रति-

बोध देकर जैन दिवाकरजी महाराज साहेब अपने स्थान पर पधारे। इस पर से सभी सुज्ञ पाठक समझ सकते हैं कि महाराज श्री का प्रभाव हिन्दूकुल सूर्य महाराणा सा० पर कितना पड़ा और इससे कितने प्राणियों को अभयदान मिला।

हिजहाइनेस महाराजाधिराज महाराणा भूपालसिंहजी सा०, उदयपुर

वर्तमान मेदपाटेश्वर हिन्दुकुल दिवाकर महाराजाधिराज महाराणा श्रीमान् भूपालसिंहजी सा० बहादुर के० सी० आइ० ई० आफ उदयपुर, जैन दिवाकरजी महाराज सा० के परम भक्त हैं। जैन दिवाकरजी म० के प्रति आपकी अतिशय श्रद्धा तथा बड़ा अनुराग है। जब आप युवराज थे तभी से आपका महाराज श्री के प्रति बड़ा भारी आकर्षण है। जब ३१-१२-१९२५ को महाराज श्री का उदयपुर में पदार्पण हुआ था और वहां अपने मुखारविन्द से उपदेशामृत की अमोघ धारा बरसा रहे थे तब महाराज कुमार साहेब ने ड्योढ़ी वाले महताजी सा० स्वनामधन्य श्रीमान् मदनसिंहजी महोदय और कोठारीजी साहेब श्रीमान् रंगलालजी सा० तथा उनके सुपुत्र कारूलालजी सा० इत्यादि उच्च पदाधिकारियों द्वारा महाराज सा० की सेवा में संदेशा भिजवाया कि "महाराज श्री समोर राजभवन में पधार कर दर्शनों का लाभ दें"। यह संदेशा मिलने पर ता. १६-१-२६ को महाराज श्री अपने शिष्यमंडल के साथ सज्जन निवास उद्यान के समोर राजमहल में पधारे।

जैसे प्राचीनकाल के नरेश ऋषि महर्षियों के आगमन होनेपर अभ्युत्थान, नमस्कार आदि द्वारा उनका सन्मान करते थे। इसी तरह युवराज महाराज कुमार साहेब ने भी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ महाराज श्री का सत्कार किया। योग्य आसन पर आसीन होने के बाद तथा प्रारंभिक शिष्टाचार की बातों के बाद महाराज श्री ने उपदेश प्रदान करना आरम्भ किया। महाराज श्री ने अपनी लाक्षणिक शैली से राज धर्म, प्रजा के प्रति राजा का कर्त्तव्य, अहिंसा, जीवदया, अधिकार का उपयोग आदि उपविषयों को मिलाकर कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर उपदेश प्रदान किया। प्रजा के सुख दुख की जानकारी रखने के लिए कोई सुन्दर योजना करने के लिए भी महाराज श्री ने फर्माया। अपने व्याख्यान के उपसंहार में महाराज श्री ने यह फर्माया कि हम जो उपदेश करते हैं वह एकान्त निस्वार्थ भाव से ही करते हैं। हमें किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं है। हम यदि चाहते हैं तो केवल यही कि आपके राज्य में अहिंसा का अधिक से अधिक क्याल रखा जावें। आप जैसे नरकेशरी के आश्रय में प्राणी मात्र को अभय-दान देने का संदेश मिलना चाहिए। इसलिए हम यह चाहते हैं कि आप जीव-दया का कोई महत्वपूर्ण काम करें।"

श्री महाराजकुमार सा. का मन गुरुदेव के अति मननीय एवं मनोरंजक भाषण को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। उन्होंने महाराज श्री को भेंट करने के लिए सारे शहर में जीवदया के पालन की सनद नं. २६७१७ की राज्याज्ञा दी। इस

प्रकार महाराज कुमार सा. ने जीवदया के पट्टे लिखकर गुरुदेव को भेंट किये और अपनी दयालुता का परिचय दिया।

जब गुरुदेव का सं. १९८२ का चातुर्मास उदयपुर में था, तब आश्विन कृष्णा पञ्चमी को पुनः महाराजकुमार सा. का संदेशमिला कि "महाराज श्री समोर बाग में पधार कर मुझे अभारी करें"। इस प्रकार श्रीमान् मदनसिंहजी सा. के मार्फत संदेश मिलने पर महाराज श्री समोर बाग में पधारे। युवराज महाराज कुमार सा. ने विनय एवं भक्ति पूर्वक महाराज श्री का स्वागत किया। प्रारम्भिक वार्तालाप के बाद महाराज श्री ने उपदेश—प्रदान किया।

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडि वज्जन्ति, तवं खंति महिंसयं॥

इस उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा का महाराज श्री ने बड़ी रोचक शैली से प्रतिपादन किया। धर्म श्रवण के अवसर की दुर्लभता के प्रतिपादन के पश्चात् "प्राणी मात्रपर दया दृष्टि रखने का मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है" इस विषय पर शास्त्रीय गाथा हेतु एवं मनोरंजक परन्तु भावगाम्भीर्य युक्त दृष्टान्तों के द्वारा लगभग १ घंटे तक प्रवचन किया। व्याख्यान को श्रवण करते २ महाराज कुमार सा, तथा अन्य राजकर्मचारी हर्षोल्लास से मग्न होकर झूमते थे। महाराज श्री के व्याख्यान को श्रवण कर महाराज कुमार सा. ने फरमाया कि आपके वचनों को सुनते सुनते कभी तृप्ति आती ही नहीं अतएव फिर कभी और अवसर होने पर कृपा करियेगा।"

तत्पश्चत् महाराज श्री ने फर्माया कि "कल श्रीमन्त महाराणा सा. ने उपदेश श्रवण किया था और उन्होंने सदा के लिये चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) के दिन जीवदया प्रति पालन का हुक्म निकालने का फर्माया है। आप श्रीमान् भी ऐसे गुणी पिता के गुण सम्पन्न पुत्र हैं अतएव यदि आप पौष कृष्ण १० (पार्श्वनाथ-जयन्ती) को सारे शहर में जीवदया के पालन की राज्याज्ञा घोषित कर सकें तो बहुत उपकार का काम है।" महाराज श्री के इन शब्दों को श्रवणकर युवराज साहब ने फर्माया कि इसमें क्या बड़ी बात है। मैं उक्त तिथि पर अगता पालने का फरमान निकलवा देता हूं।

तत्पश्चात् महाराज श्री अपने निवास स्थान पर पधार। गये यह युवराज कुमार के साथ महाराज श्री की दूसरी भेंट हुई।

इसके बाद जब उदयपुर से विहार करने का समय आया उसके एक दिन पूर्व अर्थात् कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को पुनः महाराज श्री के पास महाराणा सा. का संदेश आया। महाराज श्री अपनी शिष्यमण्डली सहित शिवनिवास में पधारे और अपने उपदेशामृत से महाराणा सा. को पावन किये। महाराणा सा. को उपदेश प्रदान करके महाराज श्री लौट ही रहे थे कि युवराज कुमार सा. का संदेश मिला

स्व. महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी साहेब,
जोधपुर



आपने अपने राज्य में दो अगते हमेशा के लिए कायम किए।

स्व. महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी साहेब
कोटा



आप—श्रीजैन दिवाकरजी महाराज के प्रवचन श्रवण कर बड़े प्रभावित हुए।



आप—श्री जैनदिवाकरजी महाराज का उपदेश श्रवण कर बड़े प्रसन्न हुए।



आपने—श्रीजैनदिवाकरजी महाराज का व्याख्यान श्रवण कर उपदेश की बड़ी सराहना की।

महाराज श्री "सूर्यगवाक्ष" महल में पधारने की कृपा करें। महाराज श्री वहां पधारे और महाराज कुमार सा. को पुनः अपने व्याख्यान वारि से आप्लावित किया।

महाराज कुमार सा. ने कहा कि "आप तो अब पधार रहे हैं। लेकिन फिर से यहां पधारने की कृपा करियेगा।" महाराज श्री वहां से अपने स्थान पर पधारे।

युवराज कुमार सा. पर महाराज श्री का कैसा प्रभाव है इसका एक और उदाहरण यहां अंकित करना उचित ही है। वह इस प्रकार है—

उदयपुर से विहार करने के पश्चात् मुनि मण्डल में से एक मुनिजी की तबियत अस्वस्थ होगई, अतएव मगसर सुदि के दिन पुनः महाराज श्री को उदयपुर पधारना पड़ा। महाराज श्री शहर से बाहर श्रीमान् मेहता जी सा. श्री लक्ष्मणसिंहजी सा. की धर्मशाला में विराजे। जब ये समाचार युवराज कुमार सा. ने सुने तो उन्होंने उत्तर दिया कि "महाराज श्री बाहर ही क्यों विराज गये। शहर में क्यों नहीं पधारे? तब उपस्थित महाशय ने उत्तर दिया कि "हुजूर! जो महाराज श्री शहर में पधारे तो पुनः आते और जाते समय आपके फर्मान के अनुसार सारे शहर में अगता रखे जाने का सवाल है। उसपर राजकुमार सा. ने फर्माया कि इसमें क्या बात है। पुनः दो दिन अगता रखा जावे। इसमें कोई हरकत नहीं।"

पाठकों! इन शब्दों में कितना माधुर्य एवं प्रेम टपक रहा है। ये शब्द क्या इस बात के प्रमाण नहीं है कि महाराज श्री का कैसा पुण्यप्रभाव महाराज कुमार सा० के ऊपर है? सचमुच, महाराणा सा० ने ये शब्द कहकर अपनी विशालता हृदय की उदारता, धर्म निष्ठा एवं साधुसंता के प्रति शुद्ध प्रेम का प्रदर्शन किया है। इतना उच्च अधिकार तथा विशाल राज्य के स्वामी होने पर भी महाराज श्री के प्रति जो आपकी हार्दिक श्रद्धा है वह सचमुच प्रशंसनीय है। धन्य है जैन दिवाकरजी म० और धन्य है उनका पुण्यप्रभाव !!

इतना ही नहीं, महाराणा बनने के पश्चात् आपने सं० १९९५ में दिल्ली में महाराज श्री के व्याख्यान श्रवण का लाभ लिया तथा चातुर्मास उदयपुर करने के लिये प्रार्थना की। इसके पश्चात् जब महाराज श्री किशनगढ़ पधारे तब आपने विश्वस्त राजकर्मचारी को भेजकर उदयपुर में चातुर्मास करने की प्रार्थना की थी। महाराज श्री ने वह प्रार्थना मंजूर की। वहां से विहार कर अजमेर होते हुए महाराज श्री ब्यावर पधारे। ब्यावर के श्रीसंघ ने अपने यहां चातुर्मास कराना चाहा अतएव उदयपुर महराणा सा० की सेवा में पत्र भेजा कि उष्ण ऋतु आ गई है अतएव आप फरमावें तो जैन दिवाकरजी म० का चातुर्मास ब्यावर में कराने की हमारी उत्कट अभिलाषा है। इस पर महाराणा सा० ने उत्तर दिया कि चातुर्मास तो उदयपुर ही होना चाहिए। जैन दिवाकरजी म० महाराणा साहब की प्रार्थना

को मान देकर उदयपुर पधारे।

उक्त बात से महाराणा साहब का कितना प्रेम टपकता है। उन्होंने जैन दिवाकरजी म० की चातुर्मास की विनती करके अपने उत्कट धर्म प्रेम का परिचय दिया है। महाराणा सा० की ही विशेष प्रार्थना से सं० १९९६ का चातुर्मास उदयपुर में हुवा। महाराणा सा० ने अनेक वार धर्मोपदेश श्रवण किया जिसके फलस्वरूप अनेक उपकार हुए। महाराणा सा० ने इस चातुर्मास में यात्रियों के स्वागत के लिये १०००) एक हजार रूपये श्री को भेंट किये।

उक्त सभी हकीगतों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वर्तमान मेदपाटेश्वर महाराणा सा० जैन दिवाकरजी म० के प्रति कैसी श्रद्धा और सद्भावना रखते हैं। जैन दिवाकरजी म० का पुण्यप्रभाव कैसा अनुपम है और साथ ही कैसा आदर्श है महाराणा सा० का धर्मप्रेम!

हिजहाईनेस महाराजा सर मल्हारराव बाबा साहेब पंवार, देवास-२

संवत् १९७८ के चातुर्मास के पश्चात् इन्दौर होते हुए जैन दिवाकर म० सा० का देवास में पदार्पण हुआ। वहां दरबार हाईस्कूल में आपके प्रभावशाली प्रवचन हुए। एक दिन श्रीमान् देवास नरेश सर मल्हारराव बाबा साहेब के० सी० एस० आई, व्याख्यान में पधारे। श्रीमंत महाराजा सा० की बाल्यकाल से धार्मिक शिक्षा की ओर अभिरुचि हैं। आपको धर्म विषय का अच्छा ज्ञान भी है। जब महाराजा सा० जैन दिवाकरजी म० सा० के व्याख्यान में पधारे तब आपने जिज्ञासा बुद्धि से कतिपय प्रश्न किये। महाराज श्री ने यथावत् उत्तर प्रदान किया तब से जैन दिवाकरजी म० के प्रति आपका बड़ा भारी अनुराग एवं भक्तिभाव हो गया। जब कभी महाराज श्री देवास पधारते हैं तब श्रीमंत महाराजा सा० अवश्यमेव व्याख्यान श्रवण का लाभ लेते हैं।

आप प्रायः जैन दिवाकरजी म० के निवासस्थानपर भी पधारते और उपयोगी विषयों पर चर्चा करते हैं।

एक दिन श्रीमान् महाराजा सा० ने महाराज श्री से प्रार्थना की कि आप कुछ दिन यहां विराजकर जनता का अज्ञानान्धकार दूर करने की कृपा करें। सरकार की विनती को स्वीकार कर महाराज श्री वहां विराजे और कतिपय दिवस पर्यन्त आपके तुकोजीगंज के मैदान में व्याख्यान होने लगे। श्रीमान् सर तुकोजीराव बापू साहिब महाराजा पंवार, के० सी० एस० आई० तथा अन्य दीवान राय बहादुर नारायणप्रसादजी इत्यादि प्रतिष्ठित महानुभावों ने व्याख्यान श्रवण किये। मुसलमान भाइयों ने भी प्रभावना वांटी। सरकार के अनुरोध से घन्टाघर तथा राजवाड़े में महाराज श्री के व्याख्यान हुए। सरकार ने सर्वसाधारण को वहां आने दिया। राजवाड़े के व्याख्यान के दिन महाराजा सा० की तरफ से पेड़े की प्रभावना वांटी गई। महाराजा सा० ने आहारादि ग्रहण करने के लिये महाराज

श्री से प्रार्थना की। सरकार ने जैनधर्म की क्रिया के अनुसार आहार-दान किया। आप महाराज श्री को पहुँचाने के लिये खुले पांव राजवाड़े के दरवाजे तक पधारे।

श्रीमंत महाराजा मल्हारराव साहब बड़े आदर्श नरेश हैं। आपमें कतिपय असाधारण आदर्श गुण हैं। वर्तमान नरेशों में शिकार का शौक विशेष पाया जाता है परन्तु आप इसके अपवाद हैं आप मांस भक्षण नहीं करते; शिकार नहीं खेलते तथा आपने राज्यस्थ विन्ध्यादेवी के मन्दिर में, जहां वार्षिक लगभग ५००० जीवों का वध हुआ करता था, उसे सर्वथा बंद करके जीववध का अनुपम उदाहरण पेश किया है। धन्य है ऐसे आदर्श नरेश को जिन्होंने मूक एवं भोले प्राणियों पर दया करके अन्य नरेशों के लिये आदर्श उपस्थित किया है। आप जैन दिवाकरजी म० के परम भक्त हैं।

नवाब साहेब सर शेर मुहम्मदखांजी बहादुर, पालनपुर

सं. १९७२ का चातुर्मास जैन दिवाकरजी म. सा. ने पालनपुर में किया। व्याख्यान में सर्वसाधारण लोग आते थे। महाराज श्री के व्याख्यानों की प्रशंसा श्रीमान् नवाब साहेब. सर शेर मुहम्मद खां साहब बहादुर के कानों तक पहुंची अतः वे एक हाफिज और एक पंडित को लेकर व्याख्यान के समय दर्शन के लिए पधारे। महाराज श्री के सारगर्भित व्याख्यान को सुनकर बड़े प्रमुदित हुए। नवाब सा. अपने हृदय की भक्ति को प्रकट करते हुए बोले कि मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है जो आप जैसे महात्मा के दर्शन हुए और आपकी पवित्र वाणी सुनने का मुझे सुयोग मिला। व्याख्यान के पश्चात् नवाब सा. ने महाराजश्री के साथ कुछ सात्विक चर्चा की जिसके परिणाम स्वरूप नवाब सा. और अधिक प्रमुदित हुए। वे लगभग २-२॥ घंटे तक महाराज श्री की सेवा में ठहरे। जाते समय नवाब सा. की दृष्टि ज्ञान खाते की लगी हुई पेटी पर पड़ी और उन्होंने उसी समय चालीस रुपये उस पेटी में डाल दिये। उसके पश्चात् भी नवाब सा. कई बार महाराज श्री के समाचार मंगवाया करते और व्याख्यान के सम्बन्ध में पूछते रहते थे। आपकी इच्छा तो ऐसी थी कि हमेशा व्याख्यान सुना जाय परन्तु वृद्धावस्था एवं अशक्ति के कारण वे ऐसा न कर सके। इसके पश्चात् वे एक बार और व्याख्यान में पधारे और उसदिन खूब उपकार हुआ।

शीतकाल प्रारम्भ हो गया था। थोड़ी थोड़ी शरदी पड़ने लगी थी। श्रीमान् नवाब सा. ने महाराज श्री को देने के लिए दो बहुमूल्य दुशाले मंगवाये और अपने कर्मचारी मन्ना भाई से बोले कि—ये दुशाले महाराजा श्री

को भेंट करें तो कैसा हो ? मघा भाई ने कहा महाराज श्री दुशाले नहीं लेते क्योंकि वे परिग्रह के त्यागी हैं। यदि वे बहुमूल्य दुशाले लेते होते तो हम ही क्यों न उनको भेंट देते ? तब नवाब सा. ने पुनः प्रश्न किया कि "तो महाराज श्री की क्या भक्ति करें"। मघा भाई ने कहा कि "दया एवं परोपकार में लक्ष्य देना ही महाराज सा. की सच्ची भक्ति है"।

उक्त प्रसंग के उद्धरण से नवाब सा. के हृदय में महाराज सा. के प्रति कैसी भक्ति है, इसकी अपने आप झाँकी मिल जाती है। नवाब सा. ने अपने सारे इलाके में राजकर्मचारियों को सूचना कर दी थी कि महाराज सा. वहां पधारें तो उनकी सेवा में जरा भी त्रुटि न हो। चातुर्मास के पश्चात् विहार करने पर मार्ग में नवाब सा. के दामाद श्री जबरदस्तखांजी साहेब ने महाराज सा. के दर्शन किये और उपदेश श्रवण करके कई जीवों पर गोली न चलाने की प्रतिज्ञा की।

पालनपुर के नवाब सा. जैन दिवाकरजी म. के उपदेशों से कैसे प्रभावित हुए ! यह ऊपर स्पष्ट बताया जाचुका है।

—राजा अमरसिंहजी साहब, बनेड़ा—

सं. १९८१ के प्रारम्भ में महाराज श्री बनेड़ा (मेवाड़) पधारे। यह राज्य उदयपुर में शाहपुर से उत्तर पूर्व में स्थित है। महाराज श्री के व्याख्यान की कीर्ति सुन कर वहां के राजा श्रीमान् अमरसिंहजी सा. भी व्याख्यान में पधारे व्याख्यान सुन कर आपने महाराज श्री के शुभागमन को अपना सौभाग्य समझा तथा उपदेश शैली की प्रशंसा करते हुए पुनः श्रवण करने की इच्छा प्रदर्शित की। दूसरे दिन पुनः आपने व्याख्यान श्रवण का लाभ लिया और तीसरे दिन का व्याख्यान नजर बाग में कराने के लिए विनती की ताकि राजमहिलाएं भी आपकी पवित्र वाणी का लाभ ले सकें। राजा साहब की विनती के अनुसार तीसरा व्याख्यान नजर बाग में में हुआ। सर्वसाधारण जनता भी वहां उपस्थित हुई थी राजा साहब की ओर से दाख एवं बादाम की प्रभावना वितरित की गई।

मध्याह्न के समय पुनः राजा सा. महाराज श्री की सेवा में पधारे। महाराजा सा. को शिक्षा से बहुत प्रेम है। आपने अपने राज्य में शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर रखी है। संस्कृत साहित्य की वृद्धि के लिये एक मुनिकुलब्रह्मचर्याश्रम भी स्थापित किया है। इससे मालूम होजाता है कि राजा सा. को शिक्षा का कितना शौक है। आपकी शिक्षा के प्रति अभिरुचि है इसका कारण यह है कि आप स्वयं शिक्षित हैं। महाराज श्री की सेवा में पधारकर आपने कई प्रश्नोत्तर किये तथा कतिपय विषयों पर धर्म-चर्चा हुई।

राजा साहब ने यह प्रश्न किया कि कतिपय यूरोपीय विद्वान यह कहते हैं

कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है। क्या यह बात ठीक है ? इस प्रश्न के उत्तर में महाराज श्री ने फर्माया कि जैन धर्म एक स्वतंत्र एवं प्राचीन धर्म है। यह किसी धर्म विशेष की शाखा या रूपान्तर नहीं है। यह अनादिकालीन है। तदपि इस अवसर्पिणी काल के मुख्य प्रथमावतार श्री ऋषभदेव हुए हैं जिनका समय करोड़ों वर्ष पूर्व का है आपने वेद में, भागवत आदि के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों को इस विषय में भ्रान्ति है इसका कारण यह है कि उन्होंने सच्चे जैनधर्म का उसके असली ग्रन्थों के आधार से अध्ययन नहीं किया। अब अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि जैनधर्म एक मूलधर्म है और यह प्राचीन धर्म है। डा० जेकोबी साहब ने यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है। महाराज श्री के ऐसे पुष्ट प्रमाणों से युक्त उत्तर को सुनकर राजा साहब की शंका दूर हुई।

इसके पश्चात् हिंसा-अहिंसा, अहिंसा की व्यावहारिकता, जैनमुनियों की अहिंसकता इत्यादि विषयों पर प्रश्नोत्तर हुए। प्रसंगवश महाराज श्री ने महासती चन्दनबाला का वृतांत अत्यन्त रोचक शब्दों में सुनाया तथा राजा श्रेणिक एवं अनाथी मुनि के संवाद को लेकर अनाथ-सनाथ की बड़ी भावपूर्ण व्याख्या की। इसको सुनकर राजा सा० को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बोले कि "आप से वार्तालाप करके बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आप जैसे महात्मा के दर्शन हुए। आपका व्याख्यान किसी महजब वाले को कटु नहीं लगता। कृपा करके एक व्याख्यान महल में भी फरमायें।"

राजा साहब की प्रार्थना को मान देकर श्री ने एक व्याख्यान महल में दिया। अन्तःपुर से राजमाता, राजरानी एवं राजकुमारी आदि ने भी व्याख्यान श्रवण किया। तत्पश्चात् राजा साहब ने मलमल के थान भेंट रूप में देने का आग्रह किया परन्तु महाराज श्री ने फर्माया कि हमारी उत्तम से उत्तम भेंट यही है कि आपकी ओर से दया अथवा परोपकार का कार्य हो जाय। इस पर राजा साहब ने कहा यह कार्य मैं करूँगा ही। आप इसमें से भी कुछ स्वीकार करिये। राजा सा० के अत्याग्रह से महाराज श्री ने तीन हाथ वस्त्र ले लिया।

महाराज श्री के उपदेश से राजा साहब ने यह प्रतिज्ञा की कि "मैं पर्युषण पर्व में शिकार नहीं करूँगा। मादा जानवरों की शिकार जानबूझ कर कभी न करूँगा तथा चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन राज्य में तातील रखी जावेगी।

उक्त प्रतिज्ञाओं का पट्टा लिखकर महाराज श्री को भेंट किया। तब से आप जैन दिवाकरजी म० सा० के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखते हैं।

श्रीमान् राजराणा दूलहसिंहजी सा०, बड़ीसादड़ी

संवत् १९८२ में जावरा से विहार कर, मन्दसौर, नीमच आदि क्षेत्रों को

पावन करते हुए महाराज श्री बड़ी सादड़ी (मेवाड़) पधारे। वहां जनता के आग्रह से जाहिर व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के दिन श्रीमान् राजराणा दूलहसिंहजी सा. मोटर में बैठकर व्याख्यान स्थान के समीप होकर किसी कार्य वश बाहर पधार रहे थे। राजराणा साहब की दृष्टि वहां एकत्रित हुए विशाल जन समुदाय पर पड़ी और धाराप्रवाह वक्ता की बुलन्द आवाज उनके कर्ण पुटों में पहुँची इससे उनके मन में उत्कंठा पैदा हुई और उन्होंने ड्राइवर से पूछा कि यह बुलन्द आवाज किसकी है और यहां इतनी विशाल मेदिनी क्यों एकत्रित हुई है ड्रायवर ने कहा हुजुर! यहां प्रसिद्ध वक्ता पं. मुनि श्री चौथमलजी म० सा० पधारे हुए हैं। मैं समझता हूँ यह उनकी ही आवाज है" ड्रायवर ने इतना कहकर अपनी दृष्टि उधर दौड़ाकर निश्चय कर लिया कि ये चौथमलजी म० सा० ही व्याख्यान फरमा रहे हैं। तब उसने निश्चयात्मक आवाज से कहा कि हुजूर! ये चौथमलजी म० ही व्याख्यान फरमा रहे हैं तब राजराणा सा० ने मोटर उसी स्थान पर लेजाने की आज्ञा दी जहां महाराज श्री शान्त मेदिनी में अपनी गम्भीर ध्वनि के द्वारा धर्मोपदेश कर रहे थे।

ड्रायवर ने अपने स्वामी की आज्ञा का पालन किया। नियत स्थान पर आने के बाद राजराणा साहब एकदम मोटर से उतर पड़े और मुनि श्री को सविनय प्रणाम कर के उनके सामने जा विराजित हुए। इस प्रकार राजराणा साहब के आकस्मिक आगमन से सभी श्रोताओं को बड़ा विस्मय एवं कुतूहल हुआ। व्याख्यान की समाप्ति पर्यन्त राजराणा सा० वहां विराजमान रहे। उस समय उनके मुख मंडल पर झलकने वाले भावों से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि मुनि श्री के उपदेश से उनके हृदय में आनन्द की तरंगें तरङ्गित होरही थीं।

इसके दो दिन बाद राजराणा साहब का एक आग्रह भरा संदेश महाराज श्री की सेवा में आया कि "आप अपने पवित्र चरण कमलों के द्वारा महल को पवित्र कीजिये और रनवास को भी उपदेशामृत का लाभ प्रदान करके आभारी कीजिए"। विज्ञप्ति को मान देकर पं. मुनि श्री राजमहल में पधारे और वहां सारगर्भित प्रसंगोचित व्याख्यान दिया। महाराज श्री के अमृतोपम उपदेश को श्रवण कर वहां आनन्द व्याप्त हो गया।

व्याख्यान के बाद बातचीत के दौरान में राजराणा साहब ने कहा कि— "महाराजश्री! यहां एक कसाई मुझे मनमाना कर देकर भी मांस बेचने की दुकान खोलने के लिए भारी प्रयत्न कर रहा है परन्तु मैंने उसकी प्रार्थना का पूर्ण रूप से निषेधात्मक उत्तर दे दिया है। मामूली अथवा बहुत भी कर के लोभ से अनेक निरपराध पशुओं की हिंसा होगी और अनेक अनर्थ उत्पन्न होंगे ऐसा समझ कर मैंने सर्वथा इन्कार कर दिया है।" यह बात सुन कर महाराजश्री ने कहा कि आप जैसे क्षत्रियों के लिए ऐसा ही करना उचित है। हम साधु आप जैसे नरेशों से यही

आशा रखते हैं कि आप जीव-दया का कार्य करें। आप जैसे क्षत्रियों के राज्य में प्राणी मात्र को अभय मिलता रहे यही हम चाहते हैं। आपके इस दयामय कार्य की सराहना किये बिना नहीं रह सकते। आप भविष्य में भी जीव दया के लिए विशेष प्रयत्न करेंगे ऐसी हमें आशा है।

यह बात श्रवण कर राजराणा साहब ने महाराजश्री की सेवामें प्राणी मात्र को अभयदान का एक पट्टा लिख कर भेंट किया। राजराणा साहब के शुभ प्रयत्न से अन्य सरदारों ने भी यथाशक्ति भिन्न-भिन्न त्याग प्रत्याख्यान किये। यह है जैन दिवाकरजी म. सा. का पुण्य प्रभाव।

इनके अतिरिक्त अनेकानेक नरेशों एवं रईसों पर जैन दिवाकरजी म. सा. का अच्छा प्रभाव है। रतलाम, सैलाना, ताल, सारंगी, बोहड़ा, भीएडर, कोसीथल, पसोरा, थांदेड़ा, सलूम्बर, वेदला, गौगुन्दा, पिपलौदा इत्यादि। मालवा, मेवाड़ और राजपूताने के अनेक नरेशों, ठाकुर साहबों एवं रईसों ने महाराजश्री के व्याख्यानों को श्रवण करने का लाभ उठाया है और फलस्वरूप जीव दया के पट्टे लिखकर भेंट किये हैं। इस छोटे से लेख में सबका उल्लेख करना असम्भव है अतएव संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि समस्त राजपूताने के नरेशों, ठाकुर साहबों, जागीरदारों एवं उमरावों पर महाराजश्री के अनुपम प्रभाव एवं व्यक्तित्व की गहरी छाप है। क्षत्रिय नरेशों को जीव दया का उपदेश देकर प्राणी रक्षा का गुरुतर कार्य करने में जैन दिवाकरजी म. की कोई सानी नहीं। जैन दिवाकरजी म. सा. ने अपने इस अनुपम प्रभाव का सदुपयोग मूक एवं निर्दोष पशुओं की हिंसा को रोकने में किया है।

अभयदाता के रूप में

जैन साधु अहिंसा और सत्य का जीता-जागता प्रचारक है। उसका ध्येय हिंसा को मिटा कर संसार में अहिंसा का एकाधिपत्य स्थापित करना है। इसी उद्देश्य से वह स्वयं कठिन अहिंसामय जीवन जीकर अहिंसक जीवन का आदर्श उपस्थित करता है। वह दुनियां में फैली हुई रक्त क्रांति, हिंसा तथा अत्याचार को देखकर दहल उठता है। उसके हृदय में प्राणी मात्र के लिए प्रेम भरा होता है अतएव वह छोटे से छोटे प्राणी को भी अपने ही समान समझ कर उसकी रक्षा का पूरा प्रयत्न करता है। जैन दिवाकरजी म. ऐसे अहिंसक मुनियों में अति उच्च-कोटि के महापुरुष हैं। आपने अपने जीवन का ध्येय प्राणी-रक्षा ही बना रखा है। आपने अपने अनुपम व्यक्तित्व और वक्तृत्व के कारण अगणित जीवों को प्रबोध देकर जीव रक्षा का महान् कार्य किया है। हजारों मूक एवं निर्दोष प्राणियों को आपने अभयदान दिलवाया है।

प्राणी-जगत् में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, यह सत्य है, मगर इसका यह अर्थ नहीं

कि मनुष्यों के सिवाय अन्य पशुओं अथवा पक्षियों में चेतना ही नहीं है, अथवा मनुष्य को अन्य प्राणियों पर मनमाना अत्याचार करने का अधिकार है। जैसे मनुष्य को सुख-दुख का संवेदन होता है उसी प्रकार पशुओं को भी होता है। पशुओं में भी चेतना की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही है। मगर उन्हें व्यक्त भाषा प्राप्त नहीं है। वे मानवीय भाषा में पुकार नहीं सकते और मनुष्य के कान उनकी पुकार नहीं सुन सकते। तब कौन उन्हें सहृदयता का दान दे? मनुष्यों के कान पशुओं के करुणक्रन्दन को सुन नहीं सकते मगर हृदय की करुणा, अन्तःकरण की संवेदना उसे अवश्य सुन सकती है। किन्तु यह करुणा और संवेदना विरलों को ही प्राप्त होती है। जिन्हें वह प्राप्त होती है वह महामानव की महिमा से मण्डित है और सच्चे अर्थ में मानवता के अधिकारी हैं।

जैन दिवाकरजी म. की करुणा का प्रवाह बहुत विस्तृत और हृदय की संवेदना तीव्र है। इसी से मूक पशुओं का चीत्कार उन्हें सुनाई दिया। उन्होंने सोचा कि हरएक प्राणी को जीने का अबाधित अधिकार है। जीना और दूसरों को जीवित रहने देना ही धर्म है। जो प्राणी दूसरों के जीने के अधिकार का हरण करता है वह अत्याचारी है। मनुष्य पशुओं का वध करता है, अर्थात् बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्राणों का गाहक बना हुआ है। ऐसा करके बड़ा भाई अपने बड़प्पन को कलंकित करता है और यहां तक कि छुटपन के योग्य भी नहीं रहता। मानव-समाज को इस कलंक के, घोर पाप से, अक्षम्य अपराध से बचाने की ओर महाराजश्री का ध्यान गया। उन्होंने अहिंसा का प्रभावशाली उपदेश दिया। इतना ही नहीं, वरन् अहिंसा का व्यापक रूप से एवं स्थायी रूप से पालन कराने के लिए आपने राजपूताना के अनेकानेक राजाओं को और ठाकुरों को भी इस भावना के लिए उद्यत किया। आपके सदुपदेश से बहुत से राजाओं एवं जागीरदारों ने अपने-अपने राज्यों में हिंसाबन्दी की स्थायी आज्ञाएं जारी की हैं और आप को इस आशय की सनदें लिख कर भेंट की है।

मेवाड़, मालवा एवं मारवाड़ के अनेकों जागीरदारों को जीव दया का अमृत पिलाया है और अमुक-अमुक अवसरों पर उन्होंने जीव हिंसा की पूर्ण रूपसे अथवा आंशिक रूपसे पाबन्दी की है। महाराजश्री का समस्त जीवन ही जीव रक्षा के कार्य के लिए अर्पित हो चुका है। जहां कहीं आपश्री का पदार्पण होता है वहां अगणित जीव राशि को अभय मिलता है इस प्रकार न केवल मानव जाति पर अपितु पशु-पक्षियों पर भी आपश्री का बड़ा भारी उपकार है।

प्रायः मनुष्य स्वभाव ऐसा है कि वह परम्परागत रूढ़ियों एवं रीतिरिवाजों को पकड़े रहता है। जो प्रथा या रिवाज परम्परा से चला आ रहा है उसको बिना सोचे समझे वह पालन करता जाता है। बहुत कम मनुष्य उसकी अच्छाई या बुराई, उपयोगिता और अनुपयोगिता तथा लाभ हानि का विचार करते हैं। अधि-

स्व० महाराजा श्री तुकोजीराव बापु साहेब,
देवास १



आप श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेशों
से बड़े प्रभावित हुए।

स्व० महाराजा श्री मल्हारराव बाबा साहेब, देवास २

आप—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के अनन्य भक्त थे।

स्व. महाराजा श्रीयज्ञनारायणसिंहजी साहब, किशनगढ़

आपके दिल पर—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेश का

महाराजा श्री सुमेरसिंहजी साहब, इन्द्रगढ



आपने अपनी स्टेट में—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेश से आकर्षित हो, दो अगते पलवाने का पट्टा लिख दिया।

कांश व्यक्ति तो अन्धानुकरण करते चलेजाते हैं। ऐसी स्थिति में परम्परागत रीति रिवाज को बदलना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसका अनुभव हरेक सुधारक एवं उपदेशक को हुआ है और होता है। क्षत्रिय और राजपूत जाति में किसी समय से शिकार खेलना, निर्दोष पशुओं का संहार करना, धर्म के नाम पर बलिदान करना इत्यादि अनेक हिंसक प्रथाएं चालू होगई जो परम्परा से अब तक चली आ रही है। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर, देवीदेवताओं के मन्दिरों पर, दशहरा आदि के प्रसंगों पर अनेकों मूक प्राणियों का बलिदान कर दिया जाता है। यह प्रथा भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में है। यह हिंसक प्रथा भारत के जन समुदाय के हृदयों में इतना गहरा घर किये हुए है कि यकायक इसका छोड़ना अत्यन्त कठिन है। परन्तु जैन दिवाकरजी म० के उपदेश में ऐसा कुछ अपूर्व चमत्कार और आकर्षण है कि अनेक क्षत्रिय नरेशों एवं जागीरदारों तथा ठाकुर साहबों ने शिकार खेलने, बलिदान करने और किसी तरह पशुपक्षियों को मारने के प्रत्याख्यान कर लिए। वंश परम्परागत प्रथा को तोड़ने में बड़े भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जैन दिवाकरजी म० के सदुपदेश से इस हिंसक प्रथा का त्याग हुआ यह क्या दिवाकरजी म० के प्रबल प्रभाव का प्रतीक नहीं है? अवश्य ही है।

जिन जिन नरेशों, जागीरदारों, ठाकुर साहबों एवं उमरावों ने जो-जो आंशिक रूप से प्रत्याख्यान किये हैं और फलस्वरूप जो जीवदया के कार्य हुए हैं उनकी तालिका यदि बनाई जाय तो एक बड़ा भारी अलग ग्रन्थ तैयार हो सकता है। अतएव विस्तार के भय से सबका यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। विशेष जिज्ञासु महोदय 'आदर्श उपकार और' "आदर्श मुनि" (गुजराती व हिन्दी आवृति) ग्रन्थों को देख सकते हैं। यहां अति संक्षेप में खास खास जीवदया के कार्यों का ही उल्लेख किया जाता है जिनपर से पाठकगण समझ सकेंगे कि जैन दिवाकरजी म० ने अपना जीवन पर के कल्याण के लिए समर्पित करके मानव एवं पशु समाज पर कितने भारी उपकार किये हैं।

आदर्श उपकार

जैन दिवाकरजी म० का नरेशों पर पुण्य प्रभाव" का वर्णन करते हुए नरेशों द्वारा उपदेश श्रवण के पश्चात् भेंट रूप में दिये गये जीवरक्षा विषयक पट्टों का प्रथम नाम निर्देश किया जा चुका है तदपि जैन दिवाकरजी म० सा० के द्वारा होने वाले उपकारों के वर्णन में उनका मुख्य स्थान होने से स्पष्ट रीति से यहां उल्लेख करना आवश्यक है।

जैन दिवाकरजी म० कल्याण की प्रतिमूर्ति हैं। उनके हृदय में मूक पशुपक्षियों के लिये अपार स्नेह भरा पड़ा है। मौज, शौक एवं आमोद प्रमोद के लिये अथवा धर्म विषयक भ्रान्त धारणा के लिये बेचारे मूकपशुओं का निर्दयता के साथ

घात किया जाता हुआ देखकर जैन दिवाकरजी म० को बड़ी गहरी चोट लगी उनका दयालु एवं कोमल मानस इस दानवीय कृत्य को सहन न कर सका। अतएव उन्होंने अपने उपदेश की धारा इस अत्याचार को धोने के लिए बहायी। उन्होंने मूकपशुओं पर होने वाले अत्याचार को समूल मिटाने का संकल्प किया और इसी ध्येय को लेकर भारत के हर प्रान्त में उन्होंने परिभ्रमण कर अपने उपदेशामृत के द्वारा मानव को मानवोचित कर्म का ध्यान दिलाया। जैन दिवाकरजी म०सा० अपने पचास वर्ष के संयम काल में इस ध्येय में कितने सफल हुए यह निम्न उपकार सम्बन्धी तालिका से प्रतीत होजाता है:-

श्रीमन्त महाराणा सा० श्री फतहसिंहजी सा०, उदयपुरः— जब जैन दिवाकरजी महाराज साहब का उदयपुर में पदार्पण हुआ तब आपने अनेकों बार महाराज श्री को महलों में पधार कर व्याख्यान फरमाने का अत्यन्त आग्रह किया। फलस्वरूप महलों में मुनि श्री के व्याख्यान हुए। महाराणा सा० पर उन व्याख्यानों का अच्छा असर पड़ा। फलस्वरूप में उन्होंने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) के दिन उदयपुर में परिपूर्ण जीवदया के पालन का फरमान जारी किया तब से हमेशा के लिये महावीर जयन्ती पर सारे शहर में अगता पालने के लिए राज्य की ओर से घोषणा होती है।

श्रीमन्त महाराणा सा० श्री भूपालसिंहजी सा०, उदयपुर— महाराज श्री के प्रभावशाली प्रवचनो से आप बहुत प्रभावित हुए हैं। महाराज श्री के सदुपदेश से आपने पौष कृष्णा १० (पार्श्वनाथ जयन्ती को सारे शहर में अगता रखने की राजाज्ञा घोषित की। साथ ही आपने यह भी फरमान निकाला कि जब जब जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० सा० उदयपुर पधारें तब उनके आगमन के तथा विहार के दिन सारे शहर में अगता रखा जावे। इस राज्याज्ञा का बराबर पालन होता है।

जोधपुर नरेश की समग्र राजधानी में जीवदया प्रतिपालनः— संवत १९७७ में महाराज श्री ने जोधपुर में चातुर्मास किया। वहां पर आपकी सेवा में रहने वाले तपस्वी श्री फौजमलजी महाराज ने ६७ दिनों की तपश्चर्या की। जब तपश्चर्या की पूर्ति का समय सन्निकट आया तब उस दिन जीवहिंसा बिल्कुल न होने देने के लिये प्रयत्न किया गया। श्रावकगण मिलकर राजसभा में गये। वहां उन्होंने तपश्चर्या का वृतान्त सुनाकर अगता रखवाने की राजाज्ञा के लिये प्रार्थना की। हिजहाइनेस लेफ्टिनेन्ट जनरल महाराजा सरप्रतापसिंहजी बहादुर, जी० सी० एस० टि०, जी० सी० वी० ओ० जी० सी० वी०, एल० डी० डा० सी० एल, ए० डी० सी० नाइट ऑफ सेन्ट जॉन ऑफ जेरूसेलम, रिजेन्ट आफ मारवाड़ स्टेट, ने वह प्रार्थना स्वीकृत की। महाराजा साहब ने कोतवाल

के द्वारा घोषणा करादी कि अमुक दिन हिंसा विलकुल वन्द रहे । कतिपय कसाइयों ने कहा कि हाकिमों के यहां तथा सरकारी रसोड़े में मांस हमेशा जाता है, वह कैसे वन्द रहेगा। इस प्रश्न का पुनः महाराजा सा० से निराकरण किया गया। महाराजा सा० ने फरमाया कि तपश्चर्या की पूर्ति के दिन कहीं पर भी मांस काम में न लाया जाय। यहां तक कि शेरों को भी मांस के वदले दूध दिया जाय। इस प्रकार उस दिन कसाइयों ने हिंसा विलकुल वन्द रखी। हलवाई, भड़भूंजे, तेली, तम्बोली, लोहार आदि सब ने अपने कार्य वन्द रखे। कसाइयों के २०० बकरों के प्राण बचाये गये तथा रावराजा रामसिंहजी ने ३० बकरों को अभय-दान दिया।

संवत् १९८३ में पुनः महाराजश्री का चातुर्मास जोधपुर में हुआ। महाराज श्री के सदुपदेश से पर्यूषण पर्व के दिनों में व्यापार न करने का वहां के श्रावकों ने ठहराया। महाराजश्री ने फरमाया कि जब आप लोग इन पवित्र दिनों में अपना व्यवसाय चालू रखते हैं तो आप दूसरों से—अजैन जनता से यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वे आपके इन पवित्र दिनों में अपना रोजगार वन्द रखें और जीव दया का पालन हो। पहले आपको अपना व्यवसाय वन्द रख कर दूसरों पर छाप डालने की कोशिश करनी चाहिए। महाराजश्री के इस उपदेशों से जोधपुर के श्रावकों ने इन दिनों में अपना व्यवसाय वन्द रखने का निश्चय किया। जो कोई इस नियम का भंग करेगा उसे जीव दया खाते में २१) का दण्ड भरना होगा। जोधपुर की जैन जनता ने जब यह निर्णय कर लिया तो आगे यह प्रयत्न किया गया कि संवत्सरी के दिन सारे राज्य में जीव दया के प्रतिपालन की राज्याज्ञा घोषित हो। श्रीमन्त महाराजा सा० ने सारे राज्य में संवत्सरी के दिन जीव दया प्रतिपालन की घोषणा करवादी।

महाराजा सा० ने सम्पूर्ण राज्य में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी और पंचमी के दिन जीव हिंसा न करने का फरमान निकाल दिया। साथ ही साथ सरकारी महकमों में काम करने वाले जैन बन्धुओं को उनके पर्व दिवसों के लिए छुट्टी प्रदान करने का भी फरमान महाराजा सा० की ओर से प्रकट किया गया। इस महान शुभ कार्य के उपलक्ष में स्थानकवासी जैन कान्फरन्स की ओर से महाराजा सा० की सेवा में तार द्वारा अभिनन्दन एवं धन्यवाद भेजे गये।

इसी चातुर्मास काल में भाद्रपद शुक्ला ६ के दिन रणबंका राठौड़ वंशावतंश जोधपुर नरेश श्रीमान् हिज हाईनेस महाराजा सर उम्मेदसिंहजी साहब बहादुर के दादा साहब श्रीमन्त महाराजा साहब श्री फतहसिंहजी सा० के. सी. आई. ई., होम मेम्बर स्टेट कौन्सिल, महाराज श्री दर्शन के लिए पधारे। उन्होंने महाराज श्री से लगभग पौन घंटे तक विविध प्रश्न किये। महाराज श्री ने उन प्रश्नों के बड़ी सुन्दर शैली में उत्तर दिये। महाराज श्री की तरफ से समयानुकूल योग्य समाधान पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए।

भाद्रपद शुक्ला सप्तमी के दिन ठाकुर सा० श्रीमान् शिवनाथसिंहजी महाराज श्री का उपदेश श्रवण किया तथा भाद्रपद मास में शिकार नहीं करने प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार पाटोदी के ठाकुर सा० ने प्रतिज्ञा की कि "मैं मेरे जीव में ऐसे प्राणियों की शिकार कदापि नहीं करूंगा जो निरपराधी हों तथा भाद्रप मास में तो कतई शिकार नहीं करूंगा।"

बदनौर ठाकुर साहब:—संवत १९८५ में जैन दिवाकरजी म. बदनौर पधारे वहां के ठाकुर सा० भूपालसिंहजी—जो उदयपुर के महाराणा सा० के १६ उमरा में से हैं—ने उदयपुर में महाराज श्री के व्याख्यान-श्रवण का सौभाग्य प्राप्त कि था तभी से उनकी यह भावना रहती थी कि जैन दिवाकरजी म. कभी बदनौ पधारें तो मैं और मेरी प्रजा मुनिश्री के उपदेशामृत का पान कर कृतार्थ बनें आज अपनी हार्दिक भावना की सहसा पूर्ति होने से ठाकुर सा० के हर्ष का पार वार न रहा। ठाकुर सा० ने तीन व्याख्यान सुने और जीव दया विषयक एक पट्ट लिख कर भेंट किया।

केरिया के महाराज गुलाबसिंजी सा०:—आपने जैन दिवाकरजी म. के व्या ख्यानों को सुन कर जीव दया का पट्टा भेंट किया। विहार के समय महाराज सा. मुनिश्री को पहुंचाने के लिए बहुत दूर तक आये थे। वहां से विहार कर ज मुनिश्री निम्बाहेड़ा (मारवाड़) पधारे तब भी आप व्याख्यान श्रवण करने के लि केरिया से निम्बाहेड़ा पधारते। निम्बाहेड़े के ठाकुर सा. भी व्याख्यान में पधारते आपने भी अनेक प्राणियों को अभयदान देने का पट्टा लिख कर महाराजश्री को भें किया। जब महाराज श्री का निम्बाहेड़े से विहार हुआ तब केरिया के महारा तथा स्थानीय ठाकुर सा. दोनों पहुंचाने पधारे थे।

रावत सा० सुजानसिंहजी सा० भगवानपुर:—आप उदयपुर महाराणा सा. बत्तीस उमरावों में से हैं। आपका तथा आपके राजकुमार साहब का अत्याग्र होने से महाराज श्री भगवानपुर पधारे। वहां मुनिश्री के छः भाषण हुए। समस्त राजपरिवार ने व्याख्यान श्रवण किया। रनिवास की सभी महिलाओं ने भी उपदेशामृत का पान किया। राजस्थान की तरफ से जीव दया का पट्टा भेंट किय गया। रनिवास की महिलाओं ने पक्षी तथा हिरण का मांस न खाने की प्रतिज्ञा की।

रावतजी सा० ठिकाना मेजा:—आपने अपने कामदार को भेज कर महाराज श्री की सेवा में प्रार्थना करवायी कि— 'कृपा करके मेजा को पावन कीजिए और अपने उपदेश-सुधा की वर्षा कीजिए। चतुर्दशी का व्रत होने से मैं आपकी सेवा में हाजिर न हो सका। कृपया अवश्य दर्शनों का लाभ प्रदान करें।" इस आग्रह भरे

प्रार्थना को मानकर महाराज श्री भैंसा पधारे। वहां महलों में व्याख्यान हुए। व्याख्यानों के प्रभाव से प्रभावित होकर रावतजी सा० ने जीवदया का पट्टा भेंट किया।

खैराबाद—यहां के ठाकुर सा० श्रीमान् वाघसिंहजी सा०ने उपदेश श्रवण कर जीवदया का पट्टा भेंट किया।

हमीरगढ़—यहां के रावतजी सा० श्रीमान् मदनसिंहजी सा०-जो महाराणा सा० उदयपुर के बत्तीस उमरावों में से हैं—ने व्याख्यान सुनकर भक्तिभाव प्रदर्शित करते हुए जीव दया का पट्टा भेंट किया।

पुठोली—यहां के ठाकुर सा० ने उपदेश-श्रवण करके अपने आपको धन्य माना। आपने महाराज श्री के व्याख्यान से प्रभावित होकर इस प्रकार प्रतिज्ञाली :-महावीर जयन्ती, पार्श्वनाथ जयन्ती और पुठोली में जैन दिवाकरजी म० के आने जाने के दिन पुठोली भर में जीवहिंसा नहीं होगी। पुठोली की सीमा में जो नदी है इसमें कोई कभी भी मछलियां न मार सके-इसके लिये नदी के किनारे शिलालेख गड़वाने का विचार व्यक्त किया।

यहां से विहार कर महाराज श्री चित्तौड़ होते हुए ओच्छड़ी पधारे। वहां घटियावली के ठाकुर सा श्री शम्भुसिंहजी, पुठोली के ठाकुर सा० श्री प्रतापसिंहजी सा०, रोलाहेड़ा के ठाकुर सा० श्री सज्जनसिंहजी, और ओच्छड़ी के ठाकुर सा० श्री भूपालसिंहजी, चारों एक साथ थे। चारों को एक स्थल पर ही जैन दिवाकरजी म० के शुभ दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुनि श्री के दर्शनों से चारों ठाकुर साहबों को बड़ा हर्ष हुआ। वे गद्गद् होकर बोले कि आपके दर्शनों से हमारी मनोकामना सिद्ध हुई है।

घटियावली के ठाकुर सा० जैन दिवाकरजी म० के सदुपदेशों से बहुत प्रभावित हुए। ठाकुर सा० ने एक शिलालेख गड़वाया कि तालाब में किसी भी जीव की हिंसा करने की सख्त मुमानियत है। आपने ऐसी व्यवस्था कर दी कि विजया दशमी के दिन एक पाड़े को छोड़कर अन्य किसी जानवर का वध नहीं होने पावेगा। तथा महावीर जयन्ती पार्श्वनाथ जयन्ती और जैन दिवाकरजीम० के घटियावली आन जाने के दिन जीवदया का प्रतिपालन किया जावेगा।

रोलाहेड़ा के ठाकुर सा० ने वैशाख, श्रावण, भाद्रपद और कार्तिक इन चार मास में शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली। साथ ही उन्होंने महावीर जयन्ती, पार्श्वनाथ जयन्ती और जैन दिवाकरजी म० के रोलाहेड़ा में आने जाने के दिन जीवहिंसा बन्दी की घोषणा करने का निश्चय किया। बातचीत के दौरान में आपने कहा कि चार साल से मैंने दारू पीना छोड़ दिया है।

ओच्छड़ी के ठाकुर सा० ने प्रत्येक अमावस्या, महावीर जयन्ती और पार्श्व-

नाथ जयन्ती के दिन जीवहिंसा न करने की प्रतिज्ञा ली।

पालणपुरः—के ठाकुर सा० श्रीमान् पृथ्वीसिंहजी सा० ने महाराज श्री के पवित्र उपदेश से प्रत्येक ग्यारस, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन शिकार न करने की प्रतिज्ञा की।

वरकाणाः—के ठाकुर सा० श्रीमान् हमीरसिंहजी सा० ने उपदेश सुनकर पार्श्वनाथ जयन्ती के निमित्त होने वाले मेले के अवसर पर स्वयं शिकार न करने की प्रतिज्ञा की तथा उक्त अवसर पर किसी अन्य को भी शिकार नहीं करने देने की कार्रवाई करने का विचार प्रकट किया। आपने यह भी प्रतिज्ञा ली कि प्रति वर्ष पांच बकरों को अभयदान दूँगा। एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा सोमवार को शिकार नहीं करूँगा और न इन दिनों में मांस-भक्षण ही करूँगा।

मोरवाड़ेः—के कुमार सा. श्री सरदारसिंहजी सा. ने तथा फतेहपुर के ठाकुर सा. श्रीमान् कल्याणसिंहजी सा. ने मुनि श्री के सदुपदेश को सुनकर क्रमशः दो और एक बकरे को अभयदान देने की प्रतिज्ञा की, तथा दोनों ने यह प्रतिज्ञा की कि एकादशी, पूर्णिमा और अमावस्या को शिकार नहीं करेंगे और न मांस ही भक्षण करेंगे।

बाखीः—के ठाकुर सा. ने मुनि श्री के सारगर्भित प्रवचन को सुनकर जीवन पर्यन्त एकादशी, अमावस्या और सोमवार को शिकार न करने तथा प्रत्येक महीने में दो बकरों को अभयदान देने की प्रतिज्ञा की।

कोटः—के ठाकुर सा. श्री धोकलसिंहजी सा. तथा **कोटड़ीः**—के ठाकुर सा. फतहसिंहजी सा. ने निम्न लिखित प्रतीज्ञाएँ की—

(१) हम कदापि पर-स्त्री गमन नहीं करेंगे।
(२) प्रतिवर्ष दो बकरों को अभयदान देवेंगे।
(३) वैशाख एवं भाद्रपद में शिकार नहीं खेलेंगे।
(४) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तथा पौष कृष्णा दशमी के दिन भी शिकार न करेंगे।

तरपालः—के ठाकुर सा. मनसिंहजी और आलमसिंहजी सा. ने आकाश में चलने वाले तथा घास खाने वाले जानवरों को न मारने की तथा महावीर और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन हिंसा न करने की प्रतिज्ञा की तथा चैत्री दशहरे पर प्रति वर्ष बकरा मारा जाता था उसे आगे पर न मारने की प्रतिज्ञा ली।

देलवाड़ा—यहां के महाराणा श्रीमान् यशवन्त सिंहजी सा. जो उदयपुर के महा-

राणा सा. के १६ उमरावों में से हैं–ने महाराजा श्री का उपदेश श्रवण करके बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। आपने अपने हाथों से मुनि श्री को लौंग मिश्री आदि वहराने का लाभ लिया। तथा जीवदया का पट्टा लिखकर भेंट किया। झाला की मदार वाले ठाकुर सा. श्रीमान् जयसिंहजी सा. ने तीतर, जलकुकड़ी, मुग एवं मछालियों का शिकार न करने की प्रतिज्ञा की।

भारोड़ी––(मेवाड़) के ठाकुर सा. श्रीमान् अमरसिंहजी सा. तथा यशवन्तसिंहजी सा. ने मुनिश्री के व्याख्यान सुनकर जीवन पर्यन्त जीवहिंसा न करने तथा मांस मदिरा का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की।

फरिचेड़ के ठाकुर सा. जो महाराणा सा. के बत्तीस उमरावों में से हैं, ने प्रतिज्ञा की कि एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन अगता पाला जायेगा। इन दिनों में शिकार भी नहीं खेला जायगा। नवरात्रि में पूजा के दिन किसी का वध न किया जायगा। महावीर और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन भी अगते रखे जावेंगे तथा जन्माष्टमी, रामनवमी तथा शिवरात्रि के दिन भी जीवदया का प्रतिपालन होगा।

कोठारिया––यहां के रावतजी सा. श्रीमान मानसिंहजी सा. ने महाराज श्री के दर्शन किए तथा व्याख्यानों का लाभ लिया। आपने एक व्याख्यान महलों में फर-माया। राजमहिलाओं ने भी व्याख्यान सुना। उपदेश सुनने के पश्चात् रावतजी सा. ने भेंट स्वरूप निम्न लिखित प्रतिज्ञाएं की :–

(१) जीवन पर्यन्त मदिरा पान न करूंगा।
(२) जीवन पर्यन्त पर-स्त्री गमन न करूंगा।
(३) मुनिश्री के यहां पधारने तथा यहां से विहार करने के दिन अगते रखे जावेंगे।
(४) पहले जितने दिन अगते मुकर्रर किए गए हैं उतने ही दिन शिकार नहीं करूंगा तथा मांस भक्षण नहीं करूंगा।

मोरवास––यहां के ठाकुर साहब अर्जुनसिंह जी सा. ने जीवहिंसा न करने की प्रतिज्ञा की।

मोही––यहां के ठाकुर सा. दीपसिंहजी सा. ने जितने दिन मुनिश्री यहां विराजे उतने दिन अगते पलवाये और जीवदया का पट्टा लिखकर भेंट किया।

लासाणी––यहां के ठाकुर साहब श्रीमान् खुमानसिंहजी सा. मुनिश्री के अनन्य भक्त हैं। जब महाराजश्री लासाणी पधारे तब आप मुनिश्री की सेवा में दिनमें दो बार पधारते थे। ठाकुर सा. के बाग में ही महाराजश्री विराजमान थे। ठाकुर सा. के युवराज तथा छोटे कुमार साहब ने भी उपदेश सुनने का लाभ लिया।

नाथ जयन्ती के दिन जीवहिंसा न करने की प्रतिज्ञा ली।

पालणपुर:—के ठाकुर सा० श्रीमान् पृथ्वीसिंहजी सा० ने महाराज श्री के पवित्र उपदेश से प्रत्येक ग्यारस, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन शिकार न करने की प्रतिज्ञा की।

वरकाणा:—के ठाकुर सा० श्रीमान् हमीरसिंहजी सा० ने उपदेश सुनकर पार्श्वनाथ जयन्ती के निमित्त होने वाले मेले के अवसर पर स्वयं शिकार न करने की प्रतिज्ञा की तथा उक्त अवसर पर किसी अन्य को भी शिकार नहीं करने देने की कार्रवाई करने का विचार प्रकट किया। आपने यह भी प्रतिज्ञा ली कि प्रति वर्ष पांच बकरों को अभयदान दूँगा। एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा सोमवार को शिकार नहीं करूँगा और न इन दिनों में मांस-भक्षण ही करूँगा।

मोरवाड़:—के कुमार सा. श्री सरदारसिंहजी सा. ने तथा फतेहपुर के ठाकुर सा. श्रीमान् कल्याणसिंहजी सा. ने मुनि श्री के सदुपदेश को सुनकर क्रमशः दो और एक बकरे को अभयदान देने की प्रतिज्ञा की, तथा दोनों ने यह प्रतिज्ञा की कि एकादशी, पूर्णिमा और अमावस्या को शिकार नहीं करेंगे और न मांस ही भक्षण करेंगे।

बारवी:—के ठाकुर सा. ने मुनि श्री के सारगर्भित प्रवचन को सुनकर जीवन पर्यन्त एकादशी, अमावस्या और सोमवार को शिकार न करने तथा प्रत्येक महीने में दो बकरों को अभयदान देने की प्रतिज्ञा की।

कोट:—के ठाकुर सा. श्री धोकलसिंहजी सा. तथा **कोटड़ी:**—के ठाकुर सा. फतहसिंहजी सा. ने निम्न लिखित प्रतिज्ञाएँ की—

(१) हम कदापि पर-स्त्री गमन नहीं करेंगे।
(२) प्रतिवर्ष दो बकरों को अभयदान देवेंगे।
(३) वैशाख एवं भाद्रपद में शिकार नहीं खेलेंगे।
(४) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तथा पौष कृष्णा दशमी के दिन भी शिकार न करेंगे।

तरपाल:—के ठाकुर सा. भगसिंहजी और आलमसिंहजी सा. ने आकाश में चलने वाले तथा घास खाने वाले जानवरों को न मारने की तथा महावीर और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन हिंसा न करने की प्रतिज्ञा की तथा चैत्री दशहरे पर प्रति वर्ष बकरा मारा जाता था उसे आगे पर न मारने की प्रतिज्ञा ली।

देलवाड़ा:—यहां के महाराणा श्रीमान् यशवन्त सिंहजी सा. जो उदयपुर के महा-

राणा सा. के १६ उमरावों में से हैं–ने महाराजा श्री का उपदेश श्रवण करके बड़ी
प्रसन्नता प्रकट की। आपने अपने हाथों से मुनि श्री को लौंग मिश्री आदि बहराने
का लाभ लिया। तथा जीवदया का पट्टा लिखकर भेंट किया। झाला की मदार वाले
ठाकुर सा. श्रीमान् जयसिंहजी सा. ने तीतर, जलकुकड़ी, मृग एवं मछलियों का
शिकार न करने की प्रतिज्ञा की।

गोड़ी–(मेवाड़) के ठाकुर सा. श्रीमान् अमरसिंहजी सा. तथा यशवन्तसिंहजी
ने मुनिश्री के व्याख्यान सुनकर जीवन पर्यन्त जीवहिंसा न करने तथा मांस
मदिरा का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की।

फरिचेड़ के ठाकुर सा. जो महाराणा सा. के बत्तीस उमरावों में से हैं, ने
प्रतिज्ञा की कि एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन अगता पाला जायेगा।
इन दिनों में शिकार भी नहीं खेला जायगा। नवरात्रि में पूजा के दिन किसी का वध
न किया जायगा। महावीर और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन भी अगते रखे जायेंगे
तथा जन्माष्टमी, रामनवमी तथा शिवरात्रि के दिन भी जीवदया का प्रतिपालन
होगा।

कोठारिया–यहां के रावतजी सा. श्रीमान मानसिंहजी सा. ने महाराज श्री के
दर्शन किए तथा व्याख्यानों का लाभ लिया। आपने एक व्याख्यान महलों में कर-
वाया। राजमहिलाओं ने भी व्याख्यान सुना। उपदेश सुनने के पश्चात् रावतजी सा.
भेंट स्वरूप निम्न लिखित प्रतिज्ञाएं कीं :–

(१) जीवन पर्यन्त मदिरा पान न करूँगा।
(२) जीवन पर्यन्त पर-स्त्री गमन न करूँगा।
(३) मुनिश्री के यहां पधारने तथा यहां से विहार करने के दिन अगते रखे जायेंगे।
(४) पहले जितने दिन अगते मुकर्रर किए गए हैं उतने ही दिन शिकार नहीं करूँगा तथा मांस भक्षण नहीं करूँगा।

मोरवास–यहां के ठाकुर साहब अर्जुनसिंह जी सा. ने जीवहिंसा न करने की
प्रतिज्ञा की।

मोही–यहां के ठाकुर सा. दीपसिंहजी सा. ने जितने दिन मुनिश्री यहां विराजे
उतने दिन अगते पलवाये और जीवदया का पट्टा लिखकर भेंट किया।

लासाणी–यहां के ठाकुर साहब श्रीमान् खुमानसिंहजी सा. मुनिश्री के अनन्य
भक्त हैं। जब महाराजश्री लासाणी पधारे तब आप मुनिश्री की सेवा में दिनमें दो
बार पधारते थे। ठाकुर सा. के बाग में ही महाराजश्री विराजमान थे। ठाकुरसा. के
ज्येष्ठ पुत्र धन्य युवराज तथा छोटे कुमार साहब ने भी उपदेश सुनने का लाभ लिया।

ठाकुर सा० ने जीवदया का पट्टा समर्पित किया। जब महाराज श्री वहां से ताल पधारे तो आप भी व्याख्यान सुनने के लिये ताल पधारे और रात को वहीं रहे। दूसरे दिन मांगलिक सुनने के बाद जब आप जाने लगे तो बोले कि "आपके दर्शनों से तृप्ति आती ही नहीं"। आपकी महाराज श्री के प्रति अनन्य भक्ति है।

ताल:—लासाणी से विहार कर महाराज श्री ताल पधारे। यहां के ठाकुर सा. ने अपना विरादरी में ही महाराज श्री का निवास कराया। ठाकुर सा. व उनके कुमार ने उपदेश सुनने का लाभ लिया। विहार के समय ठाकुर सा. ५ मील तक पहुँचाने आये थे। ठाकुर सा. का धर्म प्रेम सराहनीय है। आपने जीवदया का पट्टा महाराज श्री को समर्पित किया। आपने पट्टे में इस प्रकार प्रतिज्ञा की है:-

(१) कार्तिक व वैशाख महिने में शिकार नहीं खेलेंगे। बाकी के महिनों में से प्रतिमास में आठ दिन के सिवाय बाकी २२ दिनों में शिकार न की जायगी।

(२) महावीर जयन्ती और पार्श्वनाथ जयन्ती को सदा अगता पाला जावेगा।

(३) स्वामीजी चौथमलजी म० के पधारने व विहार करने के दिन अगता रहेगा।

(४) प्रत्येक मास की ग्यारस तथा अमावस्या के दिन मांस भक्षण नहीं किया जावेगा।

(५) भाद्रपद मास में हमेशा अगता पलाया जावेगा और शिकार नहीं की जावेगी।

(६) श्रावण मास के सोमवारों को हमेशा के लिये अगता पाला जावेगा।

(७) स्वामीजी चौथमलजी म० सा० का ताल पधारना हुआ इस खुशी में इस मर्तबा इस साल के लागत के आने वाले करीब ६०-७० बकरे अमरे कराये जावेंगे।

(८) पर्यूषणपर्व में कतई अगता पाला जावेगा।

(९) पहले के किये हुए त्याग भी बदस्तूर पाले जावेंगे।

बड़ीसादड़ी:—यहां के राजराणा साहब श्रीमान् दुलेहसिंहजी सा. ने व्याख्यान श्रवण करने के पश्चात् महलों में महाराज श्री के पुनः व्याख्यान करवाये और व्याख्यान की समाप्ति होने पर इस प्रकार प्रत्याख्यान किये।

(१) पक्षियों की शिकार इच्छा करके न करेंगे।

(२) मादा जानवरों की भी इच्छा करके शिकार न करेंगे।

(३) तालाब में मच्छियों तथा अन्य जीवों की शिकार बिना इजाजत कोई न कर सकेगा। इसके लिये शिलालेख तालाब की पाल पर स्थापित

महाराजा श्री दिलीपसिंहजी साहब, सैलाना

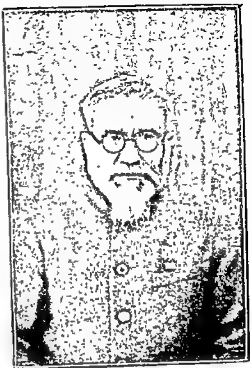
आप श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेशों से बड़े

स्व० नवाब साहब श्री शेरमहम्मदखाँ,

आप—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के ओजस्वी व्याख्यानों को श्रवण कर बड़े प्रसन्न हुए।

आपने—श्री जैन दिवाकरजी महाराज का उपदेश बड़े मनन-पूर्वक श्रवण किया ।

राष्ट्रनेता राजा श्री महेन्द्रप्रतापजी, वृन्दावन



आपका—स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर
श्री जैन दिवाकरजी महाराज की सेवा में शुभागमन

किया जावेगा।

राजराणा सा. के प्रयत्न से अन्य कतिपय सरदारों ने तथा राजकर्मचारियों ने विविध प्रत्याख्यान किये। तलावदा के ठाकुर सा. झाला अमरसिंहजी ने मृग और मछलियों को न मारने की प्रतिज्ञा ली। (२) नाहारसिंहजी झाला ने किसी भी जानवर को न मारने की प्रतिज्ञा ली तथा पक्षियों का मांस न खाने का नियम लिया। (३) श्री चमनदान जी आशिया ने मृग तथा पक्षियों का शिकार नहीं करने की प्रतिज्ञा ली। इसी तरह अन्य कई सरदारों ने कई जानवरों को न मारने तथा मांस मदिरा का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की। विस्तार भय से सबका वर्णन नहीं किया जाता है।

राजराणा सा. ने अपने पट्टे में इस बात का जिक्र किया है कि "आज के व्याख्यान में कितनेक जागीरदार व हजूरियों ने हिंसा वगैरह न करने की प्रतिज्ञा की है, उम्मेद है वे मुआफिक प्रतिज्ञा पाबन्द रहेंगे।

बोहेड़ा:—यहां के रावतजी सा. श्रीमान् नाहरसिंहजी सा. को पहले जैनसाधुओं के व्याख्यान सुनने का चाव नहीं था। आपकी रुचि इस ओर नहीं थी परन्तु जब जैन दिवाकरजी म० वहां पधारे और उनका उपदेश प्रारंभ हुआ तो रावत जी सा. तथा उनके सुपुत्र नारायणसिंहजी सा. भी सेवा में उपस्थित हुए। एक ही व्याख्यान के सुनने से रावतजी सा. में जागृति पैदा हुई और बाद में उन्होंने कई व्याख्यान करवाये। फलस्वरूप आपने इस प्रकार प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञा पत्र महाराज श्री को भेंट किया :—

(१) मांदा जानवर तथा चिड़ियां आदि पक्षियों की शिकार न की जावेगी और न करने दी जावेगी।

(२) मोर कबूतर, सफेद डेकड़ जो मुसलमान लोग मारते हैं न मारने दिये जावेंगे।

(३) पर्यूषणपर्व में व श्राद्ध पक्ष में आम तौर पर जो बेचने के लिये जो बकरे आदि काटते हैं उनकी रोक की जावेगी।

(४) पर्यूषणपर्व में दारू की भट्टियां कतई बन्द रखी जावेंगी।

लूणदा:—यहां के रावतजी श्रीमान् जवानसिंहजी सा. ने भी महाराज श्री के सदुपदेश से वैशाख मास में खरगोश की शिकार न करने, छोटे पक्षियों की शिकार न करने, मांदा जानवरों की शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली तथा नदी गोमती व महादेवजी श्री केरेश्वर के पास श्रावण मास में मछलियां न मारने दी जाने की राजाज्ञा घोषित की।

कानोड़:—यहां के रावतजी श्रीमान् केशरीसिंहजी सा. ने महाराज श्री के व्याख्यानों से प्रभावित होकर इस प्रकार प्रतिज्ञा की :—

(१) आपके पधारने व विहार करने के दिन अगता रहेगा।
(२) पचीस बकरे अमरिये कराये जावेंगे।
(३) यहां के तालाबों व नदियों में बिना इजाजत कोई मच्छियां न मार सकेगा।
(४) मादा जानवरों व पक्षियों की शिकार न की जावेगी।

भिण्डरः—यहां के महाराज श्रीमान् भूपालसिंहजी सा. ने तीन व्याख्यान सुने और परिणाम में जीवदया का पट्टा भेंट किया। पट्टे में हिरन व छोटे पक्षियों की शिकार न करने की प्रतिज्ञा की तथा जिसदिन महाराज श्री का पधारना तथा विहार करना हो उसदिन खटीकों की दूकानें बन्द करवाने के लिए लिख दिया।

बम्बोराः—यहां के रावतजी सा. श्रीमान् मोड़सिंहजी सा. ने व्याख्यान सुनने के बाद नीचे लिखी प्रतिज्ञायें करके पट्टा अर्पित किया है—

(१) मैं अपने हाथ खाजरू, पाड़ा नहीं मारूंगा न मछलियां ही मारूंगा।

(२) एकादशी के दिन हमेशा के लिए मेरे रसोड़े में मांस न बनेगा। मैं स्वयं न खाऊंगा। इस दिन खटीकों की व कलालों की दुकानें बंद रहेंगी व कुम्हारों के अवाड़े न पकेंगे। अगता रहेगा।

(३) नदी में अमरःश्री के नीचे से बड़ुया तक कोई भी मछलियां न मार सकेगा।
(४) एकादशी के दिन ऊँट पोठी नहीं लादने दिये जावेंगे।
(५) आपके पधारने और विहार करने के दिन अगता रहेगा
(६) सात बकरों को अभयदान दिया जावेगा।

कुरावड़—यहां के रावतजी सा. श्रीमान् बलवन्तसिंहजी सा. ने महाराज श्री के हृदयग्राही व्याख्यानों को सुनकर इस प्रकार प्रतिज्ञाएँ कीः—

(१) कुरावड़ नदी, तालाब पर जलचर जीवों की हत्यापर रोक रहेगी।
(२) आपके शुभागमन तथा प्रस्थान के दिन जीवहिंसा का अगता रहेगा।
(३) मादा जानवर इरादतन नहीं मारे जावेंगे
(४) पक्षियों में सात जातियों के सिवाय दूसरे जाति के जीव की हिंसा न होगी:
(५) भाद्रपद कृष्णा अष्टमी से भाद्रपद-पूर्णिमा तक खटीकों की दुकानें बंद रहेंगी।
(६) श्राद्धपक्ष में पहले से अगता रहता है सो बदस्तूर रहेगा।
(७) प्रतिमास एकादशी, अमावस्या व पूर्णिमा को अगता सदा से रहता है वह बदस्तूर कायम रहेगा।
(८) आश्विन मास की नवरात्रि में एकदिन,

(९) दरवाजे नवरात्रि में एक पाड़े का बलिदान होता है वह बंद कर दिया जावेगा।
(१०) नवरात्रि में माताजी करणाजी पांगलीजी के पाड़ा नहीं चढ़ाया जावेगा
(११) दस बकरों को अभयदान दिया जावेगा।

बांठरमाः—यहां के रावतजी सा. श्रीमान् दिलीपसिंहजी सा. ने भी व्याख्यान सुनकर इस प्रकार प्रतिज्ञा कीः—

(१) मादी जानवर की आखेट इच्छापूर्वक न की जायगी।
(२) पढगढ का मांस-भक्षण न किया जायगा।
(३) प्रायः मुसलमान लोग मोर, कबूतर आदि पक्षियों की शिकार किया करते हैं अब से उनको रोक करा दी जायेगी।
(४) नवरात्रि और दशहरे पर जो चौगान्या व माताजी के बलिदान के लिए पाड़ों का वध किया जाता है, अब वह नहीं होगा।
(५) फूलसागर तालाब में मछलियाँ नहीं मारी जायेंगी।
(६) पांच बकरों को अभयदान दिया जावेगा।
(७) एकादशी, पूर्णिमा, जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि, वसंतपञ्चमी, महावीर जयन्ती, स्वामीजी चौथमलजी म. सा. के आगमन और प्रस्थान के दिन, इन तिथियों पर अगता पाला जावेगा

बेदला—यहां के रावतजी रायबहादुर श्रीमान् नाहरसिंहजी सा. ने महाराज श्री के उपदेश से महावीर जयन्ती, पार्श्व जयन्ती, पर्यूषण पर्व आदि के अवसर पर अगता पालन की घोषणा करवायी। महाराज श्री के यहां पधारने और यहां से विहार करने के दिन भी अगते रखे जाने के लिए आपने हुक्म निकाल दिया।

सलुम्बरः—उदयपुर के चातुर्मास में यहां के रावतजी सा. ने महाराज श्री के दर्शनों एवं व्याख्यान-श्रवण का लाभ लिया। उससे प्रभावित होकर आपने कतिपय प्रतिज्ञाएं लीं। उनमें से मुख्य २ इस प्रकार हैं:—

(१) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तथा पौष कृष्णा दशमी को सदा अगता रखा जावेगा।
(२) नवरात्रि में पाड़ों का वध होता है उनमें से एक पाड़े को अभयदान दिया जावेगा।
(३) मादा जानवर की शिकार नहीं की जायगी।
(४) कतिपय पक्षियों की शिकार नहीं की जायेगी तथा उनका मांस भी काम में नहीं लिया जावेगा।
(५) सलूम्बर के तालाब में बिना इजाजत कोई शिकार न कर सकेगा।

इनके अतिरिक्त महाराज श्री जब सलूम्बर में पधारें तब उनके आग-

मन और विहार के दिन अगते पाले जावेंगे।

साथही जब महाराज श्री कृपा करके सलुम्बर क्षेत्र को पावन करेंगे उस समय जीवहिंसा न करने की और भी प्रतिज्ञा ली जावेगी।

मेवाड़ के अन्य कतिपय क्षेत्रों, ठिकानों और ग्रामों को पावन करते हुए महाराज श्री का मालव भूमि में पदार्पण हुआ।

रतलाम—नरेश महाराजा सर सज्जनसिंहजी सा.—संवत १९७८ का चातुर्मास रतलाम में हुआ। आश्विन कृष्णा १२ तदनुसार ता० २८ सितम्बर सन् १९२१ को हिज हायनेस मेजर जनरल महाराजा सर सज्जनसिंहजी साहब के. सी. एस. आई., के. सी. वी. ओ अपने कौन्सिल के मेम्बरों, सरदारों और अफसरों के साथ व्याख्यान सुनने के लिए पधारे। सरकार का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, औषधि का सेवन हो रहा था तो भी १॥ घण्टे तक विराजकर बड़े ध्यान से महाराजा साहब का व्याख्यान सुनते रहे। बीच में ३-४ बार जैन दिवाकरजी म. ने व्याख्यान बंद करना चाहा किन्तु महाराजा सा. ने वैसा न होने दिया। आखिर मे व्याख्यान के सम्पूर्ण होजाने पर आपने महाराजा श्री से निवेदन किया कि "अभी तो आप विराजेंगे ही मैं फिर भी दर्शनों का लाभ लूंगा"।

सारंगी—रतलाम का चातुर्मास पूर्ण करके महाराज श्री सारंगी पधारे। यहां के ठाकुर सा. श्रीमान् जोरावरसिंहजी सा. ने बड़ी श्रद्धा भक्ति प्रदर्शित की। यहां महाराज श्री ने एक दिन "परस्त्रीगमन-निषेध" पर ओजस्वी भाषण दिया। इस व्याख्यान के प्रभाव से अनेक लोगों ने परस्त्रीगमन न करने की प्रतिज्ञा की। व्याख्यान के पश्चात् ठाकुर सा. की ओर से एक पत्र आया। उसमें ठाकुर सा ने लिखा था–

"आप कृपापूर्वक मेरे गांव में पधारे। व्याख्यान सब पक्षपात रहित एवं उपदेश पूर्ण थे। अवसर न होने से आपका विराजना अधिक न हुआ, इससे मैं असन्तुष्ट रहा। आज आपने 'परस्त्रीगमन निषेध पर जो व्याख्यान दिया, वह बड़ा महत्व पूर्ण था। मुझे यह लिखते बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपमें विषय को समझाने की ऐसी उत्तम रीति है कि जिससे हर एक बात मनुष्य हृदय पर असर कर जाती है। यहां की जनता को अपने धार्मिक और शारीरिक पतन से बचाया इसके लिए कोटिशः धन्यवाद। मैंने उस समय प्रतिज्ञा नहीं की थी इससे सम्भव है, आपको शंका उत्पन्न हो; किन्तु उसका कारण था। वह यह कि मैं क्षत्रिय हूं। क्षत्रिय धर्म में परस्त्रीगमन निषिद्ध है। उसपर मुझे एक कविता याद है। मैं इसको हमेशा याद रखता हूं और उसका पालन करता हूं।

—छप्पय—

"यह विरद रजपूत प्रथम मुख झूठ न बोले।
यह विरद रजपूत काछ परत्रिय नहीं खोले॥

वृद्धाश्रम का उद्घाटन एवं उदयपुर से विहार का एक दृश्य—

भगवज्जयन्ती के अवसर पर श्रीमान् रायबहादुर राज्यभूषण सेठ कन्हैयालालजी साहेब भण्डारी इन्दौर के द्वारा चित्तौड़गढ़ वृद्धाश्रम के उद्घाटन का एक दृश्य।

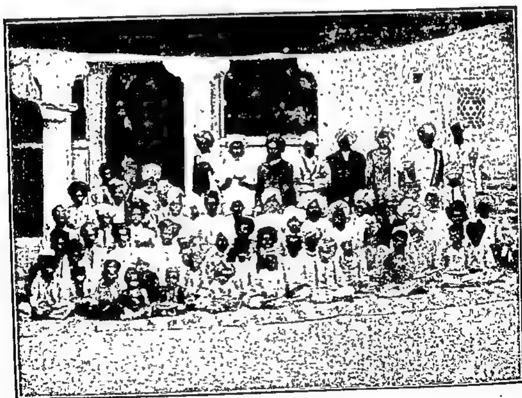




सं० १९९६ के चातुर्मास के पूर्ण पर श्रीजैनदिवाकरजी महाराज के विहार का एक दृश्य।

गंगापुर (मेवाड़) एवं जोधपुर के जिनघर





आप सभी जिनघर भाइयों ने श्रीजैन दिवाकरजी महाराज के उपदेशों से प्रभावित हो मदिरा और मांस का जीवनपर्यन्त त्याग कर जैन शिक्षा ली।

यह विरद रजपूत दान देकर कर जोरे।
यह विरद रजपूत मार अरिया दल मोरे।
जमराज पांव पाछा धरे देखि मतो अवधूतरो।
करतार हाथ दीधी करद यह विरद रजपूत रो॥"

उक्त पत्र से ठाकुर सा. की ज्वलन्त भक्ति और शुभनिष्ठा टपक रही है। एक दिन महाराज श्री ने "अहिंसा परमोधर्मः" इस विषय पर व्याख्यान दिया। इससे ठाकुर सा० पर पर्याप्त असर पड़ा। फलस्वरूप उन्होंने अपने राज्य में दो सरक्यूलर जारी किये। एक सरक्यूलर द्वारा सारंगी परगने में बिना इजाजत शिकार करने की पाबन्दी लगायी गई और दूसरे के द्वारा धार्मिक पर्व तिथियों तथा पर्यूषण पर्व के दिनों में मछलियों के शिकार की सर्वथा रोक कर दी गई। ठाकुर सा० महाराज के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

नामली:—यहां के ठाकुर सा. श्रीमान् मानमहिपालसिंहजी सा. तथा उनके राजकुमार श्री राजेन्द्रसिंहजी सा. ने महाराज श्री के नामली पधारने पर अच्छी भक्ति प्रदर्शित की। आपने व्याख्यान श्रवण किया और उससे प्रभावित होकर महावीर तथा पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन अगते रखना मंजूर किया।

पंचेड़:—जैन दिवाकरजी म. सा. संवत् १९६२ में पंचेड़ पधारे। यहां के ठाकुर सा. श्रीमान् रघुनाथसिंहजी और उनके सुयोग्य भ्राता श्री चैनसिंहजी सा. जैन धर्म से पहले पहल इसी बार महाराज श्री के द्वारा परिचित हुए। महाराज श्री के व्याख्यानों और सदुपदेशों का आप पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आपने कतिपय जानवरों को न मारने की प्रतिज्ञा करली। जैन साधुओं में से सर्व प्रथम महाराज श्री से ही पंचेड़ के ठाकुर सा. का परिचय हुआ और ठाकुर सा. बड़े प्रभावित हुए। तब से जैन साधु तथा जैन धर्म के सम्बन्ध में उनकी बड़ी श्रद्धा होगई।

सैलाना:—यहां के श्रीमंत सरकार श्री दिलीपसिंहजी सा. ने जैनदिवाकरजी महाराज के तीन व्याख्यान श्रवण किये तथा व्याख्यान के अन्त में अपनी हार्दिक भक्ति प्रकट करते हुए आपने कहा कि सचमुच आप जैसे स्वार्थ त्यागी महोपदेशकों की वाणी में ही ओजस्विता और आकर्षण-शक्ति रहती है और इसके द्वारा अनेक उपकार होते रहते हैं। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप यह चातुर्मास यहीं करें। उत्तर में महाराज श्री ने फरमाया कि 'यह चातुर्मास तो उदयपुर के लिये निश्चित हो चुका है। तब आपने उपस्थित जनता की ओर देखकर कहा कि आगामी चातुर्मास यहीं कराने की आप लोग भरसक कोशिश करना। महाराज श्री से भी विनती स्वीकार करने की कृपा करने की प्रार्थना की।

सीतामऊ:—सं१९९१ में जैन दिवाकरजी महाराज सीतामऊ पधारे। वहां के दर-

दिवाकरजी म० ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही धर्मोपदेश एवं जीव दया के प्रचार के निमित्त अर्पित कर दिया।

सामाजिक सुधार।

जैन दिवाकरजी म० के प्रवचनों में जनरंजन की ही सामग्री नहीं होती है अपितु वे अनमोल शिक्षाओं से भरे हुए होते हैं। अलबत्ता इतना जरूर है कि आप हितशिक्षाओं को भी ऐसे ढंग से कहते हैं कि उससे अरुचि उत्पन्न नहीं होती। मनोरंजन के साथ ही साथ जीवनोपयोगी समुचित शिक्षाओं से ओत प्रोत व्याख्यान प्रदान करना आपकी एक मुख्य विशेषता है। आपके व्याख्यानों के द्वारा समाज का सामाजिक एवं नैतिक माप दंड ऊंचा उठा हुआ है। आप अपने व्याख्यानों में पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करते लेकिन जीवनोपयोगी शिक्षा को ऐसे सरल और सुबोध शब्दों में कह जाते हैं कि वह आबाल वृद्ध के हृदय में आसानी से असर कर जाती है। यही कारण है कि आपके व्याख्यानों के द्वारा अनेक ग्रामों में अनेक जातीय एवं सामाजिक सुधार हो सके हैं। आप श्री के सदुपदेश से अनेक ग्रामों के पारस्परिक जातीय मनमुटाव और वैमनस्य दूर हुए जातीय और सामाजिक रीति रिवाजों में आपके सदुपदेश से बहुत कुछ सुधार हुआ। सच्चे धर्मोपदेशक का यह कर्तव्य है कि वह आध्यात्म और मोक्ष की बातें समझाने के पूर्व सामान्य जनता को धर्म की व्यवहारिकता का ज्ञान करावे और धर्म के आधार रूप नीति और सामाजिक रीति के सुधार की ओर आम जनता का लक्ष्य आकर्षित करे। श्री जैन दिवाकरजी म० ने यह कार्य बहुत अच्छी तरह किया है। आपके व्याख्यानों में से आम जनता को व्यवहारिक धर्म और समाज सुधार की प्रेरणा मिलती है। यहां उदाहरण के तौर पर कतिपय समाज सुधारों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है जो जैन दिवाकरजी म० के सदुपदेशों के कारण हुए हैं।

संवत् १९६५ में उदयपुर के समीप नाई नामक ग्राम में जैन दिवाकरजी म० पधारे। वहां भीलों ने जो तीन चार हजार भीलों के अग्रगण्य माने जाते थे आपके व्याख्यान सुने। आपके सरल उपदेश से उन भीलों के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उनके दिल में दया का संचार हुआ। उन लोगों ने महाराज श्री से प्रार्थना की, कि हम हमसे बने वहां तक हिंसा न करने की प्रतिज्ञा को तय्यार हैं लेकिन यहां के महाजनों को न्यूनाधिक न तौलने की शपथ दिलावें। भीलों का कथन सर्वथा उचित ही था अतएव महाराज श्री ने वहां के महाजनों को समझाकर न्यूनाधिक तौलने मापने की शपथ दिलाई। तत्पश्चात् भीलों ने अपने कथनानुसार हिंसा न करने की प्रतिज्ञा ली। भीलों ने और भी इस प्रकार प्रतिज्ञाएं की।

(१) वन में दावाग्नि नहीं लगावेंगे।

(२) मनुष्य को किसी प्रकार की पीड़ा न देंगे।

(३) विवाह शादी के मौके पर मामा की ओर से भैंसे, बकरे आदि आते और वे मारे जाते हैं किन्तु आज से हम ऐसा नहीं होने देंगे और उन आने वाले पशुओं को अमर कर दिया करेंगे।

(४) उक्त प्रतिज्ञाएं हमने आपके सन्मुख की हैं। हम हमेशा इन्हें निभाते रहेंगे।

कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि महाराज श्री के अमृतमय सदुपदेश से कितना भारी उपकार हुआ। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि भीलों पर ऐसा सचोट प्रभाव अन्य किसी का नहीं पड़ा।

हमीरगढ़ में ३६ वर्षों से हिन्दुओं में तथा छीपाओं में पारस्परिक वैमनस्य चल रहा था। अनेक धर्मोपदेशकों ने इस वैमनस्य को दूर करने के लिये प्रयत्न किया परन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि उनमें मेल होना अशक्य सा होगया था। जैन दिवाकरजी म० जब हमीरगढ़ पधारे और यह समाचार उन्हें मालूम हुए तो उन्होंने इसके लिये उपदेश फरमाया। आपके उपदेश का उन लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि जो कार्य असम्भव सा लगता था वह सम्भव होगया। दोनों जातियों में मेल होगया। इसी तरह माहेश्वरी तथा महाजनों में भी मनमुटाव था सो महाराज श्री के सद्प्रयत्न से दूर होगया।

चित्तौड़ में ब्राह्मण जाति में कई वर्षों से पारस्परिक ईर्षा के कारण दो तड़ें पड़ी हुई थीं। महाराज श्री के सदुपदेश से ये तड़ें मिटगई और सब एक होगये। हाकिम सा. ने इस मिलन की खुशी में सब को प्रीति भोज दिया।

गंगार में अनेक जातियों में तड़ बन्दियां हो रही थीं। महाराज श्री के प्रयत्न से अनैक्य दूर होगया और सबमें पारस्परिक मैत्री स्थापित हुई।

नंदराय ग्राम में कई ओसवाल अजैन होरहे थे। महाराज श्री ने उन्हें प्रतिबोध देकर पुनः जैनी बनाया। जहाजपुर में अजैनों में मनमुटाव था सो महाराजश्री ने दूर किया महाराज श्री के सामाजिक सुधार के सम्बन्ध में दिये गये व्याख्यान के कारण दिगम्बर तथा माहेश्वरी लोगों ने वेश्यानृत्य, कन्या विक्रय, आतिशबाजी तथा सात कुव्यसनों को छोड़ने की प्रतिज्ञा की। अनेक नागरिकों ने दुर्व्यसनों का त्याग किया।

एक दिन जब महाराज श्री प्रातःकाल शौचकर्म से निवृत्त होकर पधार रहे थे तब वेश्याओं ने मार्ग में खड़े होकर प्रार्थना की कि "मुनिवर! आप हमारी आजीविका पर लात मारने पधारे हैं! आपने वेश्या-नृत्य की प्रथा को बन्द करवा कर हमारी रोजी छीन ली...आदि"। इस पर मुनि श्री ने फरमाया कि समाज के नैतिक जीवन के लिये खतरनाक प्रथाओं का निवारण करना ही धर्म और कर्त्तव्य है। आप को अपने जीवन निर्वाह के लिए अन्य अनेक सात्विक

सर पंच मोतीजी पटेल—इन चार गांव के पंच कसूर में इकट्ठे हुए। चम्पाबाई के यहां गंगाजल हुआ जिसमें पूज्य श्री १००८ श्री मन्नालालजी महाराज के सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमलजी म० सा० के सदुपदेश से सबने यह प्रतिज्ञा की है कि जो दारू पीयगा और मांस खावेगा सो जात से बन्द होवेगा। अर्थात् जाति से छह महीना अलग रहेगा। और ११) रु० दंड के देने होगें। यह इकरार नामा महिदपुर, उज्जैन, खाचरोद, सुखेड़ा, पिपलौदा, जावरा, मन्दसौर चित्तौड़, रामपुरा, भानपुरा, कुकड़ेश्वर, मनासा, अन्द्राजन ६० गांवों में माना जावेगा। सं. १९७८ फाल्गुन वदी ३ ता. १३-२-२२।

उक्त इकरार नामा मन्जूर होजाने पर चमारों ने मांस खाना और शराब पीना बन्द कर दिया। इससे शराब के ठेकेदार को आर्थिक ठेस लगी इसलिए वह बड़ा क्रोधित हुआ। उसने सरकार को इत्तला की। स्वार्थी सरकारी अधिकारियों ने चमारों को बुलाकर धमकाया और सख्ती का बर्ताव किया। तब उन लोगों ने दृढ़ता के साथ कहा कि भले ही गर्दन पर तलवार रख दी जाय लेकिन हम प्रतिज्ञा का भंग न करेंगे। सत्ता का दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों ने एक चमार के मुख में जबरन शराब उँड़ेल दीया। उसने शराब नहीं पी। किन्तु प्रतिज्ञा को सर्वथा अखण्डित रखने और दृढ़ता के साथ पालने के आशय से पंचों ने स्पर्शमात्र पर ही १।) रू० का दण्ड किया और उसकी मिठाई वितरित की। पंचों का आशय यह प्रकट करने का था कि शराब के स्पर्श से भी इतना दंड होता है तो पीने से कितना होगा? चमार लोग अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। इस तरह कतिपय मांसाहारियों ने मांस तथा मदिरा पान करने वालों ने मदिरा का त्याग किया है। यह जैन दिवाकरजी म. के सदुपदेश का पुण्य प्रभाव है।

श्री जैन दिवाकरजी म. ने अनेकों खटीकों (हिंसकों) को अपने उपदेशामृत का पान करवाकर हिंसा के महान् पाप से छुड़ाये। संवत् १९७० में भीलवाड़ा (मेवाड़) के ३५ खटीकों ने महाराज श्री का दयामय सदुपदेश श्रवण कर हमेशा के लिये अपना हिंसक पेशा स्वेच्छा से बन्द कर दिया और दूसरे व्यवसाय के द्वारा वे अपना निर्वाह करने लगे। इसी तरह सवाईमाधोपुर में आपके उपदेश से ३० खटीकों ने कसाईपने का धन्धा छोड़ दिया और मजदूरी और काश्तकारी करने लगे। इसका परिमाण द्रव्य और भाव-उभय रूप से बड़ा लाभकारी हुआ। वे लोग कहते हैं कि-"हम उस हिंसक पेशे को छोड़कर अब बड़े आराम में हैं। जैन दिवाकरजी महाराज ने हमारा जीवन सुधार दिया। जब हम हिंसकपेशा करते थे तब हमको भरपेट अन्न भी नहीं मिलता था और न वस्त्र ही पहिनने के लिये मयस्सर होते थे। अब हम सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह सब श्री जैन दिवाकरजी म. के आशीर्वाद और सदुपदेश का फल है"। महा श्री ने संवत् १९७१ में में आगरा से मालवा के प्रति पधारते हुए कोटा के समीप मार्ग में एक खटीक को सोता हुआ देखा। उसके पास दो बकरे बँधे हुए थे। महाराज श्री ने अनुमान से

जान लिया कि यह सोने वाला व्यक्ति वधिक है। वह खटीक कुछ समय बाद जगा उसके जगने पर महाराज श्री ने उसे प्रतिबोध दिया कि "भाई! तू यह पाप किस-लिए करता है? जीवननिर्वाह के तो अन्य अनेक साधन हैं। तुझको समझना चाहिए कि जो जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे फल मिलता है। अगर तुम पाप कर्म करोगे तो उसका बुरा फल भी तुम्हें भोगना पड़ेगा। दूसरा मनुष्य उसका फल भोगने नहीं आवेगा। यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि जो दूसरों को दुख देता है वह स्वयं दुखी होता है। इन मूक प्राणियों को भी दुख सुख का भान होता है। इनके भी वेदना होती है। जैसे तुम्हारे शरीर में सुई चुभाने से वेदना होती है वैसे ही इन मूक पशुओं को भी होती है। तुम्हें जैसे अपने प्राण प्रिय हैं क्या वैसे इन जानवरों को प्रिय नहीं हैं? सोचो! समझो! विचार करो! हिंसा का परिणाम अच्छा नहीं होता। कोई हिंसक कभी सुखी नहीं हुआ। तुम्हीं बताओ क्या तुम सुखी हो? तुम्हारे शरीर पर पूरे वस्त्र भी नहीं हैं। इससे मैं अनु-मान करता हूँ कि भी तुम्हें पूरी सामग्री प्राप्त नहीं होती होगी। यदि यह ठीक है तो तुम इस हिंसक पेशे को छोड़ क्यों नहीं देते? दुनियां में कई दूसरे धन्धे हैं जिनसे सुखपूर्वक जीविका चल सकती है। देखो! माधोपुर में भी मेरे कहने से ३० खटीकों ने वध करना छोड़ दिया और दूसरे धन्धे लग गये तभी से वे सुखी हैं। मेरा कहना मानकर तुम इस धन्धे को छोड़दो तो तुम्हें सब दृष्टि से लाभ होगा।"

यह उपदेश सुनकर वह खटीक कहने लगा कि "हां महाराजजी आप कहते हैं सो सब ठीक है। मैं परमात्मा को सर्व व्यापी मानकर चन्द्र सूर्य की साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक जीऊंगा तब तक कभी इस धन्धे को न करूँगा परन्तु आपके साथ जो भक्त हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि मैं गरीब आदमी हूँ। मेरे पास ये दो और तीस दूसरे बकरे मेरे घर पर हैं। इनको आप खरीदकर मुझे रुपये दे दें तो मैं दूसरा धन्धा कर सकूँ!" साथ के श्रावकों ने उसकी प्रार्थना मानली। तब से उसने कसाईपने का व्यवसाय छोड़ दिया और कृषि करता हुआ अपना सुखपूर्वक निर्वाह करने लगा।

इस प्रकार जैन दिवाकरजी म० सा० ने अनेक खटीकों के जीवन का परि-वर्तन कर दिया। जो खटीक सैकड़ों प्राणियों का वध करके पाप के भयंकर भार से लदे जा रहे थे उन्हें जीवदया का उपदेश देकर महाराज श्री ने उनका यह भव और परभव सुधार दिया। खटीकों के जीवन का सुधार होने के साथ हजारों प्राणियों को स्वयमेव अभयदान मिल गया। जीवदया की यही सुन्दर प्रणालिका है। हिंसकों को उपदेश देकर हिंसा छुड़ाना सच्ची जीवदया है। इससे हिंसक और हिंस्य दोनों का महान् उपकार होता है। जैन दिवाकरजी म० ने सैकड़ों वधिकों को जीवदया के उपदेश के द्वारा हिंसा से बचाकर हजारों मूक पशुओं को मृत्यु के घाट उतरने से बचाये हैं। सैकड़ों वधिक हिंसक पेशे को छोड़ अपना सुधार

के आचार-विचार से अनभिज्ञ होने के कारण—भक्तिवश महाराज श्री के लिए फल फूल की डाली (भेंट) भेजी। जो चपरासी डाली लेकर आया था उसी के साथ महाराज श्री ने कहलवा दिया कि जैन मुनि किसी प्रकार की डाली नहीं स्वीकार करते। इसे ग्रहण करना तो दूर रहा, छूना भी हमारे लिए वर्जित है। इसके पश्चात् एक दिन टेलर सा. एक शीशी में भरकर ऐसा खाद्य पदार्थ लाये जो जल में डालदिये जानेपर दूध सा बन जाता था। टेलर सा. ने महाराज श्री से प्रार्थना की कि यह सर्वथा निर्जीव है अतःआप इसे अवश्य ग्रहण कीजिये। परन्तु महाराज श्री ने उसे ग्रहण नहीं किया। इसपर टेलर सा. ने कहा कि मैं यह पदार्थ आपकी सेवा में अर्पण करने के लिये लाया था परन्तु आप इसे स्वीकार नहीं करते हैं अतएव मैं वापस अपने उपयोग में नहीं लेता, हुआ अस्पताल में भेज देता हूं ताकि वहां किसी अन्य के उपयोग में आसके। कैसी है एक यूरोपियन साहब की महाराज श्री के प्रति भक्ति।

एक दिन टेलर सा. एक यूरोपियन कप्तान को साथ लेकर महाराज श्री के दर्शन के लिये आये। वह कप्तान अंग्रेजी सेना के अध्यक्ष (कर्नल) थे। टेलर सा. ने कप्तान महोदय से महाराज श्री के सम्बन्ध में वार्तालाप किया और उन्हें ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व रखने वाले महात्मा के दर्शन के लिये प्रेरणा की टेलर सा. की प्रेरणा से वे कर्नल महोदय भी दर्शन के लिये आये। प्रासंगिक वार्तालाप के पश्चात् जैन दिवाकरजी महाराज सा. ने उन्हें उपदेश दिया। उससे प्रभावित होकर उन्होंने मोर और कबूतर का शिकार न करने की प्रतिज्ञा की। आगन्तुक कर्नल महोदय भी जैन दिवाकरजी महाराज सा. के दर्शनों का लाभ लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। चित्तौड़ चातुर्मास तक टेलर सा. ने खूब ही भक्ति प्रदर्शित की। पश्चात् भी जब तक आपको अवसर मिला तब तक आपने दर्शनों एवं सेवा भक्ति का लाभ लिया। पत्र द्वारा आप बहुत समय तक महाराज श्री के समाचार मंगवाया करते थे। महाराज श्री के प्रति उनकी अन्तरंग श्रद्धा दिनोंदिन अधिक ही होती रही।

पारसी भक्त डा० होरमसजीः—

महाराज श्री के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति रखने वाले जैनेतर प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से जावरा (मध्यप्रान्त) के डा० होरमसजी का नाम भी अग्रगण्य है। डा० होरमसजी आंख के कुशल डाक्टर हैं। बड़े२ राजामहाराजाओं का उपचार भी आप करते हैं। हजारों आंखों के रोगियों को आराम देकर आपने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है। महाराज श्री जब जावरे पधारे तब डाक्टर सा. ने उपदेशामृत का बड़ी पिपासा के साथ पान किया। जोधपुर के चातुर्मास में इन डाक्टर सा. का बड़ा भक्तिमय पत्र आया। उस पत्र में उन्होंने लिखा कि "मैं आपके दर्शन उदयपुर में न कर सका इसके लिए मुझे अफसोस है। आप श्री दो बार जावरा पधारे। उस समय आपने मुझे जो बोध दिया उसके लिए मैं बड़ा आभारी हूं। आप श्री के

दर्शन करने के लिए जोधपुर आने की मेरी इच्छा है। कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि इस पत्र में डा. होरमस जी की कैसी भक्ति प्रकट हो रही है।

साहित्यकार के रूप में

जैन दिवाकरजी म. ने वक्तृत्व के साथ लेखनी के द्वारा भी समाज की बड़ी भारी सेवा की है। प्रति दिन घंटों व्याख्यान देने पर भी आपने साहित्य-सेवा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। ' सत्यं शिवं सुन्दरम्'

सत्य, शिव और सुन्दर की उपासना करना प्राणी—मात्र का ध्येय होता है। इन्हीं तीन की उपलब्धि के लिये मानव जगत् की समस्त चेष्टाएं हुआ करती हैं। साहित्य और कला के मूल में भी सत्य शिव एवं सुन्दर को प्राप्त करने की ही साधना अन्तर्हित है। इसी आशय से विश्व में साहित्य, संगीत और कला का निर्माण या आविर्भाव हुआ है।

साहित्य और कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखते हुए विद्वानों ने विभिन्न विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। कोई 'कला के लिए कला' का समर्थन करते हैं तो कोई आमोद प्रमोद के लिये कला की सार्थकता मानते हैं। कोई दुख की विस्मृति के लिये कला का आश्रय लेते हैं तो कोई जनकल्याण को कला का आशय मानते हैं। परन्तु सत्यं शिवं सुन्दरं में इन सभी उद्देश्यों का समन्वय हो जाता है।

व्यक्ति मात्र की चेष्टा यही होती है कि वह सत्य, शिव और सुन्दर को उपलब्ध कर सके। यही धर्म, साहित्य और कला का आशय है। जैन दिवाकरजी महाराज एक धर्मोपदेष्टा हैं। धर्म का प्रचार करना और उसके द्वारा सत्य शिव सुन्दर की उपलब्धि करना और दूसरों को करवाना आपका आशय है। आपका वक्तृत्व और लेखन भी इसी आशय को लेकर हुआ है और होता है अतएव छंद अलंकारादि काव्य एवं साहित्य के अंगोंपर ध्यान देकर जनता की सुबोधगम्यता और धर्म परायणता को ही आपने मुख्यरूप से अपना दृष्टि विन्दु बनाया है। इसलिए आपके द्वारा निर्मित साहित्य में धार्मिकता एवं नैतिकता के द्वारा जन समाज के कल्याण की तीव्र भावना दृष्टिगोचर होती है।

उक्त दृष्टि विन्दु से हिन्दी साहित्य में जो स्थान महात्मा कबीरदास का है वही स्थान प्रायः आपका भी है। कबीर के साहित्य में भी छंद, अलंकार, शब्द-सौष्ठव, पद लालित्य आदि काव्यगत बातों पर उतना लक्ष्य नहीं दिया गया है जितना धार्मिकता और सैद्धान्तिकता का ध्यान रखा गया है। इसका कारण यही है कि महात्मा कबीर भी धर्म प्रचारक थे और धर्म प्रचार करना उनका आशय था। उनका साहित्य निर्माण भी इसी आशय को लेकर हुआ था। यही बात जैन दिवाकरजी म. के साहित्य की रचना के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। इस दृष्टि विन्दु को लक्ष्य में रखकर उनके साहित्य पर विचार करना चाहिये।

जैन दिवाकरजी म. गद्य एवं पद्य-दोनों के लेखक हैं। गद्य एवं पद्य में आपकी अनेक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी वचन-धारा गद्य एवं पद्य-उभयरूप में समान रूप से प्रवाहित हुई है। आपकी पद्यमय रचनाएं बड़ी रोचक, आकर्षक, सरल, मधुर एवं भक्तिरस से ओत प्रोत होती हैं। आपने सैकड़ों धार्मिक भक्तिरस के भजन लिखे हैं जिन्हें भक्तगण भक्ति से झूमते हुए पढ़ते हैं।

—पद्यमय रचनाएं—

महाराज श्री की मुख्य मुख्य पद्यमय रचनाएं निम्न लिखित हैं:-

१ आदर्श रामयण	२ भगवान नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्णचन्द्र
३ राम मुद्रिका	४ सीता वनवास
५ जम्बू चरित्र	६ हरिश्चन्द्र चरित्र
७ चम्पक चरित्र	८ धर्म बुद्धि चरित्र
९ श्रीपाल चरित्र	१० सती अंजना और वीर हनुमान
११ प्रदेशी राजा का चरित्र	१२ अर्हदास चरित्र
१३ महाबल चरित्र	१४ सुपार्श्व चरित्र
१५ धन्ना चरित्र	१६ त्रिलोक सुन्दरी चरित्र
१७ कृष्ण चरित्र	१८ दामनखां चरित्र
१९ हरिबल चरित्र	२० अष्टादश पाप निषेध
२१ जैन सुबोध गुटका	२२ जैन गजल बहार
२३ जैन सुख चैन बहार भा: १ से ५ तक	२४ स्त्री शिक्षा भजन संग्रह
	२५ लावणी संग्रह भाग १-२
२६ ज्ञानगीत संग्रह	२७ जैन गजल गुल चमन बहार
२८ वैराग्य जैन स्तवनावली	२९ मनोहर पुष्प
३० चतुर्थ रत्नमाला	३१ मुक्तिपथ

विशेषताएं:—जैन दिवाकरजी म. की कविताओं की मुख्य विशेषता यह है कि वे युगानुसारी, सरल, सुबोध एवं मधुर होती हैं। इनकी कविताओं में पाण्डित्य का प्रदर्शन तथा अलंकारों और अनुप्रासों की भरमार नहीं होती। ये विद्वानों के ही काम की नहीं वरन् सर्व साधारण के उपयोग की होती हैं। साधारण जनता इन कविताओं से झरती हुई सुधा का पान करके आनन्द विभोर हो उठती है। इन कविताओं से वैराग्य, शान्ति तथा नैतिक शिक्षाओं के झरने फूट पड़ते हैं। इनकी कविताओं से पापों के प्रति घृणा और कर्तव्यों की ओर प्रेरणा प्राप्त होती है। आपकी कविता की भाषा पाण्डित्यपूर्ण नहीं वरन् साधारण बोल चाल की होती है जिससे वह आसानी से आबाल वृद्ध के हृदयंगम हो जाती है। आपने अपनी कविताओं में हिन्दी या संस्कृत के साहित्यिक छन्दों का प्रयोग न करके गजल, आदि का उपयोग किया है। आपकी इन विशेषताओं के कारण आपकी कविताओं

का खूब प्रचार हुआ है। प्रायः समस्त जैन समाज में आपके रचे हुए चरित्र व्याख्यानों में सुने सुनाये जाते हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के मुख से आपके बनाये हुए स्तवन और गायनों की झंकार श्रवण गोचर होती है। स्थानकवासी साधु और श्रावक समाज में आपकी पद्यमय रचनाओं का जितना प्रचार देखा जाता है उतना अन्य किसी का नहीं। यही आपकी कविताओं की लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है।

जैन दिवाकरजी ने अपनी कविताओं के द्वारा इस युग की एक त्रुटि की पूर्ति की है। नवीनता की ओर प्रायः सर्व साधारण का आकर्षण होता है। नवीन सिनेमागृहों के नये तर्ज के गानों ने नवयुवक वर्ग को खूब आकर्षित किया। उदीयमान नवयुवकों पर उन विषय वासना से भरे हुए गानों का बुरा प्रभाव पड़ने लगा। नवयुवकों और बालकों के मुख से प्रणय-लीला के गाने सुनाई दिये जाने लगे। उगती हुई उम्र के बालकों और नवयुवकों के नैतिक जीवन को इन चलचित्रों द्वारा काफी ठेस पहुँचने लगी। इस ओर महाराज श्री का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने नवीन तर्जों में ही ऐसे गानों की रचना प्रारंभ की जिनमें नैतिक जीवन को उच्च बनाने वाली सामग्री मिल सके तथा जिनसे प्रभुभक्ति, वैराग्य, श्रद्धा, तथा कर्तव्य परायणता की प्रेरणा प्राप्त हो। महाराज श्री की ऐसी ही स्फुट रचनाएं "जैन सुबोध गुटका" नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है।

इस ग्रन्थ में चार सौ चार गायनों का संग्रह है। इन चार सौ गायनों में इस लोक एवं परलोक को सुधारने की सामग्री भरी हुई है। संसार की असारता तथा स्वार्थपरायणता का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है-जैसे

(तर्ज—या हसीना बस मदीना करबला में तू न जा)

अय दिला ! दुनियां फना इसमें लुभाना छोड़ दे।
ख्वाब हो या बाग सा झांसे में आना छोड़ दे॥ टेर
चार दिन की चांदनी क्यों जुल्म पर बांधी कमर।
हुक्म रब का मान ले दिल का दुखाना छोड़दे॥
कहां सिकन्दर कहां अकबर, कहां अली अजगर गये।
तू भी अब मिजमान है गफलत में सोना छोड़ दे॥

और भी देखिये—

तर्ज-मांड—

तजोरे जिया झूठो यो संसार, जरा हृदय ज्ञान विचार॥ टेर
ज्यूं सपने में राजलक्ष्मी मिले नार परिवार।
नैन खुलत ही विरला जावे इणविध ज्ञान विचार॥ तजो॥
रत्न जटित है मालियारे सुन्दर अबला नार।
नाना प्रकार का मेवा मसाला भोग्या अनंती वार॥ तजो॥
छत्र चंवर सिर वीजतारे खमा करत नरनार।
गादी तकिया बैठता रे सो चले गये सरदार॥ तजो॥

राजा राणा बादशाह रे रहता संग सवार।
माल मुल्क छोड़ी गया रे देर न लगी लगार॥ तज्यो॥
इम जानी जग जाल ने छोड़ो निज आतम को तार।
जम्बूकुमार अतुल वैरागी उतर्‌या भव जल पार॥ तजो॥
रम्भा बत्तीसों तजी रे शालिभद्र कुमार।
मुनि अनाथी महा वैरागी छोड़्या धनभंडार॥ तजो॥
आदि–

इन पद्यों में संसार की असारता का कैसा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। भौतिक जड़ चीजों के चक्कर में फंसकर संसारी जीवों ने आत्म तत्व का भान ही भुला दिया है। वे संसार के कामयोगों और विषय वासनाओं के पीछे लट्टू हो रहे हैं। ऐसे मोहान्ध प्राणियों को जागृत करने के लिये कैसी अनुपम सामग्री, कितने सरल एवं सुबोध शब्दों में इन गायनों में रख दी गई है। सचमुच इन गायनों के गाने से या श्रवण करने से श्रोतागण आध्यात्म की लहरों में लहराने लगतेहैं संसार की अनित्यता का उपदेश देकर आत्मोन्नति के लिये भगवद्भजन एवं नीतिमय जीवन जीने की अद्भुत प्रेरणा भी इन पद्यों में मिलती है। इस प्रकार के सैकड़ों पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु विस्तार भय से यहां उनका उल्लेख न करते हुए पाठकों को स्वतंत्र पुस्तक के पठन से लाभ उठाने के लिये हमारी आग्रह भरी प्रार्थना है। संक्षेप में जैन सुबोध गुटका, जन्म और मरण के दुख-दर्दों को याद कराने वाला, यमदूतों की कठोर करतूतों का भान कराने वाला, लोक, एवं परलोक को सुधारने वाला, कर्त्तव्य पथ में प्रेरणा करने वाला और जीवन व्यवहार को सुखमय बनाने वाला अनुपम ग्रन्थरत्न है।

इस ग्रन्थ में स्त्रियों के लिए भी पर्याप्त सामग्री है। स्त्रियों के कर्त्तव्य, पातिव्रता के आचार, स्त्री का सच्चा भूषण तथा स्त्री शिक्षा आदि शिक्षा आदि विषयों पर बड़े रोचक एवं शिक्षा प्रद गायन महाराज श्री ने रचे हैं। उदाहरणार्थ—

(तर्ज–मां मारवाड़ी)

पहनो २ सखीरी ज्ञान गजरा २ तुम्हें लगे अजरा॥ टेर॥
शील की सारी ओढ़ले ओरी लज्जा गहनो पहन,
प्रेम-पान को खाय सखीरी बोलो सच्चा वैन॥ पहनो
हर्ष को हार हृदय में धारो शुभ कृत्य कंकण सोहाय।
चतुराई की चूड़ी सुन्दर प्रभुवाणी बिंदली जोय॥ पहनो
विद्या को तो बाजूबन्द सो है प्रभुलौ लौंग लगाय।
दांतन में चूंप सोहे ऐसी धर्म में चूंप सवाय। पहनो
नव पदार्थ ऐसा सीखो नेवर की झणकार।
चौथमल कहे सच्ची सजनी ऐसा सजे सणगार॥ पहनो॥

स्त्रियों में आभूषण-प्रियता प्रायः अधिक पाई जाती है। अतः स्त्रियों को

कैसे आभूषणों से प्रेम करना चाहिये यह उक्त गायन में बताया गया है। इसीतरह स्त्रियों का कौटुम्बिक व्यवहार कैसा होना चाहिये, सासु श्वसुर आदि कुटुम्बियों के साथ किस तरह वर्ताव करना चाहिये, स्त्रियों का पति के प्रति कर्त्तव्य, पति का स्त्री के प्रतिकर्त्तव्य, आदि विषयों पर पचासों गायन इस संग्रह में दिये गये हैं। ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि जैन दिवाकरजी म. सा की एकमात्र भावना जन समाज का कल्याण करना है। मानवता को भूले हुए नरनारी सत्पथ पर आवें, उनके धार्मिक और नैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन का मापदण्ड ऊंचा उठे इसी आशय से जैन दिवाकरजी म. की रचनाएं हुई हैं और होती हैं। इन गायनों में यह भावना कूट कूट कर भरी हुई है। गायनों के द्वारा प्राणी को आत्म विकास की प्रेरणा मिलती है। अनेकों भूले हुए प्राणी इनके श्रवण से सत्पथ के अनुगामी बने हैं। यही इस ग्रन्थ की सार्थकता है।

आदर्श रामायणः—जैन दिवाकरजी म. की अति सुन्दर कृति है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का आद्योपान्त जीवन चौपाइयों में अंकित किया गया गया है। जैन दृष्टि से राम का क्या महत्व है? उनके जीवन की क्या क्या विशेषताएं है? वाल्मीकि एवं तुलसीदास के राम में और जैनों के राम में कहां क्या विशेषता है? आदि सब प्रश्नों का निराकरण इसमें किया गया है। यद्यपि जैनाचार्यों ने ढालों के रूप में राम चरित्र लिखा है तदपि आधुनिक जैन जनता उससे उतना लाभ नहीं उठासकती. जितना उसे उठाना चाहिए। वह युग के अनुसार ऐसी चीज चाहती है जो ज्यादा पुरानी और क्लिष्ट न हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर जैन दिवाकरजी म. ने राम की जीवनी चौपाइयों में तैयार की है।

राम का जीवन समुद्र की तरह अगाध है। उनके जीवन की अगाधता की थाह पाना कठिन है तदापि शक्ति के अनुसार उनके गुणों का कीर्तन सभी कवियों ने करने का वैसा ही प्रयास किया है जैसे पनडुब्बों ने समुद्र से रत्न निकालने का प्रयास किया है। जैन दिवाकरजी म. ने बहुत खूबी के साथ राम का जीवन चौपाइयों में अंकित किया है। आदर्श रामायण पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध-यों दो भागों में पूर्ण हुए हैं। पूर्वार्ध में दशकण्ठ दिग्विजय, श्री हनुमान जन्म, तथा श्री राम-जन्म से लेकर सीता हरण के लिये रावण के आगमन तक का वर्णन किया गया है। उत्तरार्ध में सीताहरण से लगाकर रामनिर्वाण तक वर्णन किया गया है। सर्व साधारण जनता आसानी से राम के जीवन की महत्ता को हृदयंगम कर सके, इसी हेतु से चौपाई, बहरखड़ी और दोहा में इसकी रचना की गई है। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जैसे तुलसीदासजी ने सर्व साधारण की भाषा में वैष्णव दृष्टि से राम का जीवन अंकित किया है वैसे ही जैन दिवाकरजी म.ने जैनदृष्टि से 'आदर्श रामायण' में राम का जीवन बड़े ही सुन्दर ढंग से अंकित किया है। जैन दृष्टि से राम के जीवन को समझने के लिये जैन दिवाकरजी म. की यह पद्य-

राजा राणा बादशाह रे रहता संग सवार ।
माल मुल्क छोड़ी गया रे देर न लगी लगार ॥ तज्यो ॥
इम जानी जग जाल ने छोड़ो निज आतम को तार ।
जम्बूकुमार अतुल वैरागी उतर्या भव जल पार ॥ तजो ॥
रम्भा बत्तीसों तजी रे शालिभद्र कुमार ।
मुनि अनाथी महा वैरागी छोड़या धनभंडार ॥ तजो ॥
-आदि-

इन पद्यों में संसार की असारता का कैसा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। भौतिक जड़ चीजों के चक्कर में फंसकर संसारी जीवों ने आत्म तत्व का भान ही भुला दिया है। वे संसार के कामभोगों और विषय वासनाओं के पीछे लट्टू हो रहे हैं। ऐसे मोहान्ध प्राणियों को जागृत करने के लिये कैसी अनुपम सामग्री, कितने सरल एवं सुबोध शब्दों में इन गायनों में रख दी गई है। सचमुच इन गायनों के गाने से या श्रवण करने से श्रोतागण आध्यात्म की लहरों में लहराने लगतेहैं संसार की अनित्यता का उपदेश देकर आत्मोन्नति के लिये भगवद्भजन एवं नीतिमय जीवन जीने की अद्भुत प्रेरणा भी इन पद्यों में मिलती है। इस प्रकार के सैकड़ों पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु विस्तार भय से यहां उनका उल्लेख न करते हुए पाठकों को स्वतंत्र पुस्तक के पठन से लाभ उठाने के लिये हमारी आग्रह भरी प्रार्थना है। संक्षेप में जैन सुबोध गुटका, जन्म और मरण के दुख-दर्दों को याद कराने वाला, यमदूतों की कठोर करतूतों का भान कराने वाला, लोक, एवं परलोक को सुधारने वाला, कर्त्तव्य पथ में प्रेरणा करने वाला और जीवन व्यवहार को सुखमय बनाने वाला अनुपम ग्रन्थरत्न है।

इस ग्रन्थ में स्त्रियों के लिए भी पर्याप्त सामग्री है। स्त्रियों के कर्त्तव्य, पातिव्रता के आचार, स्त्री का सच्चा भूषण तथा स्त्री शिक्षा आदि शिक्षा आदि विषयों पर बड़े रोचक एवं शिक्षा प्रद गायन महाराज श्री ने रचे हैं। उदाहरणार्थ—

(तर्ज-मां मारवाड़ी)

पहनो २ सखीरी ज्ञान गजरा २ तुम्हें लगे अजरा ॥ टेर ॥
शील की सारी ओढ़ले ओरी लज्जा गहनो पहन,
प्रेम-पान को खाय सखीरी बोलो सच्चा वैन ॥ पहनो
हर्ष को हार हृदय में धारो शुभ कृत्य कंकण सोहाय।
चतुराई की चूड़ी सुन्दर प्रभुवाणी बिंदली जोय ॥ पहनो
विद्या को तो बाजूबन्द सो है प्रभुलौ लौंग लगाय।
दांतन में चूंप सोहे ऐसी धर्म में चूंप सवाय । पहनो
नव पदार्थ ऐसा सीखो नेवर की झणकार।
चौथमल्ल कहे सच्ची सजनी ऐसा सजे सणगार ॥ पहनो ॥

स्त्रियों में आभूषण-प्रियता प्रायः अधिक पाई जाती है। अतः स्त्रियों को

कैसे आभूषणों से प्रेम करना चाहिये यह उक्त गायन में बताया गया है। इसीतरह स्त्रियों का कौटुम्बिक व्यवहार कैसा होना चाहिये, सासु श्वसुर आदि कुटुम्बियों के साथ किस तरह वर्ताव करना चाहिये, स्त्रियों का पति के प्रति कर्त्तव्य, पति का स्त्री के प्रतिकर्त्तव्य, आदि विषयों पर पचासों गायन इस संग्रह में दिये गये हैं। ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि जैन दिवाकरजी म. सा की एकमात्र भावना जन समाज का कल्याण करना है। मानवता को भूले हुए नरनारी सत्पथ पर आवें, उनके धार्मिक और नैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन का मापदण्ड ऊंचा उठे इसी आशय से जैन दिवाकरजी म. की रचनाएं हुई हैं और होती हैं। इन गायनों में यह भावना कूट कूट कर भरी हुई है। गायनों के द्वारा प्राणी को आत्म विकास की प्रेरणा मिलती है। अनेकों भूले हुए प्राणी इनके श्रवण से सत्पथ के अनुगामी बने हैं। यही इस ग्रन्थ की सार्थकता है।

आदर्श रामायणः—जैन दिवाकरजी म. की अति सुन्दर कृति है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का आद्योपान्त जीवन चौपाइयों में अंकित किया गया गया है। जैन दृष्टि से राम का क्या महत्त्व है? उनके जीवन की क्या क्या विशेषताएं है? वाल्मीकि एवं तुलसीदास के राम में और जैनों के राम में कहां क्या विशेषता है? आदि सब प्रश्नों का निराकरण इसमें किया गया है। यद्यपि जैनाचार्यों ने ढालों के रूप में राम चरित्र लिखा है तदपि आधुनिक जैन जनता उससे उतना लाभ नहीं उठासकती जितना उसे उठाना चाहिए। वह युग के अनुसार ऐसी चीज चाहती है जो ज्यादा पुरानी और क्लिष्ट न हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर जैन दिवाकरजी म. ने राम की जीवनी चौपाइयों में तैयार की है।

राम का जीवन समुद्र की तरह अगाध है। उनके जीवन की अगाधता की थाह पाना कठिन है तदापि शक्ति के अनुसार उनके गुणों का कीर्तन सभी कवियों ने करने का वैसा ही प्रयास किया है जैसे पनडुब्बों ने समुद्र से रत्न निकालने का प्रयास किया है। जैन दिवाकरजी म. ने बहुत खूबी के साथ राम का जीवन चौपाइयों में अंकित किया है। आदर्श रामायण पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध—यों दो भागों में पूर्ण हुई है। पूर्वार्ध में दशकण्ठ दिग्विजय, श्री हनुमान जन्म; तथा श्री राम जन्म से लेकर सीता हरण के लिये रावण के आगमन तक का वर्णन किया गया है। उत्तरार्ध में सीताहरण से लगाकर रामनिर्वाण तक वर्णन किया गया है। सर्व साधारण जनता आसानी से राम के जीवन की महत्ता को हृदयंगम कर सके, इसी हेतु से चौपाई, बहरखड़ी और दोहों में इसकी रचना की गई है। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जैसे तुलसीदासजी ने सर्व साधारण की भाषा में वैष्णव दृष्टि से राम का जीवन अंकित किया है वैसे ही जैन दिवाकरजी म.ने जैनदृष्टि से 'आदर्श रामायण' में राम का जीवन बड़े ही सुन्दर ढंग से अंकित किया है। जैन दृष्टि से राम के जीवन को समझने के लिये जैन दिवाकरजी म. की यह पद्य-

मय कृति अत्यन्त ही उपयोगी है।

भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्ण चन्द्रः—

भारतीय जनता के हृदय में सीता पति राम और गीता पति कृष्ण के नाम इतनी गहराई से उतर चुके हैं कि दुनिया की कोई भी शक्ति उन्हें भुला नहीं सकती। राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के दो आधार-स्तम्भ हैं। जैन दिवाकरजी म. सा. ने जैसे "आदर्श रामायण" में राम के जीवन का आलेखन किया है वैसे ही "भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्णचन्द्र" में कृष्ण के जीवन की समस्त मुख्य २ घटनाओं का चित्राङ्कन किया है। जैन दृष्टि से कृष्ण के जीवन को समझने के लिये, जैन दिवाकरजी म. की यह पद्यमय विस्तृत कृति अत्यन्त उपयोगी है।

प्रस्तुत रचना में दो महान् अवतारी महापुरूषों की जीवन-ज्योति की झिलमिलाहट है। बावीसवें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम कृष्णचन्द्र के जाज्वल्यमान जीवन चरित्र सर्व साधारण जनता के जीवन के अंधकार मय मार्ग पर आकाश दीप के समान हैं। इनके जीवन की ज्योति में जनता को अपना मार्ग स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। ऐसे अवतारी महापुरूषों का जीवन साधारण जनता के सामने सरल शब्दों में एवं मन मोहक शैली से रखने के लिये जैन दिवाकरजी म. कोटिशः धन्यवाद के पात्र है ऐसा करके उन्हों ने साधारण जनता पर बड़ा भारी उपकार किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान् नेमिनाथ के पूर्व भव, यादव वंश, कुरु वंश की उत्पत्ति और उनका वर्णन, वसुदेव अधिकार, कृष्ण बलभद्र के पूर्व भव, कृष्ण जन्म, नेमिनाथ जन्म, कंस वध, रुक्मिणी मंगल, प्रद्युम्न कुमार, शाम्ब कुमार, जरासन्ध वध, पाण्डव चरित्र, द्रोपदी-हरण, राजमती जन्म, नेमिनाथ का विवाह के लिये आना और तोरण से लौट जाना, सागर श्रावक, ढंढण मुनि, गुण ग्राहकता, राजकुमारों की दीक्षा, गज सुकुमाल, द्वारिका दहन, पाण्डव दीक्षा, नेमिनाथ निर्वाण, इत्यादि कृष्ण और नेमिनाथ के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन किया गया है।

भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम कृष्ण का जीवन परस्पर सम्बद्धित है अतएव घटनाओं के वर्णन में क्रमबद्धता नहीं आसकती है। साधारण जनता इन अवतारी महापुरूषों के जीवन का गान सुविधा के साथ कर सके इस आशय से ख्याल की प्रचलित तर्ज में इसकी रचना की गई है। यह चरित्र बड़ा रसीला है। इसे सुनते हुए श्रोतागण हर्ष विभोर हो उठते हैं। यह चरित्र इतना विस्तृत है कि इसका व्याख्यान करते हुए प्रायः पूरा चातुर्मास काल समाप्त हो जाता है। विस्तृत होने पर भी इसकी सरसता गायब नहीं हो जाती। इस चरित्र के व्याख्यानों में इतनी अधिक सरसता है कि श्रोतागण इसे श्रवण करते हुए नहीं अघाते। वे एकाग्रचित्त होकर इन अवतारी महापुरुषों के जीवन की घटनाओं का श्रवण किया करते हैं। जब स्वयं दिवाकरजी म० इसका व्याख्यान करते हैं तबतो कहना ही

क्या ! श्रोतागण जैन दिवाकरजी के मुख से बरसती हुई इन अवतारी पुरुषों के जीवन रूपी सुधा का पान करते हुए कभी नहीं अघाते हैं। श्रोताओं की श्रवण-लालसा वैसी की वैसी बनी रहती है।

जैन दिवाकरजी म. की यह पद्यमय कृति धार्मिक साहित्य-संसार के लिये सुन्दर चीज है। इसके अतिरिक्त जैन दिवाकरजी म. ने छोटे छोटे कई औपदेशिक चरित्र, तथा हितोपदेशदायिनी कई लावणियों की रचना की हैं। आपकी अनेक मुक्तक कविताएं मुक्ति पथ के भागों में प्रकाशित हुई हैं सब का यहां वर्णन नहीं किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर, नानक, दादू आदि धार्मिक कवियों का स्थान है वैसे ही आधुनिक धार्मिक कवियों में जैन दिवाकरजी म. का अति उच्च स्थान है।

गद्यमय रचनाएं

विरले लेखकों में ही यह शक्ति होती है कि वे गद्य एवं पद्य-उभयरूप में अपने विचारों को व्यक्त कर सकें। जैन दिवाकरजी म. में उभयरूप से अपने भावों को प्रकट करने की अद्भुत शक्ति है। जहां आपने अनेक पद्य-ग्रन्थों की रचना की है वहां अनेक गद्यग्रन्थों का निर्माण भी आपकी ओजस्विनी लेखनी द्वारा हुआ है। आपके अनेक गद्य ग्रन्थों में से "भगवान् महावीर का आदर्श जीवन" पार्श्वनाथ, जम्बू कुमार आदि अति प्रसिद्ध हैं।

"भगवान महावीर का आदर्श जीवन" यह लेखक की उच्चकोटि की अमर कृति है। यह रचना अति उत्कृष्ट एवं विशाल है। इस रचना में जैन दिवाकरजी म. ने जिस शैली से भगवान् महावीर के पवित्र जीवन का आलेखन किया है यह अद्वितीय एवं अनुपम है। अनेक माननीय विद्वानों, इतिहासज्ञों एवं पुरातत्व प्रेमियों ने इस रचना की मुक्त कंठ से सराहना की है और इसकी उपादेयता व उपयोगिता स्वीकृत की है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता लाला कन्नोमलजी एम० ए० ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी है। वे पुस्तक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि

"भगवान् महावीर का आदर्श जीवन पुस्तक में केवल भगवान् का आदर्श जीवन ही नहीं है बल्कि जैनधर्म के उदयकाल से लेकर अद्यतक का धार्मिक इतिहास है। इसकी भाषा ऐसी शुद्ध, सरल परिमार्जित एवं प्रसादगुण युक्त है कि पढ़ने वाला उसके धारा-प्रवाह में स्वयं बहता हुआ चला जाता है और उसके हृदय पटल पर उच्च भावों का अङ्कन होता जाता है। गूढ़, गम्भीर जटिल, आध्यात्मिक प्रश्नों को सर्वसाधारण को हृदयंगम कराना सरल नहीं है। विरले लेखक ही ऐसे होते हैं जो तत्व ज्ञान के जटिल प्रश्नों को सरल भाषा में लिखकर

समझा सकें । उन्हें तो अपने निजी विचार और भावों को भी सम्यक प्रकार से प्रकट करना कठिन हो जाता है तो प्राचीन ऋषि, महर्षियों के गहन आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट रूप से सर्वसाधारण मनुष्यों के मनोगत करना कितना कठिन है । पर यह अद्वितीय असाधारण एवं श्लाघनीय योग्यता ईश्वर ने आपको ही दी है जिसके द्वारा आप मनुष्यजाति का महान् उपकार करने में समर्थ हुए हैं ।"

"प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे खण्ड के नवें प्रकरण तक भगवान् महावीर का जीवन चरित्र समाप्त हो गया है । इसके आगे दसवें प्रकरण में भगवान महावीर का तत्वज्ञान प्रतिपादन है । यह ऐसे सुयोग्य लेखक का ही काम है कि ऐसे गम्भीर तत्वज्ञान को सूक्ष्मस्थान में सारभूत कर लिख दिया है । सागर को गागर में भर दिया है । जो बातें बड़ी २ पुस्तकों के पढ़ने से समझ में नहीं आतीं और अधूरी रह जाती हैं, वे लेखक महाशय ने अपनी कुशाग्र बुद्धि, ओजस्विनी लेखनी और सर्वबोध सरल भाषा द्वारा संक्षेप में ही सुपाठ्य कर दी है । यदि कोई एक स्थान पर ही जैन तत्वज्ञान का परिचय प्राप्त करना चाह तो उसके लिये यह प्रकरण नितान्त उपयोगी होगा । इससे बढ़कर उसे और कहीं इतनी सामग्री इतनी थोड़ी जगह में ऐसी सरल भाषा में नहीं मिलेगी ।"

लाला कन्नोमलजी एम० ए० जैसे इतिहास वेत्ता ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उक्त प्रशंसात्मक आलोचना लिखी है, तो और अधिक लिखना ग्रन्थ विस्तार करना ही होगा ।

वस्तुतः यह रचना जैन संस्कृति का अमर इतिहास है । इस एक ही ग्रन्थ के ध्यानपूर्वक पठन से जैन संस्कृति का गहन अध्ययन हो सकता है । यह ग्रन्थ एक ऐसा गहन सागर है जिसमें डुबकी लगाने से अनमोल रत्न हस्त-गोचर होते हैं । इस पुस्तक का प्रारंभ काल-चक्र के वर्णन से होता है । जैनधर्म काल चक्र के दो विभाग मानता है । एक उत्सर्पिणी और दूसरा अवसर्पिणी । प्रत्येक विभाग के छः छः आरे (समय विभाग) होते हैं । इन विभागों, तथा तत्कालीन मनुष्यों और वस्तुओं का बड़ा रोचक विवरण इसमें किया गया है । तत्पश्चात् तीर्थङ्कर शब्द का अर्थ, तीर्थंकरों के लक्षण तथा अतिशय, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, वासुदेव, ९ प्रति वासुदेव आदि का परिचय दिया गया है । भगवान ऋषभदेव का विशद विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त शेष बावीस तीर्थङ्करों का संक्षिप्त वर्णन बड़ी रोचकशैली से किया गया है । प्राचीन काल में मनुष्यों के लिये बहत्तर और स्त्रियों के लिये चौसठ कलाएं थीं । उस समय, २६ कौमें, १८ प्रकार की लिपियां, १४ प्रकार की लोकोत्तर विद्याएं, १४ प्रकार की लौकिक विद्याएं थीं । इस प्रकार का प्राचीन तम इतिहास हमें इस ग्रन्थ में मिलता है । यह वस्तु इतिहास प्रेमियों के लिये बड़े महत्त्व की है । भगवान महावीर के २६ पूर्व भवों का वर्णन करते हुए १४ रत्न, नव निधि तथा तीर्थंकर होने के बीस साधनों का विशद वर्णन किया गया है ।

भगवान् के २७ वें भव का वर्णन करने के पश्चात् भगवान् महावीर के जन्म का निरूपण किया गया है। भगवान् का जन्म जिसकाल में हुआ उस काल की परिस्थिति का वर्णन भी दिया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि आज से २५०० वर्ष पूर्व भारत की धार्मिक परिस्थिति कैसी थी। कहना न होगा कि उस समय सच्चा धर्म संसार से उठ गया था, केवल पशुयज्ञ, बलिदान, कर्मकाण्डादिक का बोल बाला था। स्त्रियों और शूद्रों का कोई स्थान नहीं था। हिंसा का ताण्डव नृत्य होता था। अन्ध विश्वासों का साम्राज्य था इत्यादि तत्कालीन परिस्थिति का लेखक ने आलेखन करके उसके सुधार के लिये भगवान् महावीर का पुनीत जन्म हुआ ऐसा लेखक ने सुन्दर ढंग से निरूपण किया है। भगवान् की तपश्चर्या तक का वर्णन प्रथम खंड में किया गया है। दूसरे खंड में कैवल्य की प्राप्ति से लेकर भगवान् के तत्वज्ञान तक निरूपण है। भगवान् महावीर के जीवन की समस्त मुख्य २ घटनाओं का इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ की यह मौलिक विशेषता है कि इसमें भगवान् के जीवन के प्रत्येक प्रसंग से क्या २ शिक्षाएं मिलती हैं, वर्तमान काल में क्या २ अनुकरणीय हैं, आदि बातों का प्रसंगोचित अच्छा विवेचन किया गया है। भगवान् को कैवल्य की प्राप्ति होने के पश्चात् इन्द्रभूति आदि ११ पंडितों के साथ उनका जो संवाद हुआ वह तत्व ज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व का है। इस संवाद के प्रकरण को पढ़ने से धार्मिक जटिल गुत्थियों का बड़ा आसान समाधान हो जाता है। प्रत्येक धर्मानुयायी को यह जिज्ञासा होती है ? कि जीव क्या है ? कर्म है या नहीं ? जीव और शरीर का क्या सम्बन्ध है ? पूर्व जन्म और पुनर्जन्म है या नहीं ? पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक हैं, या नहीं ? इत्यादि अनेक गम्भीर प्रश्नों का समाधान इस पुस्तक में दिये गये उक्त संवाद के पठन पाठन से हो जाता है। इसपर से यह भी सहज सिद्ध हो जाता है कि जैन दिवाकरजी म. का तात्विक ज्ञान कितना विकासित और बढ़ा चढ़ा है। दूसरे खण्ड के दसवें प्रकरण में जो तत्वज्ञान का निरूपण किया गया है वह बड़ा अनूठा और मननीय है। जैन धर्म की फ़िलासफी कितनी उच्च और विशाल है यह इस प्रकरण के पढ़ने पर विदित हो जाती है। तत्वज्ञान का ऐसा सुबोध व सुन्दर निरूपण अन्यत्र नहीं दिखाई देता। यह सुयोग्य लेखक की लेखनी ही का काम है।

इस रचना की एक और विशेषता यह है कि सुयोग्य लेखक ने स्थल स्थल पर प्राचीन और अर्वाचीन विचारों की तुलना की है। जैन दिवाकरजी म. प्राचीन और अर्वाचीन विचारों से पूर्ण परिचित हैं तभी तो आपने ऐसी विशद तुलनात्मक विवेचना की है।

उदाहरणार्थ—छूताछूत मीमांसा, माता पिता की सेवा, व्यवहार में अहिंसा आदि आदि।

तात्पर्य यह है कि जैन दिवाकरजी म. की यह विशद रचना जैन संस्कृति

उपकार किया है। वास्तव में यह चरित्र संसार के तापों से संतप्त प्राणियों को शान्ति देनेवाला एक लोकोत्तर उपवन है। इसमें जगह २ मन मोहक सुन्दर, और कल्याण रूपी सुरभि से सुरभित उपदेश सुमन खिले दृष्टि-गोचर होते हैं। कहीं प्रश्नोत्तर रूपमें कुंज बने हैं। कहीं विपुल भाव रूपी तरुवर खड़े हैं, कहीं अवान्तर कथा रूप लताएँ छाई हैं। त्याग वैराग्य की शीतल और मंद वायु बह रही है। यह उद्यान शान्ति का सुन्दर स्थल है।

यह सुन्दर रचना मुमुक्षु गृहस्थों एवं मुनियों के लिये बड़े उपयोग की है। ऐसी सुन्दर रचना के लिये जैन दिवाकरजी म० को कोटिशः धन्यवाद है।

निर्ग्रन्थ–प्रवचन

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त जैन दिवाकरजी म० ने एक अत्यन्त लोकोपकारी ग्रन्थ का संकलन एवं अनुवाद किया है। वह "निर्ग्रन्थ प्रवचन" के नाम से विख्यात एवं विश्रुत है।

चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने संसार को दिव्य देशना का दान दिया था। भगवान ने जनकल्याण के लिये जो प्रवचन किये थे उनका अधिकांश अंश विलुप्त हो जाने पर भी जो अंश आज उपलब्ध है वह बहुत विस्तृत है। भगवान के प्रवचन के रहस्य को समझने के लिये उस साहित्य को अविकल रूप से पढ़ा जाय उसका चिन्तन मनन किया जाय यह आवश्यक है। परन्तु आधुनिक मानव जीवन की गति ऐसी दिशा की ओर अग्रसर हो रही है कि जीवन व्यस्त, प्रवृतिमय और झंझटों से परिपूर्ण बनता जाता है। ऐसी दशा में इतने विस्तृत प्रवचन का अभ्यास और पठन पाठन के लिये समय निकालना अत्यन्त कठिन हो गया है। दूसरी बात मनुष्यों की भौतिक लालसाओं की अभिवृद्धि होने से धर्म की ओर अभिरुचि उत्तरोत्तर अल्प और क्षीण होती जारही है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यकता थी कि विस्तृत जिनागमों में से कुछ चुना हुआ अंश छांटकर संग्रहीत किया जाय जिसमें जैनधर्म के सभी मुख्य २ सिद्धान्तों का समावेश हो जैसे वैदिक धर्म में गीता, इस्लाम धर्म में कुरान एवं ईसाई धर्म में बाइबल है इसी तरह जैन सिद्धान्तों को संक्षेप में बताने वाले एक ग्रन्थ की कमी खटक रही थी। जैन दिवाकरजी म० का ध्यान इस कमी की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने जैनागमों से चयन करके 'निर्ग्रंथ प्रवचन' नाम से एक सुन्दर संग्रह तैयार कर दिया।

यह संग्रह और संकलन ऐसी अद्भुत शैली से किया गया है कि इसमें जिनागमों का सार अति संक्षेप में समाविष्ट होगया है। यह संकलन प्रकाशित होते ही सर्वसाधारण के लिये आकर्षण करने वाला हुआ। उसकी अनेक आवृतियां प्रकाशित हुईं। उसका हिन्दी अनुवाद भी स्वयं जैन दिवाकरजी म० ने किया। यह संकलन इतना अधिक उपयोगी और लोकप्रिय हुआ कि देखते देखते भारतवर्ष

की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद भी होगया। गुजराती, मराठी, उर्दू, के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा में उसका प्रकाशन हुआ। संस्कृत भाषा में उस पर टीका लिखी गई। कई जैन-अजैन विद्वानों ने, प्रोफेसरों ने पत्र सम्पादकों ने उसकी खूब सराहना की। इस लोकप्रिय "निर्ग्रन्थ-प्रवचन" के मर्म को समझाने के लिये हिन्दी भाषा में एक विशद भाष्य भी लिखागया है। यह भाष्य गाथाओं के मर्म को स्पष्ट करने में बड़ा उपयोगी है।

जिन्होंने अनेकानेक सत्यसाहित्य ग्रन्थों का प्रणयन किया और 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' रूप अनमोल रत्नों का दान दिया उन जैन दिवाकरजी म. के प्रति हम किन शब्दों में कृतज्ञता बतलावें यह समझ में नहीं आता। संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि साहित्यकार के रूप में भी जैन दिवाकरजी म. ने जैन शासन की महान सेवा बजायी है और ऐसे धर्म-साहित्य के अनमोल रत्न प्रदान कर साहित्य और समाज का बड़ा भारी उपकार किया है। इसके लिये जैन समाज आपका सदा आभारी रहेगा।

चातुर्मास—संस्मरण

विक्रमी संवत् १९५२ में दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् संवत १९८७ तक के चातुर्मासों में जैन दिवाकरजी म. के सदुपदेशों से जो लोकोपकारी कार्य हुए उनकी संक्षिप्त रूपरेखा पूर्व के प्रकरणों में आचुकी है। विस्तृत जानकारी की इच्छा रखने वाले सज्जन 'आदर्श मुनि' नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें। यहां संवत् १९८८ के चातुर्मास से लेकर आगे के चातुर्मासों की संक्षिप्त रूपरेखा और मुख्य २ घटनाओं का उल्लेख ही किया जाता है:—

संवत् १९८८ बम्बई:—जैन दिवाकरजी म. का यह चातुर्मास बम्बई श्रीसंघ के लगातार सातवर्ष के अत्यन्त आग्रह से कांदावाड़ी के जैन धर्मस्थानक में हुआ। आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा के दिन महाराज श्री. का वहां पदार्पण हुआ। दूसरे ही दिन से व्याख्यान प्रारम्भ हुए। दिन प्रतिदिन जैन जैनेतर श्रोताओं से सभामण्डप पूरा भर जाता था। कई बार तो श्रोताओं को जगह भी नहीं प्राप्त होती थी। महाराज श्री के लोकप्रिय व्याख्यानों से जनता इतनी आकृष्ट होने लगी कि बम्बई के श्रीसंघ को श्रोताओं के बैठने के लिये दूसरी व्यवस्था करनी पड़ी। श्रीसंघ ने उपाश्रय के समीप के चौगान में पांच हजार श्रोता बैठ सके वैसा सभामण्डप तैयार करवाया। बम्बई में हुए पहले के चातुर्मासों में ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता ही नहीं हुई परन्तु जैन दिवाकरजी म. के प्रभावशाली प्रवचनों से श्रोताओं का प्रवाह उमड़ पड़ता था अतएव भव्य सभा-मंडप की व्यवस्था की गई थी। मोहमयी बम्बई नगरी की जनता के अतिरिक्त आसपास के माटुंगा, घाटकोपर, शान्ताक्रुज, विलेपारले आदि उपनगरों से भी श्रोतागण प्रतिदिन महाराज श्री की वचना-सुधा

का पान करने के लिये आते थे। चातुर्मास में महाराज श्री के दर्शन के लिये आने वाले महाशयों के लिये बम्बई श्रीसंघ ने सुन्दर व्यवस्था की थी। महाराज श्री की सेवा में रहे हुए तपस्वी श्री मयाचन्दजी महाराज सा. ने ४२ दिन की तथा तपस्वी श्री विजयराजजी म. ने अभिग्रह सहित ३४ दिवस की तपश्चर्या मात्र गरम जल के आधार से की थी उसकी पूर्णाहुति ता. २२-९-१९३१ को थी। इस सम्बन्ध के समाचार श्रीसंघ ने आमंत्रण पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों द्वारा प्रकट किये थे। बाहर के ग्रामों से १०००-१२०० की मेदिनी तपश्चर्या की समाप्ति के दिवस तपस्वी मुनिराजों के दर्शनार्थ उमड़ पड़ी थी। उस प्रसंग पर त्याग, प्रत्याख्यान, तथा जीवदया के कार्य खूब हुए।

पर्वाधिराज पर्युषण की आराधना अत्यन्त आनन्द एवं उत्साह पूर्वक हुई। इन दिनों में दया, पौषध, तपश्चर्या आदि का ठाठ रहा। कसाइयों के हाथों में पहुंचने वाले हजारों कीमती जीवों को अभयदान दिलाया गया। संवत्सरी के दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण में इतनी जनमेदिनी एकत्रित हुई कि उसे देखकर वहां के निवासियों को गौरव का अनुभव हुआ और साथ ही उन्होंने यह अनुभव किया कि इतनी विशाल जैन मेदिनी के लिये एक विशाल हॉल (भवन) बनवाने की आवश्यकता है। लगभग पाँच हजार मनुष्यों के सामूहिक प्रतिक्रमण का दृश्य बड़ा शानदार और भव्य था।

इस चातुर्मास-काल में बम्बई के सुप्रसिद्ध हीरे के व्यापारी जौहरी सूरजमल लल्लुभाई प्रायः महाराज श्री के दर्शनों के लिये आया ही करते थे। एक बार जौहरी जी, बौद्ध धर्म के अग्रगण्य तथा बम्बई के प्रख्यात डॉक्टर नाइडकर को साथ लेकर महाराज श्री की सेवा में आये। उन्होंने महाराज श्री के साथ धार्मिक वार्तालाप किया और अन्त में अत्यन्त संतोष व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त गुजरात में 'भिक्षुकराज' के माननीय उपनाम से विभूषित प्रखर देशभक्त श्रीमान् मणीलाल कोठारी भी महाराज श्री के व्याख्यान सुनने को आये थे। व्याख्यान की समाप्ति पर कोठारीजी ने अपनी सुन्दर वक्तृत्व शैली से महाराज श्री की खूब प्रशंसा की थी।

ता-१२-११-३१ के दिन बम्बई के अग्रगण्य देशभक्त नेता वीर नरीमान महाराज श्री सेवा में आये थे। ता-१५-११-३१ को लेमिंगटन सिनेमा-गृह में महाराज श्री का 'मनुष्य कर्त्तव्य' पर जाहिर व्याख्यान हुआ था। सारा हॉल जन मेदिनी से पूरा भरा हुआ था। व्याख्यान पूर्ण होने पर पण्डित लालन का भाषण हुआ। पण्डित लालन ने कहा था कि "ये महाराज श्री अपने आपको भगवान् महावीर के चोकीदार कहते हैं परन्तु ऐसा नहीं; ये भगवान् महावीर के नियुक्त किये हुए वायसराय हैं। महाराज श्री के भाषण सुनकर मुझे बहुत आनन्द हुआ।" आदि। इसके बाद ता-२२-११-३१ माधव बागमें "सच्चा सुख और उसके साधन" इस विषय पर जाहिर प्रवचन हुआ। हजारों जैन जैनेतर जनता उपस्थित थी। जैनेतर जनता-वैष्णव, पारसी आदि महाराज श्री की व्याख्यान शैली और सर्वधर्म समभाव से बहुत

प्रभावित हुई। सचमुच महाराज श्री की वाणी में कुछ अद्भुत चमत्कार है कि जो एकबार आपकी वाणी का सुधा—पान कर लेता है वह सदाके लिये आपका भक्त बन जाता है। इसप्रकार समस्त चातुर्मास काल में खूब धर्मोद्योत हुआ। चातुर्मास की समाप्ति पर जब महाराज श्री ने वहां से विहार किया तब सैंकड़ों नरनारियों की आंखों में वियोग के आंसू दृष्टिगोचर होते थे।

बम्बई से विहारकर महाराज श्री इगतपुरी, घोटी होते हुए नासिक पधार रहे थे कि सड़क के किनारे तीन कोस पर एक ग्राम में एक भाई दर्शन के लिये आया और उसने अपनी भाभी को आवाज दी कि महाराज श्री पधार रहे हैं, दर्शन करलो। भाभी के आने में देर हुई। जब उससे पूछा कि इतनी देर क्यों हुई तो उसने कहा कि "कपड़े सम्भालकर आ रही हूँ"। जब उसके कपड़ों पर दृष्टि डाली तो अनेकों जगह पर थेगरें लगे हुए थे। करुणा से प्रेरित होकर मुनि श्री प्यारचंदजी म० उसके घर के द्वार पर गये और घर में देखा तो पीतल के एक दो बर्तन नजर आये और चारों कोने चौपट थे। उससे सहज अनुमान होगया कि यहां तो चूहों को भी एकादशी करनी पड़ती होगी। एक स्वधर्मी कुटुम्ब की ऐसी दीनदशा से महाराज श्री के हृदय पर बड़ा असर हुआ। नासिक में अहमदनगर का एक बन्धु आया और महाराज श्री की प्रेरणा से उसने उस कुटुम्ब की पूरी व्यवस्था करदी। महाराज श्री ने नासिक-संघ को भी उपदेश प्रदान किया कि 'स्वधर्मी बन्धुओं के साथ प्रेम-भाव रखना, स्वधर्मियों को सहायता करना, अपने धर्मी बन्धुओं की दीन दशा को मिटाने का प्रयत्न करना यह संघ का सबसे बड़ा प्रथम कर्तव्य है, आदि। नासिक में चरित्र नायकजी का सिनेमाघर में जाहिर व्याख्यान हुआ। वहां से औरंगाबाद, जालना आदि गावों में पधार कर सं० १९८९ का चातुर्मास मनमाड़ में हुआ।

सं० १९८९ मनमाड़:—औरंगाबाद, जालना आदि नगरों एवं ग्रामों में अपने प्रवचनों की वर्षा करते हुए महाराज श्री मनमाड़ पधारे। मनमाड़ श्री संघ के अत्यन्त आग्रह से यह चातुर्मास वहीं किया। चातुर्मास में व्याख्यानों की खूब धूम रही। जैन दिवाकरजी म० ने "भगवान महावीर का आदर्श जीवन" नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा था। उसको जनता तक पहुँचाने के लिये श्रीमान् सेठ राजमलजी सा. ललवानी ने अपील की थी। उस अपील का उत्तर, उपस्थित दानवीरों ने ऐसा दिया कि पांच मिनट में ६०००) के वचन प्राप्त होगये। उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन में जितने रुपयों की आवश्यकता थी उतने मिल जाने पर अपील बन्द कर दी गई। इसपर लोग नाराज होकर कहने लगेकि "हम भी लिखा रहे हैं; हमारे रुपये क्यों नहीं लेते"। उन लोगो की सेवा में निवेदन किया गया कि "कार्य होगया है अब आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता होने पर आपसे भी लिये ही जावेंगे"। तात्पर्य यह है कि जैसे सोपारिया आम के पेड़ को हिलाने से आम टपाटप गिरते हैं

वैसे ही टपाटप द्रव्य दाताओं ने अपने नाम लिखवा दिये। वह दृश्य भी अपूर्व था।

इसी चातुर्मास काल में अजमेर में होने वाले साधुसम्मेलन के लिये निमंत्रण करने के लिये बम्बई के संघपति वेलजी लखनसी नप्पू, दुर्लभजी भाई जौहरी आदि समाज के नेतागण महाराज श्री की सेवा में उपस्थित हुए। उनके निमंत्रण को मान देकर चतुर्मास समाप्त होनेपर, महाराज श्री विहार करते हुए धूलिया, सैन्धवा, धार, रतलाम होते हुए भिलवाड़ा पधारे। भिलवाड़े में साम्प्रदायिक सम्मेलन हुआ जिसमें स्वर्गीय पूज्य श्री मन्नालालजी म. सा. भावी पूज्य श्री खूबचन्दजी म. आदि की उल्लेखनीय उपस्थिति थी। वहां से महाराज श्री ब्यावर पधारे। बीचके ग्रामों में अनेकों जागीरदारों व रईसों ने उपदेश श्रवण किया और त्याग प्रत्याख्यान किये।

इसी समय अजमेर में ऐतिहासिक साधु—सम्मेलन हुआ। हमारे चरित्र-नायकजी प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मेलन में पधारे। वहां कई उपयोगी प्रस्ताव हुए। वहां पूज्य श्री हुक्मीचंदजी म. की सम्प्रदाय के दो विभागों का पारस्परिक वैमनस्य दूर हुआ। इसमें जैन दिवाकरजी म. ने काफी सहयोग दिया। सम्मेलन का दृश्य अभूतपूर्व था। पचास हजार से भी अधिक मनुष्य उपस्थित हुए थे। वहां पर नित्यप्रति जैनदिवाकरजी म. के व्याख्यानों की चहल पहल रहती थी।

सं. १९९० ब्यावर:—संवत् १९९० का चातुर्मास ब्यावर हुआ। पूज्य श्री मन्नालालजी म. सा. का आषाढ़ मास में स्वर्गवास हो गया था। इस चातुर्मास की उल्लेखनीय घटना यह है कि सम्मेलन के अवसर पर पधारे हुए काठियावाड़ी मुनिराज पं. श्री मणिलालजी म. तथा पं. श्री श्यामजी म. का चातुर्मास भी ब्यावर हुआ था। कोटा सम्प्रदाय के मुनि रामकुमारजी म. का चातुर्मास भी वहीं था। जैनदिवाकरजी म. सा. जहां विराजते थे वहीं सभी मुनिराजों के सम्मिलित रूपसे व्याख्यान होते थे।

ब्यावर का चातुर्मास पूर्ण करके जैनदिवाकरजी म. मन्दसौर होते हुए रतलाम पधारे। वहां हिन्दवासूर्य महाराणा साहब उदयपुर ने श्रीमान् मदनसिंहजी सा. को जैनदिवाकरजी म. की सेवा में भेजकर आगामी चातुर्मास उदयपुर में करने की प्रार्थना की। महाराणा सा. की विनती को जैनदिवाकरजी म. ने स्वीकृत की तदनुसार १९९१ का चातुर्मास उदयपुर हुआ।

सं. १९९१ उदयपुरः—महाराणा सा. की विनती से महाराज श्री का यह चातुर्मास घण्टाघर के पास बनेड़ा महाराजाधिराज की हवेली में हुआ महाराणा सा. ने

कई बार उपदेश श्रवण का लाभ लिया। तपस्वी श्री छोटुलालजी म. के पारणे के दिवस श्रीमन्त महाराणा साहब ने अगता पलवाया तथा अपने हाथों से आहार बहराया। अनेकों जागीरदारों ने अनेक स्थानों पर होने वाली हिंसा बन्द की। इस चातुर्मास में बाहर से आने वाले दर्शनार्थियों की व्यवस्था में होने वाले खर्च में स्वयं दरबार ने भी हिस्सा लिया। यह चातुर्मास पूर्णकर महाराज श्री मन्दसौर पधारे।

मन्दसौर में सर्वानुमति से चतुर्विध श्रीसंघ ने श्री खूबचंद्रजी म. को "पूज्य" पदवी और हमारे चरित्रनायकजी को "जैनदिवाकर" की पदवी से विभूषित किया। इस शुभ प्रसंग पर बड़ा भारी महोत्सव हुआ। इस अवसर पर बाहर के गांवों से १०००० मनुष्यों से भी अधिक जन समुदाय एकत्रित हुआ था। रतलाम से एक स्पेशल ट्रेन भी आई थी। कई जागीरदारों ने भी इस उत्सव में भाग लिया था। अन्य मुनिराजों को भी यथायोग्य उपाधियों से सन्मानित किया गया था।

वहां से विहारकर महाराज श्री रामपुरा, गरोठ की तरफ पधारे। आगरा श्री संघ का १८ व्यक्तियों का एक डेप्युटेशन महाराज श्री के चातुर्मास की विनती के लिये आया। उनका अत्यधिक आग्रह होने से विनती स्वीकार कर ली गई थी। उसी ओर विहार होता था। पाटण में सेठ लालचंदजी, नेमिचंदजी, भंवरलालजी आदि ने उपदेश श्रवण किया था। वहां से महाराज श्री कोटा पधारे। वहां के श्रीसंघ, राज्य कर्मचारी एवं दीवान साहब ने चातुर्मास के लिये प्रार्थना की परन्तु उस समय स्वीकृत नहीं हुई। महाराज श्री ने आगरे की ओर विहार कर दिया था पर जैन दिवाकरजी म. की तबियत अस्वस्थ होगई अतएव कोटा श्री संघ ने आगरा के श्री संघ से चातुर्मास की मांग करली अतएव सं १९९२ का चातुर्मास कोटा में हुआ।

सं. १९९२, कोटाः—कोटा के चातुर्मास में वहां के हिज हाइनेस ने भी व्याख्यान श्रवण का लाभ उठाया। कोटा नरेश केवल दस मिनिट का समय निर्धारित कर व्याख्यान में आये थे परन्तु वे व्याख्यान से इतने प्रसन्न हुए कि ५० मिनिट तक व्याख्यान सुनते रहे। जैन दिवाकरजी म. के व्याख्यानों में जनता इतनी आती थी कि विशाल चौक होने पर भी दरवाजा बंद करना पड़ता था। महाराज श्री के सदुपदेश से कईयों के दुर्व्यसन छूट गये और कईयों के जीवन का सुधार होगया।

सं० १९९३ आगराः—इस चातुर्मास में 'निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह' बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। लोहामण्डी के मकानमें श्रोताओं का पूरा समावेश नहीं होता था तो आम सड़क पर खड़े होकर मनुष्य जैन दिवाकरजी म. के व्याख्यान श्रवण करते थे। मानपाड़े में भी जैन दिवाकरजी म. के प्रवचन हुए थे। व्याख्यानों में अच्छा आनन्द आता था। अम्बाले से दिगम्बर भजन मण्डली और उपदेशकों को

भी निमंत्रित किये थे। इस सप्ताह में सैकड़ों रूपयों की प्रभावना वितरित की गई। कानपुर में लाला फूलचंदजी ने कानपुर में चातुर्मास करने के लिये आग्रह किया। वहां की विनती को मानकर महाराज श्री हाथरस होते हुए जलेसर पधारे। जलेसर में महाराज श्री का व्याख्यान होरहा था। चोरी न करने का उपदेश चलरहा था। उस उपदेश का असर इतना हुआ कि सातवार जेल में जा चुकने वाले पक्के डकैती ने चोरी न करने की प्रतिज्ञा करली इस प्रसंग का विवरण "पतितपावन के रूप में" इस प्रकरण में किया जा चुका है।

सं० १९९४ कानपुरः—लाला फूलचंदजी सा. की आग्रह भरी विनती से यह चातुर्मास कानपुर में हुआ। इससे पहले कानपुर में किसी भी स्थानकवासी जैन मुनि का चातुर्मास नहीं हुआ था। लालाजी सा. ने समस्त खर्च अपनी ओर से किया था। लालाजी ने मुनिराजों का तथा आगन्तुक दर्शनार्थियों का भव्य स्वागत किया। लालाजी ने यात्रियों की ऐसी सुन्दर व्यवस्था की थी कि वह दूसरी जगह कहीं न हुई थी। लालाजी ने अपनी धर्मशाला में चातुर्मास करवाया था। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया था। सप्ताह के अन्तिम दिन विराट् जुलुस निकाला गया था। लालाजी ने वहां कवि सम्मेलन का भी आयोजन किया था। कानपुर में एक दीक्षा भी बड़ी धूमधाम से हुई। लालाजी सा. ने बड़ी उदारता के साथ चातुर्मास में खर्च किया और धर्म का लाभ उठाया।

कानपुर पधारने के पहले महाराज श्री लखनऊ पधारे थे। वहां स्थानकवासियों के घर नहीं हैं। तदपि महाराज श्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्वेताम्बर, दिगम्बर, सम्प्रदायक के श्रावकगण चातुर्मास की विनती करने लगे परन्तु चातुर्मास तो कानपुर का मंजूर हो चुका था। मतलब यह है कि लखनऊ में पहले तो किसी ने स्वागत नहीं किया परन्तु प्रवचन सुनने के बाद सैकड़ों व्यक्ति महाराज श्री के भक्त बन गये। यह है जैन दिवाकरजी म. के प्रवचनों का प्रभाव।

कानपुर का चातुर्मास पूर्ण करने पर महाराज श्री इटावा पधारे। वहां कलकत्ता के श्रीमन्त जनों का एक डेप्युटेशन फर्स्टक्लास का डिब्बा रिजर्व्ड कराकर महाराज श्री की सेवा में आया और कलकत्ता पधारने के लिये महाराज श्री से प्रार्थना करने लगा। महाराज श्री ने फरमाया कि अब हम कानपुर से इतनी दूर निकल आये हैं। और कलकत्ता बहुत दूर है। अतएव अब उधर आना कठिन है। वहां से महाराज श्री आगरा पधारे। वहां दिल्ली के श्री संघ का एक डेप्युटेशन आया और विनती करने लगा कि "हम लोग पत्रों से विनती मनवाते हैं। इस तरह से इतनी संख्या में विनती के लिये पहले कहीं नहीं गये। अतः आपको विनती स्वीकार करनी होगी। तब हम लोग यहां से जावेंगे"। दिल्ली वालों का अत्यन्त आग्रह देखकर महाराज श्री ने विनती स्वीकार की और सं० १९९५ का चातुर्मास दिल्ली में हुआ।

सं. १९९५, दिल्लीः—जैन दिवाकरजी म. का यह चातुर्मास शास्त्रज्ञ धैर्यवान् पूज्य श्री खूबचन्द्रजी महाराज की सेवा में हुआ। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह धूमधाम से मनाया गया। इस चातुर्मास में एक जर्मन विद्वान् महाराज श्री की सेवामें आया था। उन महाशय ने जैन दिवाकरजी म. से कई प्रश्न किये। प्रोफेसर फूलचन्दजी सा. ने दुभाषिया का काम किया था। वे सज्जन अंग्रेजी में बोलते और उसका भाषान्तर प्रोफेसर सा. करके महाराज श्री को समझाते तथा महाराज श्री जो उत्तर फरमाते उसका अंग्रेजी अनुवाद करके उस जर्मन विद्वान् को महाराज श्री का आशय समझाते। इस वार्तालाप से उस जर्मन विद्वान् को बड़ा संतोष हुआ। इसकी अलग पुस्तिका भी प्रकाशित हुई है।

उदयपुर के महाराणा सा. ने दिल्ली में जैन दिवाकरजी म. सा. का एक व्याख्यान सुना। साथ ही उन्होंने आगामी चातुर्मास उदयपुर करने के लिये प्रार्थना की। इसके उत्तर में महाराज श्री ने फरमाया कि साम्प्रदायिक नियमानुसार फाल्गुन के बाद यथायोग्य उत्तर दिया जा सकेगा।

दिल्ली से विहार करके जैन दिवाकरजी म. अलवर पधारे। वहां अलवर के श्रीमन्त नरेश ने व्याख्यान श्रवण करने का लाभ उठाया, कई व्याख्यान जगत टॉकिज में हुए। वकील एसोशियेसन की ओर से एक व्याख्यान करवाया गया। प्राईमिनिस्टर हार्वे साहब तथा उनकी मेम साहिबा ने भी उपदेश श्रवण का लाभ लिया। वहां से महाराज श्री जयपुर होते हुए किशनगढ़ पधारे।

वहां उदयपुर के महाराणा सा. ने प्रतीष्ठित राज्याधिकारी को भेजकर आगामी चातुर्मास की स्वीकृति करवाई। वहां से अजमेर होते हुए महाराज श्री ब्यावर पधारे। गर्मी का समय आगया था। अतएव ब्यावर श्रीसंघ ने दरबार की सेवामें पत्र भेजा कि उष्ण ऋतु है अतएव आप फर्मावें तो जैन दिवाकरजी म. का यह चातुर्मास यहां कराने की हमारी इच्छा है। दरबार की ओर से उत्तर आया कि चातुर्मा तो उदयपुर ही होना चाहिये अतएव जैन दिवाकरजी म. उदयपुर पधारे।

सं. १९९६, उदयपुरः—महाराणा सा. की प्रार्थना से यह चातुर्मास उदयपुर में हुआ। दरबार ने कई बार उपदेश सुना। यात्रियों के स्वागत खर्च में १०००) रुपये दरबार ने प्रदान किये। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। अन्तिम दिवस विराट् जुलूस निकाला गया। एक रोज शान्ति-कथा हुई थी। हजारों मनुष्यों ने आयम्बिल व्रत करके कथा सुनी थी। उस समय आयम्बिल इतने हुए थे कि चने मुरमुरे वालों ने भाव बढ़ा दिये थे और उनका अभावसा होगया था। इस चातुर्मास में उदयपुर के समीप के गावों और पहाड़ों में बसने वाले भीलों और देहातियों ने आकर उपदेश सुना था और सदा के लिये मदिरा न पीने की प्रतिज्ञा

ली थी।

उदयपुर का चातुर्मास पूर्ण करके जैन दिवाकरजी म. चित्तौड़ पधारे। वहां बड़ी धूमधाम से महावीर जयन्ती मनाई। उस प्रसंग पर बाहर के गाँवों से आई हुई दो तीन हजार जनमेदिनी उपस्थित थी। जोधपुर श्रीसंघ का डेप्युटेशन आया और उसने आगामी चातुर्मास जोधपुर करने के लिये आग्रह पूर्वक प्रार्थना की।

संवत १९९७, जोधपुरः—जोधपुर के श्रीसंघ की विनती को मानकर जैन दिवाकरजी म. चातुर्मास के चातुर्मास के लिये जोधपुर पधारे। आहोर की हवेली में व्याख्यान होते। हजारों लोग प्रवचनों का लाभ उठाते। बड़े २ राज्य कर्मचारी महाशयों ने उपदेश श्रवण में भाग लिया। वेश्याएं भी प्रवचन सुनने आतीं और उनमें से कई वेश्याओं ने अपने जीवन में बहुत परिवर्तन कर लिया। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह भी खूब समारोह पूर्वक मनाया गया। यह चातुर्मास पूर्णकर के महाराज श्री बगड़ी (मारवाड़) पधारे। वहां महावीर जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई।

इसी समय ब्यावर में साम्प्रदायिक साधु-सम्मेलन हुआ। बाहर के गांवों से कई हजार मनुष्य आये थे। जयपुर श्रीसंघ ने महाराज श्री का चातुर्मास अपने यहां कराने का अत्याग्रह किया परन्तु ब्यावर वालों ने अपने यहां चातुर्मास करने की स्वीकृति लेही ली अतएव सं. १९९८ का चातुर्मास ब्यावर में हुआ।

सं. १९९८, ब्यावरः—यह चातुर्मास ब्यावर में हुआ। हजारों लोगों ने प्रवचन में भाग लिया। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह से मनाया गया। ब्रिटिश राज्य कर्मचारियों ने भी उपदेश में भाग लिया था। वहां का चातुर्मास पूर्ण करके महाराज श्री सिंगोली पधारे। वह शानदार रूप से महावीर जयन्ती मनाई गई। कई रईस और जागीरदार उस समयपर उपस्थित थे। हजारों की जन संख्या एकत्रित हुई थी। वहां से महाराज श्री ने मालवे की ओर विहार किया।

सं. १९९९, मन्दसौरः—जैन दिवाकरजी म. का यह चातुर्मास मन्दसौर में हुआ। बाहर से हजारों। दर्शनार्थी आये थे। *निर्ग्रन्थ प्रवचन* सप्ताह भी बड़े समारोह से मनाया गया। इस चातुर्मास में "पूज्य श्री हुक्मीचंदजी म. के सम्प्रदाय का हितैषी श्रावक मण्डल" की दृढ़ नींव पड़ी। कार्यकर्त्ताओं ने हजारों रूपयों का चन्दा मण्डल के लिये प्राप्त किया।

चातुर्मास पूर्ण होने पर महाराज श्री का पदार्पण प्रतापगढ़ में हुआ। वहां के हिजहाइनेस ने दो व्याख्यान श्रवण किये और अत्यन्त प्रभावित हुए। दो दिन तक दरबार की ओर से प्रभावना बाँटी गई। राजमाता ने मुनिराजों को आहार बह-राया। यहां से विहार करते हुए महाराज श्री सैलाना पधारे। वहां के हिजहाइनेस श्री दिलीपसिंहजी सा. ने उपदेश श्रवण किया। वहां से महाराज श्री का रतलाम







श्री जैन दिवाकरजी महाराज को मेवाड़ स्टेट से दिए गए पट्टों की नकलें।

बहादुर राज्य भूषण सेठ श्री कन्हैयालालजी सा. भंडारी को मानपत्र भेंट किया। उज्जैन में बोर्डिंग के लिये १५०००) रु. का चन्दा एकत्रित हुआ। वहां के श्रीसंघ ने आगामी चातुर्मास करने की विनंती की। देवास में निश्चयात्मक रूप से उज्जैन श्रीसंघ की चातुर्मास की विनती स्वीकृत हुई। देवास सीनियर के राजकुमार ने उपदेश श्रवण किया। देवास जूनियर की राज्यमाता व रानी साहिबा ने कई बार उपदेश श्रवण किया। देवास से विहार करके महाराज श्री इन्दौर पधारे। वहां के महावीर चौक में जैन दिवाकरजी म. के कई व्याख्यान हुए। प्रसिद्ध धनकुबेर सर सेठ हुक्मीचंदजी सा., हीरालालजी सा. आदि प्रतिष्ठित नागरिक जन एवं हजारों मनुष्य उपदेश सुनने को आते थे। इस प्रसंग पर चित्तौड़ के वृद्धाश्रम के लिये १०००) रु. इन्दौर वालों ने प्रदान किये।

संवत् २००१, उज्जैनः—देवास में दी गई स्वीकृति के अनुसार जैन दिवाकरजी म. का यह चातुर्मास उज्जैन में हुआ। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। हितैषी मण्डल मन्दसौर तथा श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम के अधिवेशन हुए। स्थानीय सर्वोच्च अधिकारी श्रीमान् सूबा साहेब एवं प्रतिष्ठित नागरिक श्रीमान् रायबहादुर लालचन्दजी सा. आदि ने उपदेश श्रवण में भाग लिया। चातुर्मास पूर्ण होने पर धार होते हुए महाराज श्री का रतलाम में पदार्पण हुआ।

जब जैन दिवाकरजी म. रतलाम में विराजते थे, तब इन्दौर निवासी सेठ सुगनचन्दजी सा. भण्डारी सेवामें पधारे और चातुर्मास के सम्बन्ध में जैन दिवाकरजी म. से परामर्श किया और कहा कि आप इन्दौर संघ की आगामी चातुर्मास के लिये की जाने वाली विनती को अवश्य स्वीकार करें। तत्पश्चात् इन्दौर संघ का आग्रह होने से विनती स्वीकार की गई। रतलाम से विहार करके महाराज श्री जावरा पधारे। वहां संयुक्त रूप से महावीर जयन्ती मनाई।

सं. २००२, इन्दौरः—चातुर्मास काल नजदीक आने पर महाराज श्री इन्दौर पधारे। स्वीकृत विनती के अनुसार चातुर्मास यहीं हुआ। श्रीमान् रायबहादुर, राज्य भूषण सेठ कन्हैयालालजी सा. भण्डारी, श्रीमान् सेठ सुगनचन्दजी सा. भण्डारी आदि श्रीमानों ने अपना अमूल्य समय और धन पर्याप्त मात्रा में खर्च किया। इन्दौर श्रीसंघ ने तनमन और धन से चातुर्मास को सफल बनाया। भण्डारी जी सा. के आग्रह से मिल के मजदूरों को महाराज श्री ने उपदेश दिया। चित्तौड़ के वृद्धाश्रम के लिये २००००) बीसहजार रुपयों का चन्दा हुआ। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह भी मनाया गया। इस समय इन्दौर में मध्यभारतीय जैन सम्मेलन भी हुआ। शिक्षा के प्रचार के लिये स्थान २ पर धार्मिक पाठशालाएं खोलने का निश्चय हुआ तथा अन्य समाजोपयोगी प्रस्ताव पास हुए। इस प्रकार इन्दौर चातुर्मास सानन्द व्यतीत हुआ।

सँस्थापित संस्थाएँ

जैन दिवाकरजी म. ने जैन समाज के अभ्युदय के लिये अनेक दिशाओं में प्रयत्न किये हैं। व्याख्यान, लेखन, धर्म प्रचार आदि के अतिरिक्त आपने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक समाजोपयोगी संस्थाओं को जन्म दिया है। आपके प्रयत्न और आपकी प्रेरणा द्वारा संस्थापित संस्थाएं इस प्रकार हैं:—

श्री महावीर मण्डल, रतलाम
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम,
श्री समाज हितैषी श्रावक मण्डल, मन्दसौर
श्री चतुर्थ जैन वृद्धाश्रम, चित्तौड़गढ़।

उक्त संस्थाएं अपने २ उद्देश्य के अन्तर्गत रहकर समाज एवं धर्म की सेवा कर रही हैं। जैन समाज का सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान करने के लिये ये संस्थाएं प्रयत्नशील हैं। इन संस्थाओं ने अब तक जो सफलता प्राप्त की है उसका समस्त श्रेय जैन दिवाकरजी म. को ही है।

उपसंहार

गत पृष्ठों में जिन महापुरुष की जीवन-रेखा का यत्किञ्चित आलेखन करने का प्रयास किया गया है वे सचमुच एक अलौकिक विभूति हैं। उस लोकोत्तर महान् विभूति का जीवन जगत में नवजीवन लाने वाला, प्राणियों में प्रेरणा का नूतन प्राण फूंकने वाला और जगत को पथ प्रदर्शन करने वाला आकाश-दीप है। इस जाज्वल्यमान-ज्योति के प्रकाश में सहस्रों आत्माओं ने अपने खोये हुए मार्ग को पुनः प्राप्त किया है।

वस्तुतः जैन दिवाकरजी म. का उज्ज्वल जीवन एक शासन-प्रभावक संत का जीवन है। जैन दिवाकरजी म. ने अपने विशाल ज्ञान एवं अनुभव के द्वारा तथा उज्ज्वल चारित्र के द्वारा जैन समाज का भारी उपकार किया है। अपनी अनुपम वक्तृत्व शैली तथा अलौकिक व्यक्तित्व के द्वारा उन्होंने जैन शासन की महती सेवा बजायी है। आधुनिक काल में राजा महाराजा एवं नरेशों तक जैनधर्म का संदेश पहुँचाने में सफलता प्राप्त करने वाले आप ही हैं। नरेशों से लेकर दीन हीन समझे जाने वाले दलित वर्ग तक प्रभु महावीर का संदेश पहुंचाने वाले नररत्न आप ही हैं। आपका जीवन अन्य सभी मुनियों एवं गृहस्थों के लिये आदर्शरूप एवं अनुकरणीय है।

शासन देव से यह मंगल कामना है कि चतुर्विध श्री संघ की अनमोल सेवा बजाने के लिये जैन दिवाकरजी म. युगयुगान्तर तक चिरायु हों। इतिशम्।

ॐ ॥ शान्तिः शान्तिः ॥ शान्तिः ।

वक्ता या जादूगर !

कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज



एक बहुत पुराना श्लोक है-'सहस्रेषु च पण्डितः, वक्ता दशसहस्रेषु।' पहला और अन्तिम चरण मैंने जान बूझकर छोड़ दिया है क्योंकि यहां उनका कोई प्रसंग नहीं है। और अप्रसंग की चर्चा करना न स्वयं मुझे पसंद है और न आज के सुरुचिसंपन्न पाठकों को ही कुछ रुचिकर है।

हां, तो ऊपर के दो चरणों का भाव बताढूँ। 'हजार मनुष्यों में एक पण्डित होता है, और दश हजार में एक वक्ता।' मानव समाज का अधिक भाग स्वयं ज्ञाननेत्रों से शून्य होता है। किसी भी वस्तु स्थिति के प्रति पूर्णतया विशुद्ध अपना निज़ी दृष्टिकोण रखने वाले कितने महानुभाव हैं यहां? और जब तक यह चीज न हो, पण्डित कैसा? यदि पण्डित का अर्थ केवल अक्षराभ्यासी लगाया जाय, तब भी पढ़े हुओं की अपेक्षा अनपढ़ ही अधिक निकलेंगे। अतएव ठीक ही कहा है—'सहस्रेषु च पण्डितः।'

अब रही वक्ता की बात। वक्ता का अर्थ है अपने मनोगत भावों को वाणी के द्वारा दूसरों के हृदय में उतारना। वाणी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ने का काम करती है। जिसकी वाणी जितनी ही अधिक संख्या में मनुष्यों को अपने से जोड़ सके, वह उतना ही विराट पुरुष होता है। परन्तु इस प्रकार के विराट पुरुष मानव जाति में कितने हैं? बहुत कम। प्रथम तो बहुत कम मनुष्यों के हृदय में विचारों के तूफान उठते हैं। और दूसरे यदि कभी किसी के हृदय में उठते हैं तो वाणी में इतना बल नहीं होता कि उन्हें उचित सुव्यवस्थित रूप में व्यक्त कर सके। अतएव भारतीय संस्कृति का एक पुराना गायक ठीक ही कहता है कि-'वक्ता दशसहस्रेषु।'

जगद्वल्लभ प्रसिद्ध वक्ता जैन दिवाकरजी महाराज हमारे समाज में एक ऐसे ही विराट वक्ता हैं। आपकी वाणी में वह ओज, वह माधुर्य, वह आकर्षण है कि हर श्रोता आनन्द विभोर हो उठता है। जब आप बोलने लगते हैं तो हजारों की जन संख्या को अपने विचारों के विशाल द्रुतवेग प्रवाह में बहा ले जाते हैं। सच्चा और सफल वक्ता वही है, जो अपने श्रोताओं के मन को बराबर अपनी ओर खींचे रहे, इधर उधर न भटकने दे।

दिवाकरजी की भाषण शैली सुबोध एवं हृदय ग्राहिणी है। क्या ग्राम्य जनता, क्या नागरिक जनता, क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित, सभी को प्रभावित कर देने में आप एक विशेष कौशल रखते हैं। वक्ता के सामने एक बेमेल दुनियां

बैठी रहती है। उस में बालक, बूढ़े, युवा, साधारण शिक्षा पाया हुआ या कुछ भी न पढ़ा हुआ, स्त्री समाज सभी कुछ न कुछ सुनने को आये होते हैं। प्रत्येक को उनकी अपनी अपनी भूमिका के अनुसार विचार सामग्री देना और प्रसन्न करना, वस्तुतः अपने आप को बहुरूप बनाना है और एक विचित्र खेल खेलना है। हमसे दिवाकरजी यह खेल खेलने में बहुत ही सफल प्रमाणित हुए हैं। यही कारण है कि दिवाकरजी की वाणी का मधुर स्वर एक ओर जहां झोंपड़ों की दुनिया में गूँज रहा है तो वहां दूसरी ओर राज महलों में भी गूंज रहा है।

मामूली सी कहानी होती है। साधारण शिक्षित समझता है, इस में क्या रक्खा है? परन्तु दिवाकरजी की वाणी पर चढ़कर वह जादू पैदा कर देती है, रस की धार बहा देती है। आप की वाणी नीरस से नीरस कथानक के अन्दर भी प्राण डाल देती है, सरसता उत्पन्न कर देती है। कभी कभी आप अपने भाषण को इधर उधर की टूटी फूटी सामग्री से ही ऐसा सजा लेते हैं कि जनता मंत्रमुग्ध होजाती है। पुराने को नया बना देना, साधारण को असाधारण कर दिखाना, आपके बायें हाथ का खेल है।

मैंने अपने जीवन में अनेक मुनियों के व्याख्यान सुने हैं। मैं किसी को छोटा बड़ा ठहराने का यहां प्रयत्न नहीं करता। परन्तु विशिष्टता की ओर संकेत किये बिना रहा भी नहीं जाता। सर्व प्रथम जैनसाहित्य के उद्भट विद्वान् गंभीर विचारक पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज से दादरी जींद स्टेट में मधुर मिलन हुआ। आपके प्रवचन मुर्दों में जीवन फूंक देने वाले होते थे। गंभीर विश्लेषण शैली, उदात्त विचारणा, युग को स्पर्श करती हुई वाग्-धारा विरोधी से विरोधी के हृदय को भी एक बार तो गद् गद् बना देती थी। आपने समाज को नये विचार नई भावना प्रदान की है। वस्तुतः आचार्य श्री वर्तमान युग के वन्दनीय प्रतिनिधि थे। आगे चलकर आगरा में श्री दिवाकरजी से सस्नेह साक्षात्कार हुआ। आपकी वाणी में भी मैंने स्वर गूँजता हुआ पाया। जैन समाज के सौभाग्य से उसे दो सर्व श्रेष्ठ वक्ता मिले। दोनों की अपनी अपनी पृथक् शैलियाँ हैं, विभिन्न पद्धतियाँ हैं, परन्तु दोनों ही अपनी अपनी शैली के पथ की अन्तिम चोटी पर हैं। मैं दो विभिन्न दृष्टिकोणों से दोनों का ही प्रशंसक रहा हूँ और रहूँगा, हालां कि मैं 'मुरारे स्तृतीयः पन्था' की संस्कृत लोकोक्ति को चरितार्थ करने में प्रयत्नशील हूँ।

आज के युग को पण्डित और वक्ता दोनों की ही एक जैसी आवश्यकता है। बिना पाण्डित्य के वक्तृत्व का कोई मूल्य नहीं, और बिना वक्तृत्व के पाण्डित्य भी हतप्रभ सा ही रहता है। समाज की गाड़ी दोनों चक्रों के आधार पर ही अग्रसर होगी, अन्यथा नहीं। क्या मैं आशा करूँ कि बाहर की धूमधाम और शोरोगुल से प्रसन्न रहने वाला जैन समाज, दिवाकरजी की स्वर्णजयन्ति को लक्ष्य में रख कर, इस दिशामें भी कुछ प्रयत्न करेगा और जैन समाज के अभ्युदय के लिए पाण्डित्य एवं वक्तृत्व दोनों में मेल साध सकेगा।

गुरुदेव के संस्मरण

लेखकः—साहित्यरत्न मुनि श्री केवलचन्दजी महाराज



संसार महान् है, वरेण्य विभूतियों का जीवन उससे भी महान् है। महापुरुषों के जीवन आकाश की तरह अनन्त, व्यापक और सर्वदेशी हुआ करते हैं। उनमें धरा-सी धीरता, हिमाचल-सी अडोलता और गंगा-सी पवित्रता होती है। महापुरुष किसी कुटुम्ब, जाति, समाज अथवा राष्ट्र की ही सम्पत्ति नहीं होते वरन् वे सारे विश्व के लिए अनमोल निधि-रूप हुआ करते हैं। सारा विश्व उनकी गुण गरिमा से गौरवान्वित होता है। यही महापुरुषों की महत्ता है।

महापुरुषों के जीवन में अनेक महान् घटनाएं होती हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि ये महान् घटनाएं ही उन्हें महान् बनाती हैं। महापुरुष जन्म से ही महापुरुष नहीं होते अपितु उनका जीवन प्रतिदिन महान् से महान् होता जाता है। वे अपने पुरुषार्थ से महान् बनते हैं। महापुरुषों की महानता से प्रभावित होकर दूसरों के जीवन में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें ही हम महान् घटनाएं कहते हैं।

गुरुदेव जैन दिवाकरजी महाराज का जीवन पुस्तक के खुले पृष्ठों की तरह दुनियां के सामने है। उनका जीवन इतना सार्वजनिक है कि कोई भी व्यक्ति उनके व्यक्तित्व, वक्तृत्व आदि सद्गुणों से अपरिचित प्रायः नहीं हो सकता।

जैन दिवाकरजी का अद्भुत व्यक्तित्व और चमत्कारिक वक्तृत्व सचमुच आश्चर्योत्पादक है। व्यक्तित्व वक्तृत्व का ऐसा सुमेल विरला ही दृष्टिगोचर होता है। जिस विरल विभूति में इन दो सद्गुणों का सुमेल होता है वह दुनिया को अपने प्रभाव से सहज ही प्रभावित कर लेता है अथवा यों कहना चाहिए कि दुनिया स्वतः उससे प्रभावित होजाती है। वक्तृत्व शक्ति का चमत्कार कौन नहीं जानता? बुजदिल दिलों में बिजली की शक्ति का संचार करने वाला कौन है? कायरता और अकर्मण्यता से सुषुप्त जनता को जागृति का बोध पाठ देने वाला कौन है? रण से विमुख बने हुए सैनिकों को रणशूर बनाने वाला कौन है? कठिनाइयों से घबराकर जीवन से निराश बने हुए व्यक्तियों के हृदय में उत्साह, स्फूर्ति तेज एवं साहस का संचार कौन कर सकता है? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर होगा-वक्ता। बड़े बड़े राष्ट्रों का स्वामी तलवार के बल पर नहीं परन्तु वक्तृत्व के बल पर अपना आधिपत्य जमाता है। साथ ही यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस वक्तृत्व के पीछे आत्मबल नहीं होता वह वक्तृत्व अपना स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता है। हां, यह अवश्य होगा कि थोड़े समय के लिये उसकी

वक्तृत्व शक्ति के द्वारा जन समाज आकर्षित हो जाय; उसके वाक्कोशल से उसकी सराहना हो जाय लेकिन स्थायी प्रभाव जिसे कहना चाहिए वह तो ऐसे वक्ता का ही पड़ सकता है जिसमें आत्मबल-संयम और त्याग हो।

पूज्य गुरुदेव में वक्तृत्व शक्ति के साथ ही साथ आत्म बल ऐसा मिला हुआ है जो अनेक चमत्कारी घटनाओं को संभव बना देता है। महापुरुषों के जीवन की कतिपय घटनाएँ साधारण जनता को विचित्र सी मालुम होती हैं इसका कारण यही है। उनके व्यक्तित्व और आत्मबल का बड़ा ही अपूर्व प्रभाव पड़ता है। जैन दिवाकरजी महाराज के आत्मबल के कारण कई व्यक्तियों के जीवन का प्रवाह-जो पहले विपरीत मार्ग से बहरहा था-ठीक और सही मार्ग पर प्रवाहित होने लगा। इसी बात को स्पष्ट करने वाले कतिपय संस्मरणों का यहां उल्लेख किया जाता है:—

(१)

संयुक्त प्रान्त में जलेसर नगर में जैन दिवाकरजी म० सा का प्रवचन हो रहा था। सैकड़ों नरनारी मंत्र मुग्ध होकर स्थिर दृष्टि से वक्ता श्री की ओर देख रहे थे। वक्ता श्री की वाणी में ऐसा जादू भरा होता है कि श्रोतागण मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। उत्कंठित श्रोतागणों को वक्ता श्री वचनामृत का पान करा रहे थे। उपदेश धारा का प्रवाह बहाते हुए वक्ता श्री ने प्रसंगोपात्त उस दिन चोरी के अनिष्ट परिणामों का वर्णन किया और चोरी से चोर के लिये होने वाले दुष्परिणामों और जिसका धन चुराया गया है उसके मानसिक परितापों को सम्यक् प्रकार से समझाया जा रहा था। यह एक मनोविज्ञानिक सत्य है कि हृदय से निकली हुई बात हृदय में जल्दी उतर जाती है। "महापुरुषों के वचनों से अमृत झरता है" इस का आशय भी यही है कि महापुरुष जो उद्‌गार निकालते हैं वे उनके अन्तरतम हृदय से निकलते हैं अतएव उनमें ऐसी शक्ति होती है जो कई व्यक्तियों के हृदय में रहे हुए कालुष्य को दूर करके उन्हें पवित्र बना देती है। पूज्य गुरुदेव की वाग्धारा बराबर बह रही थी। इसी बीच में एक व्यक्ति खड़ा होकर प्रार्थना करने लगा "महाराज, जीवन भर के लिये चोरी करने का त्याग करवा दीजिये। मैं सच्चे हृदय से चौर्य कर्म का त्याग करता हूँ। आप मुझे यह प्रतिज्ञा करवादें। अब से मैं किसी प्रकार की चोरी नहीं करूंगा"। महाराज श्री ने त्याग करवा दिये। लोग विस्मय से विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देख रहे थे। उनके आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही। यह व्यक्ति एक नामी डाकू की तौर पर मशहूर था। इसने कई हत्याएँ भी कर डाली हैं। इतना नामी डाकू एक ही व्याख्यान को श्रवण करके जीवन भर के लिये चोरी न करने की प्रतिज्ञा लेता है। कितना परिवर्तन ! कैसा आश्चर्य !! जनता उसके सहसा होने वाले हृदय परिवर्तन को देखकर दंग रह गई और लोगों ने कहा-गुरुदेव ! गजब की है आपकी शक्ति !

जनता ने उस दिन अनुभव किया कि यह शक्ति आत्मबल के बिना नहीं हो सकती। धन्य है गुरुदेव की आत्म शक्ति और चमत्कारिक वक्तृत्व प्रणाली।

(२)

पूज्य गुरुदेव के व्याख्यान हृदय पर कैसा प्रभाव डालते हैं उसका एक उदाहरण और लीजिये। उदयपुर में गरीब की झोंपड़ी से लेकर राज महलों तक गुरुदेव के व्याख्यानों की चर्चा थी। व्याख्यानों को श्रवण करने से कतिपय व्यक्ति अपने जीवन की दिशा को बदल चुके थे। वे उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आ चुके थे एक अंग्रेज आफिसर का नौकर जो बाजार में शाक भाजी लेने जा रहा था वह भी सैकड़ों लोगों को जाते हुए देखकर वहां पहुँच गया, जहां गुरुदेव के व्याख्यान हो रहे थे वह भी व्याख्यान सुनने लगा। उसे उसमें बड़ा आनन्द मालूम होने लगा और वह प्रतिदिन नियमित रूप से व्याख्यान सुनने लगा। प्रतिदिन के व्याख्यान श्रवण से उसका जीवन बदल गया। उसकी बुरी आदतें छूटगईं। वह बड़ा शरीफ बनगया। उसका अंग्रेज अफसर उसके स्वभाव के इस परिवर्तन से बड़े आश्चर्य में पड़ गया और उसने पूछा कि तुम्हारा स्वभाव कैसे बदल गया? उसने उत्तर में कहा कि यह इन गुरुदेव का प्रताप है। इनके उपदेशों से मेरा जीवन बदलगया गुरुदेव जिधर शौच के लिये पधारते, उसी तरफ उस अंग्रेज अफसर का बंगला था। जब गुरुदेव उधर से होकर निकले तो वह अंग्रेज कहने लगा "महाराज, मेरा नौकर बड़ा बदमाश था बड़ा बदमाश !! अब आपके उपदेशों से बहुत ही शरीफ होगया है। मैं आपका आभार मानता हूँ।"

(३)

इन्द्रगढ़ में गुरुदेव का पदार्पण हुआ। वहां ब्राह्मणों में परस्पर बहुत वैमनस्य बढ़ा हुआ था और ४० वर्षों से उनमें दो दल होगये थे। वैमनस्य इतना गाढ़ा था कि स्वयं इन्द्रगढ़ नरेश ने चाहा था कि ये दोनों पक्ष परस्पर समझौता करलें उन्होंने स्वयं प्रयत्न किया परन्तु वे सफल न हो सके। झगड़ा वैसा का वैसा बना रहा। गुरुदेव के वहां पधारने पर दोनों पक्ष के लोग व्याख्यान श्रवण करने के लिये आने लगे। किसी व्यक्ति ने महाराज श्री से यह प्रार्थना की कि यह झगड़ा ४० वर्षों से चलरहा है यदि आप इसके लिए प्रयत्न करें तो यह वैमनस्य दूर हो सकता है। गुरुदेव ने यथावसर व्याख्यान में फरमाया कि दोनों पक्ष के नेता यहां विद्यमान हैं वे खड़े हो जांय। दोनों तरफ के नेता खड़े होगये। गुरुदेव ने कहा "झगड़ा शान्त करना चाहते हो या और लड़ना चाहते हो?" दोनों ने कहा "झगड़ा शान्त करना चाहते हैं। तब आपने कहा- दोनों परस्पर एक दूसरे से क्षमा याचना करलो" गुरुदेव की वाणी में कुछ ऐसा जादू था कि वे दोनों नेता जो अब तक अपनी अपनी तानते थे और झगड़ा बढ़ाते थे एक दूसरे से क्षमा मांग कर परस्पर प्रेम से गले मिले। दोनों दल एक होगये और वहां शान्ति होगई।

इन्द्रगढ़ नरेश ने जब यह सुना तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने व्याख्यान श्रवण किया और गुरुदेव के इस शुभ कार्य की भूरि-भूरि सराहना करने लगे । कैसी है गुरुदेव की करामात ?

(४)

एक जिज्ञासु गुरुदेव के पास आकर बोला-महाराज मैंने अनेक विद्वानों से अपनी शङ्काओं का समाधान पाने के लिये प्रश्न किये परन्तु किसी से भी मुझे संतोषजनक समुचित समाधान प्राप्त नहीं हुआ । क्या आप महति कृपा करके मेरी शंकाओं को दूर करने का कष्ट करेंगे ? इसके प्रत्युत्तर में गुरुदेव ने कहा-भाई मैं यहां चातुर्मास करूँगा, तुम नियमित रूप से व्याख्यान श्रवण करना और फिर यथावसर अपने प्रश्न मेरे सामने रखना । वह व्यक्ति जिज्ञासु था ही । प्रतिदिन व्याख्यान सुनने लगा । एक महीने के बाद गुरुदेव ने उस व्यक्ति से प्रश्न किया कि तुम्हारे कुछ प्रश्नों का उत्तर मिला या नहीं ? वह व्यक्ति बोला-महाराज श्री, मेरे बहुत से प्रश्नों का समाधान हो चुका है परन्तु अब भी दो सौ प्रश्न बाकी हैं । गुरुदेव ने वही उत्तर दिया कि व्याख्यान श्रवण करना जारी रक्खो । तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मिलता रहेगा । एक महीने के बाद प्रश्न करने पर वह व्यक्ति बोला कि गुरुदेव ! अब तो बहुत से प्रश्न हल होगये हैं तदापि थोड़े से शेष रहे हैं । गुरुदेव ने उसे वही उत्तर दिया । इस तरह चातुर्मास में उसके सभी प्रश्नों का उत्तर स्वयमेव व्याख्यानों द्वारा प्राप्त होगया । इस पर से यह मालूम होजाता है गुरुदेव के व्याख्यान कितने सारगर्भित होते हैं और जिज्ञासुओं को कितनी जानने की सामग्री मिलती है ।

(५)

धार में लोगों ने चीफ कमान्डर साहब से कहा कि-"साहब ! एक बहुत अच्छे मुनि पधारे हैं; उनका उपदेश और व्याख्यान बड़ा अच्छा होता है आप भी व्याख्यान सुनिये । कमान्डर सा. बोले-मुझे तो समय बिल्कुल नहीं है तोभी तुम्हारे आग्रह से १५-२० मिनिट का समय निकाल सकता हूँ" । लोगों ने कहा-आप इतनी ही देर सुनिएगा । कमान्डर सा. व्याख्यान सुनने के लिये आये । आप व्याख्यान सुनते रहे । आपको इतना रस मालूम हुआ कि उन्हें समय का ध्यान न रहा । आधा घंटा हो जाने पर एक आदमी ने कहा, हुजूर ! समय होगया है । कमान्डर सा. कहने लगे-बोलो मत देखा जायगा । कमान्डर सा. केवल बीस मिनिट के लिये आये थे लेकिन एक घंटे तक तन्मयतापूर्वक गुरुदेव के वचनामृत का पान करते रहे । व्याख्यान के पश्चात कहने लगे कि-सचमुच इनकी वाणी में कोई जादू है । इनकी वाणी सुनते हुए तृप्ति नहीं आती इस पर से यह मालूम होता है कि गुरुदेव के व्याख्यान कितने रोचक होते हैं ।

(६)

इन्दौर के क्लॉथ-मार्केट में गुरुदेव के व्याख्यान होरहे थे। सारे शहरभर में गुरुदेव के व्याख्यानों की धूम मची हुई थी। इतनी अधिक जनता की उपस्थिति में शायद ही इस स्थान पर किसी दूसरे वक्ता के व्याख्यान हुए हों।

एक दिन सर सेठ हुक्मीचन्दजी व्याख्यान में आये। प्रसंग से गुरुदेव ने कहाः— सेठजी जैन समाज के रत्न है। आपने अपने समाज और धर्म के लिए बहुत बड़ा दान किया है। फिर जनता को सम्बोधन करके कहने लगे कि आप लोग यह न समझना कि महाराज को भी कुछ चाहिए जिससे सेठजी की तारीफ करते हैं। बन्धुओ! हम तो घर को भी छोड़कर आये हैं; हमें क्या जरूरत है; परन्तु गुणी के गुण का कथन करना हमारा कर्त्तव्य है।

(७)

ब्यावर के पास एक छोटे से स्टेशन पर गुरुदेव के दर्शन के लिए ब्यावर के श्रद्धालु भक्त उमड़ पड़े। स्टेशन मास्टर ने देखा कि दूल्हा तो नहीं है और बिना दूल्हे के यह सेठ लोगों की बरात कैसी? उसने पूछा—आप सब सेठ लोग किसकी बरात में जारहे हैं। लोगोंने उत्तर दिया—भाई, कोई बरात नहीं है, हमारे गुरुदेव यहां पधारे हैं उनके दर्शन के लिए हम यहां आये हैं।

स्टेशन मास्टर भी गुरुदेव के व्याख्यान सुनने के लिए आया और प्रसन्न होकर बोला कि ऐसे त्यागी और आत्मबली साधु मेरे देखने में नहीं आये। टिकिट न होने से पास बनाकर देने पड़े; इतने अधिक लोग दर्शनार्थी थे।

(८)

जोधपुर में जैनियों के घर बहुत अधिक हैं। संवत १९८४ में वहां गुरुदेव का चातुर्मास था। प्रसंग से गुरुदेव ने फर्माया कि पर्यूषण-पर्व आपके महान् पवित्र धार्मिक त्यौहार हैं। आप यह चाहते कि इन दिनों में दूसरे लोग भी अपना धंधा न करे। परन्तु ऐसा तभी होसकता है जब आप खुद भी अपना धंधा बंद रक्खें। दुकानों पर धंधा करते रहें और दूसरों से बंद करवाना चाहें तो यह कैसे हो सकता है। इसलिए आप लोगों को पर्यूषण पर्व के नौ दिनों में अपना सांसारिक धन्धा बन्द रखना चाहिए और आत्मिक व्यापार का लाभ लेना चाहिए। सभी मनुष्यों ने एक स्वर से इसे स्वीकार किया और तभी से आजकल चलता आरहा है। पहले ही वर्ष लोगों ने यह अनुभव किया कि इन दिनों में दुकानें खोलने पर जो आमदनी होती थी वह पहले दिनों में ही होगई।

(९)

जोधपुर में गुरुदेव के व्याख्यानों की धूम ऐसी मची कि वहां की हिन्दू वेश्याएं भी—जिन्हें पातरियाँ कहते हैं—व्याख्यान में आने लगीं। उनकी संख्या

उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। उनपर व्याख्यानों का ऐसा असर पड़ा कि उनमें से कितनी ही वेश्याओं ने अपना पेशा छोड़ दिया और कईयों ने मर्यादा करली। गुरुदेव के उपदेशों का वहां बहुत अच्छा असर पड़ा और उन वेश्याओं को अपने पेशेपर घृणा होगई। उन्होंने इस विषय पर विचार करने के लिए एक सभा स्थापित करली और उसके द्वारा अब यह भावना भरी जा रही है कि लड़कियों को इस पेशेके लिए आकर्षित न किया जाय और उनकी शादी कर दी जावे। जहां पहले ७० प्रतिशत ने इस पेशे को ही अपनी आजीविका का साधन बना लिया था वहां अब क़रीब ७० प्रतिशत के विवाह होने लगे हैं। यह है गुरुदेव के व्याख्यानों का चमत्कार। एक उदाहरण और लीजिए—

(१०)

कैसूर में गुरुदेव ने अपने व्याख्यान में मद्यपान का निषेध किया और उससे होने वाली हानियों का दिग्दर्शन कराया। उसका असर वहां के कलालों पर इतना अच्छा पड़ा कि उन्होंने जीवन भर के लिए शराब पीना और शराब का धंधा करना भी छोड़ दिया। उन्होंने अपनी जाति का यह नियम बना दिया कि जो कोई व्यक्ति शराब पियेगा या बेचेगा उस पर ग्यारह रुपये दंड होगा।

कुछ दिनों के बाद अफसर लोग आये और उन पर धंधा चालू करने के लिए दबाव डाला। कुछ लोगों के मुंह में बलात् शराब उँडेली गई परन्तु किसी ने शराब पीना और बेचना स्वीकार नहीं किया। जिन लोगों के मुंह में जबरन शराब उँडेली गई थी उन्होंने स्वेच्छा से ग्यारह रुपये दण्ड देकर नियम की पाबन्दी की।

इस घटना से आप सहज सोच सकते हैं कि गुरुदेव के उपदेश कितने मर्मस्पर्शी होते हैं। उनके उपदेशों का असर हृदय को कैसा परिवर्तित कर देता है यह घटना इसका एक उदाहरण है।

पूज्य गुरुदेव का जीवन अनेक स्मरणीय प्रसंगों से भरा हुआ है। उनमें से कतिपय का उल्लेख ऊपर किया गया है।



दिवाकरजी का ओजस्वी वक्तृत्व

ले० श्रीमान् सेठ स्वरूपचन्दजी तालेड़ा, श्रीमान् सेठ देवराजजी सुराना
जैन श्रीसंघ, ब्यावर



किसी भी व्यक्ति की महत्ता या लघुता अपने ही गुणों और अवगुणों पर निर्भर है। दूसरों के थोपने से किसी में महत्ता नहीं आ सकती और न लघुता ही। लेकिन जब किसी महान् व्यक्ति की महत्ता उसके आचार, विचार अथवा उच्चारण के द्वारा जन-साधारण पर प्रकट हो जाती है, तब जनता उसकी प्रशंसा करने लगती है। इस प्रकार जनता की प्रशंसा से उसमें महत्ता नहीं आती वरन् उस व्यक्ति की महत्ता से प्रशंसा आ जाती है।

कोई-कोई व्यक्ति सिर्फ अपने उच्च और पवित्र आचार के द्वारा ही महान् बन जाता है, कोई अपने गंभीर, उदार और धार्मिक विचार के द्वारा महत्ता प्राप्त कर लेता है और कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जो आचार-विचार से सम्पन्न न होने पर भी सिर्फ अपने उच्चारण की बदौलत अर्थात् वाणी की तेजस्विता के कारण ही विशेषता प्राप्त कर लेते हैं। आज ऐसे अनेक उपदेशक-व्याख्याता मिल सकते हैं, जो अपने आचार-विचार से गिरे हुए होने पर भी सिर्फ प्रभावशाली भाषण करके श्रोताओं के चित्त को मुग्ध करके वाह-वाह करवा लेते हैं मगर ऐसे लोगों से जगत् का स्थायी कल्याण नहीं होता। वक्ता के मुख से निकली हुई भाषा श्रोता के कानों तक ही पहुँचकर रह जाती है; किन्तु जो भाषा वक्ता की अन्तरात्मा से प्रकट होती है, श्रोताओं के अन्तः करण तक पहुँचती और उन्हें प्रभावित करती है, इस प्रकार की भाषा वही महान् पुरुष बोल सकता है, जिसकी आत्मा में उत्कृष्ट आचार, पवित्र विचार का तेज विद्यमान होता है। और ऐसी भाषा ही श्रोताओं के जीवन में महत्वपूर्ण और स्थायी असर पैदा करती है। आचार विचार की उत्कृष्टतावाले महापुरुष की वाणी में ही ऐसी शक्ति हो सकती है कि वह अपने श्रोताओं को अंधकार में से प्रकाश की ओर ले जाती है। वही वाणी अन्याय और अधर्म के कीचड़ में से निकाल कर श्रोताओं को स्वच्छ और पवित्र बनाती है। उसी वाणी के निर्मल और अखण्ड प्रवाह से जगत् का संताप मिटता है, अशान्ति का अन्त आता है, कालिमा धुलती है और स्थायी कल्याण होता है।

श्री जैनदिवाकरजी महाराज ऐसे ही उत्तम पुरुषों में से एक हैं। उनका आचार उत्कृष्ट है, विचार श्रेष्ठ है और इस कारण उनका उच्चारण अर्थात् वाणी भी प्रभावजनक है। दीक्षा लेने के बाद शीघ्र ही उनकी वाणी में तेजस्विता आगई थी। तभी से वे अपने व्याख्यानों द्वारा जनता में अद्भुत जागृति उत्पन्न कर रहे हैं।

अपने लम्बे त्याग संयममय जीवन में उन्होंने न जाने कितने पतितों का उद्धार किया है, न मालूम कितने गुमराहों को सच्ची राह बतलाई है, न जाने कितने अधर्म के चंगुल में फँसे लोगों को छुड़ाकर धर्मशील बनाया है।

दिवाकरजी की वाणी में अपूर्व बल उनके उच्च संयम और तप-त्याग का ही बल है। उसी के प्रभाव से उनकी वाणी ऐसी बलवती बन गई है कि श्रोताओं बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जो लोग दिवाकरजी महाराज के सम्पर्क में एकबार भी आ चुके हैं, वे उनकी वाणी का जादू भलीभाँति जानते हैं। जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला, उनकी जानकारी के लिये ही यहाँ कुछ श्रोताओं के उद्गार हजारों उद्गारों में से थोड़े से ही हैं, जो हमें सहज प्राप्त हो सके हैं उद्धृत करते हैं। इनसे पाठक कल्पना कर सकते हैं कि श्री जैनदिवाकरजी का प्रसिद्ध व्याख्याता विरुद कितना सार्थक है। उन्होंने किस प्रकार जैन, अजैन, हिन्दू-मुसलमान, राजा-रंक आदि सभी श्रेणियों की जनता पर अपना प्रभाव डाला है और वे जनता के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कितना भगीरथ प्रयत्न करते रहे हैं और अब भी कर रहे हैं। वह उद्गार इस प्रकार हैः—

संवत १९५२ में आपने भगवती दीक्षा अंगीकार की, और सं. १९५४ में आप कोटे पधारे। वहां की जनता आपके व्याख्यान को सुनकर मुग्ध होगई और गुरु श्री महाराज से अर्ज की कि चौथमलजी महाराज का एक व्याख्यान और सुनने की हमारी इच्छा है।

सं. १९५६ में पारसोली पधारे। वहां के रावजी साहब श्री रत्नसिंहजी ने कहा 'आपने दुपहर एवं सायंकाल को जो व्याख्यान दिये, बहुत ही उत्तम थे। उनको सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। और भविष्य के लिये विश्वास होगया है कि यदि आपकी यही गति रही तो गुरुदेव के शुभाशीर्वाद से जैन सिद्धान्त के धार्मिक क्षेत्र में आपका एक खास और अत्यन्त आदरणीय स्थान होगा।

मन्दसौर में आपके धारा प्रवाह व्याख्यान को सुनकर शास्त्रवेत्ता श्रावक श्री मोतीलालजी बागिया ने कहा—"चौथमलजी महाराज! आपने थोड़े ही समय में खूब परिश्रम किया और अच्छी योग्यता संपादन की। हम ऐसा नहीं जानते थे कि आपके व्याख्यानों की शैली इतनी प्रभावोत्पादक होजायगी।

सं. १९५९ में नीमच की जनता आपके व्याख्यान को सुन आश्चर्यचकित होगई। किसी को यह विश्वास न था कि चौथमलजी महाराज इतने अल्प समय में ऐसे होशियार एवं प्रसिद्ध व्याख्याता होजायँगे।

सं १९७० में अठाना के रावजी सा. ने कहा—"आपका उपदेश बड़ा बोध-जनक और व्याख्यान बड़ा सरल एवं मधुर होता है। बड़ी कृपा हो यदि आप यहां पधार कर हम लोगों को कृतार्थ करें।

टोंक के हिन्दू व मुसलमान भाइयों ने कहा—"ऐसा ओजस्वी व्याख्यान

हमने आज तक किसी भी धर्मानुयायी का नहीं सुना। हमारा परम सौभाग्य है कि आप जैसे महात्मा का पदार्पण इस नगरी में हुआ है।

गंगापुर की जनता व्याख्यान श्रवण कर बोली कि–"महाराज! हम ऐसा नहीं जानते थे कि आपका व्याख्यान इतना उच्च होता है। दो एक दिन और ठहर कर हमें अपने उपदेशामृत का पान कराइये"।

धौलपुर निवासी सुप्रसिद्ध साहित्यरत्न लाला कन्नोमलजी M. A. सेशन जज ने कहा था–"ऐसे महात्मा का एक व्याख्यान भी लोगों का उद्धार कर सकता है।

मन्दसौर में गंगापुर के भाई ने अर्ज की कि अगर कोई सुयोग्य साधु वहां पधारे तो उपकार की संभावना है। तब पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज ने कहा कि "चौथमलजी, तुम्हारा व्याख्यान प्रभावोत्पादक होता है। जहां एक भी जैन का घर नहीं होता है वहां सैकड़ों अजैन तुम्हारा व्याख्यान श्रवण करने आते हैं। और उनपर तुम्हारे कथन का असर होता है। अतः तुमही गंगापुर जाओ"।

चित्तौड़ के महन्त लालदासजी ने लिखा कि "स्वामी! आपके अमृतमय वचनों को सुनकर मेरा हृदय गद्‌गद् होजाता है। आपकी वाणी अमृत समान है" आदि।

सारंगी—ठाकुर सा. ने लिखा कि "आपके सबही व्याख्यान पक्षपात रहित एवं उपदेशपूर्ण थे। परनारी गमन विषयक आजका व्याख्यान तो बहुत ही महत्वपूर्ण था। आप विषय को ऐसी उत्तम रीति से समझाते हैं कि उसका हरएक मनुष्य के हृदय पर असर होता है। यहां की जनता को आपने धार्मिक एवं शारीरिक पतन से बचाया इसके लिये कोटिशः धन्यवाद।

सं १९७९ उज्जैन के जज मौलवी फाजिल सादुद्दीन हैदर ने कहा–"मैंने बहुत से भाषण बाज़ स्पीच वगैरह सुने हैं। लेकिन मुनि चौथमलजी ने जो व्याख्यान हमें सुनाया उसमें बड़ा आनन्द आया है। वह इज्जत करने लायक है। आपकी नसीहत से चोर चोरी करना, अन्यायी अन्याय करना व पापी पाप करना छोड़ देता है। इस हालत में प्रजावत्सल गवालियर महाराज को बहुत फायदा पहुंचता है।

मौलाना यादअली ने जाहिर किया कि स्वामीजी के व्याख्यान की तारीफ के लिए मेरे पास कोई अल्फाज नहीं है। उस मुकाम को खुश किस्मती समझना चाहिये, जहां ऐसे गुणीजनों की तशरीफ आवरी हो। आदि।

सर सूबा साहब बालमुकुन्द भैया ने कहा—"यदि इतने दिन पहले मुझे मालूम होता कि महाराज का व्याख्यान इतना दिलचस्प होता है तो मैं हमेशा सुनने का लाभ लेता।"

उदयपुर महाराणा सा. फतेसिंहजी व श्रीमान् महाराज कुमार सा. भूपालसिंहजी ने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की व भाषण की सराहना की।

सैलाना दरबार श्रीमान् दिलीपसिंहजी सा. ने कहा—"सचमुच आप जैसे स्वार्थ त्यागी महोपदेशकों की वाणी में ही ओजस्विता और आकर्षण है। और आपके द्वारा अनेक उपकार होते हैं।

बड़ी सादड़ी राजराणा श्री दूलहसिंहजी सा. ने कहा—'आपका उपदेश अमृत के समान है उसका पान एक दिन रनिवास में भी कराइयें."

शाहपुरा के राजाधिराज ने कहा—"आपका व्याख्यान सुन मेरा चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो गया।" आदि।

श्रीमान् राय बहादुर जुगमन्दिरलालजी जैन M. A., M. R. A. S. बार-एट-लॉ चीफ जस्टिस एण्ड लॉ मेम्बर, होल्कर-स्टेट लिखते हैं कि-"ये जैनों के ही महापुरुष नहीं है, पर जैनेतर जनता ने भी आपको आदर्श पुरुष के रूप में पूजा है। जिनको आपके दर्शन का लाभ एवं उपदेशामृत पान करने का अवसर प्राप्त हुआ है, वे धन्य हैं।"

सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता श्रीयुत वाड़ीलाल मोतीलाल शाह ने लिखा है कि "जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज अपने जाहिर व्याख्यान द्वारा जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्तों को प्रकाश में लाये हैं। इसके लिए यह समाज आपका अत्यन्त ऋणी है। मानव शास्त्र का आपने गहरा अध्ययन किया है ऐसा मालूम होता है। अपने विचारों को जनता के आंतरिक हृदय में उतारने की आप में शक्ति है।" आदि।

स्वामी नारायणानंदजी (कानपुर) लिखते हैं कि आप के ओजस्वी एवं तर्कपूर्ण भाषण की जैन जगत् में ही नहीं वल्कि सारे भारतवर्ष में धूम है। आपकी व्याख्यान शैली सुमधुर एवं ललित है आपके व्याख्यानों से प्रभावित होकर अनेक राजा महाराजाओं ने अपने राज्य में होने वाली हिन्सा को कई अंश तक बंद करदी है। मेवाड़ के सेटलमेंट आफिसर एवं रेवेन्यु कामिश्नर साहब C. G. Chenwiks Trench ने लिखा कि 'मैंने चौथमलजी महाराज की अत्यन्त तारीफ सुनी है। और मैं मानता हूं कि वे कल्याणकारी कार्यों में बहुत प्रभावशाली हैं। एक युरोपियन भक्त F. G. Taylar साहब लिखते हैं कि आप अपने जीवन में प्रेम तथा दया का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

श्री जैनदिवाकरजी महाराज के प्रति. उनकी मधुर और ओजपूर्ण वाणी से प्रभावित प्रतिष्ठित पुरुषों द्वारा अर्पित की गई श्रद्धाञ्जलियों में से उल्लिखित कतिपय श्रद्धाञ्जलियाँ ही आपके व्यक्तित्व की विशेषता पाठक के सामने रख देती हैं। हमारी हार्दिक कामना है कि प्रसिद्धवक्ता और जगद्वल्लभ आदि अनेक बिरुदावली को सार्थक करने वाले यह महापुरुष चिरकाल तक जगत् का कल्याण करते रहें।

पंडित मुनि श्री चौथमलजी

महाराज की दिनचर्या

लेखक—प्रियव्याख्यानी मुनि श्री मन्नालालजी महाराज



श्रमण-शिरोमणि, वीतराग भगवान् महावीर के कथनानुसार, जो वीर प्रभु के प्रवचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखता है; छः काय के जीवों को, अपनी आत्मा के अनुरूप ही समझता है; जो अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पंच महाव्रतों का पूरा पूरा पालन करता है; जो पाँच आस्रवों का पूरा-पूरा निरोध करता है; जो क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायों को छोड़ देता है; जो स्वयं ज्ञानी है, और ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर दृढ़ विश्वासी रहता है; जो सोना, चांदी, आदि किसी भी प्रकार का कोई भी सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता; जो सम्यग्दर्शी है; जो कर्तव्य-विमूढ़ नहीं है; जो मन, वचन, और शरीर को, पाप-पथ पर जाने से, पल-पल को रोके रहता है; जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है; जो शरीर से परिषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार गर्त से अपना उद्धार कर लेता है; जो जन्म-मरण को महान् भयंकर मानकर और जानकर, सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है; जो सद्धर्म का उपदेश करता है; जो स्वयं धर्म में स्थित होकर, दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है, जो किसी के साथ, कभी हँसी-मजाक भी नहीं करता; और सर्व जीवों के साथ सदा-सर्वदा जिसका मैत्रीभाव है; वही सच्चा और उच्च कोटि का साधु है।

पाठकों, आइये। हम भी उपर्युक्त कथन को, अपनी आँखों, कानों, और बुद्धि की कसौटी पर कस कर, प्रत्यक्ष दर्शन, श्रवण, और अनुभव के द्वारा नाप तोल कर निर्णय करें, कि भगवान् की पावन वाणी द्वारा निःसृत उपर्युक्त अनूठे बोल, हमारे चरित-नायक के, प्रति दिन के व्यावहारिक जीवन में कितना गहरा घर करके बैठे हैं; और तब, अनुभव करें, कि वे, एक उच्च कोटि के, और कितने आदर्श साधु हैं।

हमारे चरित्र-नायक रात्रि में तीसरे, या चौथे प्रहर में जब कभी भी उनकी नींद टूट जाती है, अपने शरीर की किसी भी प्रकार की, कोई भी शिकायत न सुनते हुए उसी समय उठ बैठते हैं, और भगवद्नाम का जप करने में जुट पड़ते हैं। इसमें, उनके कम-से कम दो घंटे व्यतीत होजाते हैं। तब प्रतिक्रमण की बारी आती है। अर्थात रात्रि के समय, स्वप्न, अथवा सुप्तावस्था में, मन वचन, तथा काया के द्वारा घटित पापों की आलोचना वे करते हैं। तब आधे घंटे से लगाकर अधिक-से-अधिक तीन घंटे तक आहार-पानी के ग्रहण का त्याग वे लेते हैं। तब

सर्वज्ञ और सर्व व्यापक भगवान्, तथा गुरुजनों के चरणों का चिन्तन और मनन कर, उन्हें वे नमन करते हैं।

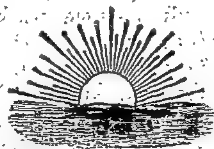
इतना कर चुकने पर, ओढ़ने-बिछौने के वस्त्रों, भोजन आदिके पात्रों, सोने बैठने के पाटों, और रजोहरण आदि की, सूक्ष्म रूप से, प्रति-लेखना करली जाती है। जिसके द्वारा, यह भली-भांति जान लिया जाता है कि उन वस्तुओं में कहीं कोई जीव तो नहीं चढ़ गया है। यदि चढ़ जाता है, तो उसे अधर से एक ओर कर दिया जाता है। यदि सोते समय, करवट बदलने में कोई जीव रगड़ खा जाता है, तो उसका उचित प्रायश्चित कर लिया जाता है। बिना देखे, कपड़े आदि के किसी तह में, कोई जीव कभी रह जाता है, तो उसे भी मैत्री-भाव से होले-होले हटा दिया जाता है।

अब किसी जैन श्रावक भाई, अथवा धर्म-प्रेमी जैनेतर बन्धु से सारे दिन-भर के लिये आवश्यकता के अनुसार, कंकड़ तथा तिनका, खादी को लेते रहने की आज्ञा दी जाती है। इसके बाद, वे गांव के बाहर, शौचादि क्रियाओं से निवृत्त होने के लिये, गमन करते हैं। उस समय, अक्सर, धोवन का, अथवा, गरम जल जो उपयोग में लाया जाता है, साथ में ले जाया जाता है।

शौच से निवृत्त होकर लौट आने पर, वृद्धावस्था के कारण, कुछ मिनिट विश्राम करते हैं। पर उस समय भी, जगत् के प्राणी-मात्र के मंगल की शुभ भावना तो, स्वांस-स्वांस पर साथिन बनी रहती है। उसी के साथ, भगवत्नाम-जप की निरंतर आराधना भी चलती ही रहती है। थकावट दूर होजाने पर, प्रतिदिन, प्रवचन किया जाता है। प्रसंगवश, यहां यह कह देना भी अनुचित न होगा कि आपके पावन और संसार, तथा संसार के भूले-भटके मानवों को चिन्ता-मुक्त कर, सुपथ पर लाने वाले, प्रत्येक व्याख्यान में, एक ऐसी अद्भुत और आकर्षण शक्ति होती है, कि ज्योंही, आप का नाम लोग सुन पाते हैं, अपने सारे काम-काज छोड़कर, लालायित होकर, आपके प्रवचनों का रस-पान करने के लिये लपकते हैं। अकेले जैन श्रीसंघ के लोग ही उन से लाभ उठावें, सो नहीं। उन से तो, क्या जैन और क्या जैनेतर, क्या अमीर और क्या गरीब, यहां तक कि राव, राणा, महाराणा, शाहजादे, नवाब, सरकारी ऊँचे-से-ऊँचे और छोटे-से छोटे, सभी अहलकार, और बाट के बटोही किसान और कुली, सभी लोग एक-सा लाभ उठाकर, अपने अशान्ति ग्रसित जीवन को शान्त, दुखी जीवन को सुखी, और उच्च जीवन को उच्चतम बनाने की शक्ति पा जाते हैं। यही क्यों, समय-समय पर, कई मनस्वी अंग्रेज़, और ईसाई, मुसलमान और पारसी, तथा पंजाबी और बंगाली बन्धु भी, आपके व्याख्यानों से अपना मनरंजन करने और जीवन को सुखी तथा उन्नत बनाने के लिये, आते ही रहते हैं। आपके प्रवचनों के इतने आकर्षक होने का एक ही कारण है और वह है, आपकी गम्भीर घोष करती हुई कड़कीली, खरी, और संयतवाणी,

शास्त्रों का गम्भीर और निरंतर अध्ययन, और पक्ष-पात-रहित कथनों कथन।

प्रवचन की समाप्ति कर, थोड़ा सुनकर, केवल नियमित संख्या के घरों से आवश्यकता के अनुसार, थोड़ा-थोड़ा भोजन, जाकर लाया जाता है। तब फिर, कुछ विश्रान्ति के बाद, भोजन की क्रिया समाप्त की जाती है। उसके पश्चात् ही सत्शास्त्रों का पठन-पाठन नूतन एवं सद्ग्रन्थों का निर्माण, और काव्यरचना करते-करते, दिन के लगभग साढ़े तीन बज जाते हैं। उसी समय आये-गये स्वधर्मी और परधर्मी बन्धुओं की भांति-भांति की शंकाओं का समाधान किया जाता है। यूँ करते-करते, चार-साढ़े चार का समय आ लगता है। अब, एक बार, पुनः अपने पहनने तथा ओढ़ने और बिछौने के कपड़ों, भोजन के पात्रों, और रजोहरण, आदि की प्रति-लेखना की जाती है। तब शौच के हित वन की ओर विचरण होता है। वहां से लौटने पर भोजन और जल-पान किया जाता है। उसी के पश्चात् दिवस-चरम के त्यागने, अर्थात दिन के रहते-ही रहते, अगले दिन तक के लिये आहार-पानी के त्याग की प्रतिज्ञा करली जाती है। अब वही पूर्ववत् प्रति-क्रमण और उस से निवृत होकर आये हुए भाइयों से धार्मिक वार्तालाप और उनकी शंकाओं का समाधान का काम होता रहता है। तब तक घड़ी, रात्रि के साढ़े दस-ग्यारह बजा देती है। तब कुछ न कुछ घंटों की निद्रा और फिर वही रोज का नियमित व्यापार।



जैन दिवाकर पं. मुनिश्री चौथमलजी महाराज

की

दिव्य जीवनी.

लेखकः—मुनि विमलकुमार जैन.

साधु चरित शुभ सरिस कपासू।
निरस विशद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।
वन्दनीय जेहि जग जस पावा॥ —[तुलसीदास

अर्थात् सन्तों का चरित्र, कपास के समान, (संसार का) कल्याण करने वाला है। जो, नीरस कहलाने पर भी विषय-वासना से रहित (नी+रस) उज्ज्वल और गुणयुक्त (डोरा अथवा सद्वृत्ति से युक्त) है। जो आप दुख सहकर भी, परायों के दोषों को (नंगाई और चीर-फाड़को) ढंकता है, और जिसने जगत् में वन्दना करने योग्य यश को प्राप्त किया है।

और

सठ सुधरहिं सत संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥
विधि हरि हर कवि कोविद बानी।
कहत साधु-महिमा सकुचानी॥ —[तुलसीदास

अर्थात् कोई कैसा भी दुष्ट क्यों न हो, वह भी सत्संगति को पाकर ठीक वैसा ही सुधर जाता है, जैसे पारस को छूकर लोहा, सुवर्ण बन जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि, पंडित, और स्वयं सरस्वती भी, साधुओं की महिमा का (यथार्थ) वर्णन करने में सकुचा जाते हैं।

जब साधुओं की महिमा का यथार्थ वर्णन करने में, संसार की ऐसी-ऐसी दिव्य शक्तियों की गति और मति भी कुंठित हो जाती है, तब मुझ-जैसे अल्पज्ञ, और अनुभवहीन व्यक्ति के द्वारा, श्रीमद् जैनदिवाकरजी की साधुतामयी जीवनी को लिखने का साहस करना तो केवल सूरज को दीपक लेकर ढूँढ़ने ही का प्रयास-मात्र है। जो भी कुछ हो। स्वान्तः सुखाय' के नाते, उनके गुण-गान के लिए, अपनी अन्तरात्मा को उद्धार के सुपथ पर लगाने का अधिकार तो छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी को है। बस, एकमात्र इसी ध्येय को ध्यान में रखते हुए, मैंने भी इस छोटे से निबन्ध को लिखदेने का साहस किया है।

जैन-दिवाकरजी का शुभ जन्म का० शु० १३ रवि० सं. १९३४ वि० मालवा—

प्रान्त के नीमच-स्थान में हुआ था। आपके पिता श्री गंगारामजी और माता श्रीमती केशरबाई थीं। बालकपन, आपका बड़े ही लाड़-प्यार से बीता। एक ग्रामीण-निवासी के नाते, उस समय, एक ग्रामीण पाठशाला के द्वारा, जितनी भी पढ़ाई, आपकी हो सकती थी, हिन्दी, अँग्रेजी, उर्दू, और गणित, सभी विषयों में हुई।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। इस उक्ति के अनुसार आगे चलकर आप अपने जीवन में, उँसे भी कर्मवीर और धर्मवीर बननेवाले थे, उसकी झलक, आपके बालकपन ही में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती थी। संयत वाणी, सादगी और धर्म की ओर अभिरुचि, आदि विशेषताएँ, मानो आपको अपनी जीवन घूटी के साथ पिलाई गई थी। बालकपन, अल्हड़पन की अवस्था होती है और जवानी में मनुष्य का मन उच्छृंखल होता है यदि कोई अंकुश ऊपर न हुआ, अथवा घर के बड़े-बूढ़ों की ओर से प्रेम की मात्रा पर्याप्त रूप से रही और उसके विपरीत अंकुश की ढिलाई, तब तो न जाने कौन-कौन-से पाशविक कार्यों में वह सहज ही में फँस जाता है। उस अवस्था में एक सुकवि का कथन ठीक ही जँचता है, कि—

"इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करत; नय वय चढ़ती बार॥"

अर्थात् जब नौजवानी की विकराल तरंगें शरीर में उछल-कूद मचाती हैं, तब कोई तो केवल भींग कर ही रहजाता है; कोई कीचड़ में फँस मरता है; और हजारों बूढ़ जाते और बहजाते हैं। परन्तु हमारे चरित-नायक का जीवन, इस बातका एक अपवाद था। इसका कारण, जन्म-जन्मान्तरों के सुसंस्कार, इस भव के मात-पिता की धर्म-निष्ठा, सत्संगति की ओर विशेष झुकाव, और पड़ोसी वायु-मंडल का शुद्ध होना ही था। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के आधार पर, माता-पिता की करणी, कथनी और शरीर-रचना की त्रिपुटि ही से, बालक के शरीर का सृजन हुआ करता है। उसमें जीवन रक्षण, बल, विपदा, बुद्धि, और विवेक की नींव, उसके पूर्वकृत कर्मों पर जमती है। सुसंगति की अनुकूल वायु और तदनुकूल बननेवाली विचार-धारा के प्रकाश में, उसके जीवन का पौधा डहडहा उठता है। और क्रमशः उच्चतर गति के सुफलों से, वह फलता रहता है। जीवन को प्रशस्त और असार जगत् में संसार बनाने का, यह एक सहज पंथ है।

लगभग सोलहवाँ वर्ष, आपका बीत रहा था, उस समय, आप वैवाहिक बन्धन में बांध दिये गये। अभी, विवाह के बाद, एक वर्ष ही बीता था, कि एक दिन, आप की माताजी ने, आपके सम्मुख, दीक्षा धारण कर लेने की, अपनी भावना प्रकट की। यह बात सुनकर सांसारिक मोह-बन्धन के नाते, आपको विकलता होनी चाहिए थी, पर हुई बड़ी ही प्रसन्नता। साथ ही, उसी घड़ी आपने भी मुनि-दीक्षा धारण कर, अपने इह लोक, तथा परलोक को बनाने के भाव, अपनी

माता पर प्रकट कर दिये। आये दिनों, इस कार्य में, धाधाओं ने भी बड़ा ही विकट विघ्न डाला। पर 'तिरिया तेल हमीर हठ' को ध्यान में रखकर, आप, लाख-लाख धाधाओं के मुँह बाये हुए अपने सामने आने पर भी; अपने ही विचारों पर हिमालय की भांति अटल बने रहे। अन्त में, अपने विवाह का दूसरा वर्ष बीतते-ही बीतते, सं. १९५२ वि. में आपने मुनि-दीक्षा ग्रहण करही तो ली। आपके दीक्षा-गुरु कविवर सरल-स्वभावी मुनि श्री हीरालालजी महाराज थे।

जैसा कि देखा, सुना, और अनुभव किया जाता है कि अनेकों व्यक्ति, दीक्षित बन कर अपने आपको, पंडिताऊपन, संयम, और त्याग की मूर्ति ही मान बैठते हैं। किन्तु आपके विचार आज तक भी इस बात का खंडन ही करते रहे हैं। आपने यह समझा है कि दीक्षित बनने का दिन, संयम, यम नियम आदि के पालन व त्याग, पांडित्य और लोक परलोक के बनाने की शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश करने का पहला दिन मात्र है और कुछ नहीं है। जहां रह कर, अनवरत परिश्रम द्वारा स्वाध्याय, विकट परिषह, शास्त्र-मन्थन, और कष्ट-सहिष्णुता रूपी अध्यापकों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना पड़ती है। यदि यूँ, घबराहट को उर में घर न करने दिया और सतत साधना में थोड़ी ही सतर्कता रक्खी गई, तो कुछ ही दिनों के बीतने पर, जीवन में एक दिव्य दमक आ बैठती है, और मार्ग में सारे शूल फूल बन जाते हैं। मुनि ने अपने आज तक के जीवन में, एक-मात्र इसी पथ का अनुसरण किया है और इसी पथ के अनुसरण करने ही का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि आपके जीवन में एक अलौकिकता है और सोने जैसी दमक है। आपकी वाणी में घन के समान गम्भीरता और जीवन दान की शक्ति है। उसके द्वारा मुर्दे जाग पड़ते हैं, जागे हुए, उठकर चल पड़ते, और चले हुए, साधना के मन्दिर तक पहुंचने का प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। सभी अवस्थाओं, सभी समाजों, सभी धर्मों और सभी विचारों वाले मानवों के मनों पर आपकी टकसाली संयत, और सुबोध भाषा का ठप्पा, एक-ही-सा बैठता है। यह बात कुछ कम महत्व की नहीं, किन्तु, मुनि-पद धारी प्रत्येक व्यक्ति के लिये, अनुसरणीय, अनुकरणीय, और अनथक अभिमान की जीवित वस्तु है और है जिसके केन्द्र में चुम्बक जैसा आकर्षण, अस्तु।

दीक्षित होकर मुनि श्री ने अपने अनवरत परिश्रम और प्रचुर परिषहों के बीच नियमित रूप से अपना विशाल शास्त्राध्ययन प्रारंभ कर दिया। जिसकी चाल, आज भी, पहले ही दिन जैसी स्फूर्त और सततगामिनी है। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में सूत्र-साहित्य का अध्ययन तो आपके घरही की चीज़ है। साथ ही में, दिगम्बर, और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अन्यान्य सद्ग्रन्थों, वैदिक सम्प्रदाय के वेदों और पुराणों, तथा मुसलमानों की कुरानशरीफ और हदीसशरीफ, व गुलिस्तां और बोस्तां आदि में आपकी खासी व अच्छी गति है।

यों तो दीक्षा के दूसरे ही दिन से आप अहिंसाधर्म-प्रचारक के रूप में संसार

के सामने आ जाते हैं; पर वास्तविक कार्य तो इस दिशा में आपका तभी शुरू होता है, जिस दिन अड़ोस-पड़ोस के सभी धर्मों के सद्ग्रन्थों के वर्णित विषयों के साथ तुलनात्मक-रूप में विभिन्न पहलुओं से आपकी स्थायी सम्मैत्री हो जाती है। पूरी कड़ाही में डाली जाने पर कच्ची अवस्था ही में उछल-कूद मचाती है और लूँ लूँ करती फिरती है। परन्तु वही पक जाने पर स्थिर होकर फूल जाती है। यही हालत किसी मजहब में अधूरे और कोरे अल्प ज्ञान की अजीर्णता के रोगी पंडितों की होती है। जब तक उनका शास्त्रीयज्ञान एकांगी और अपूर्ण होता है, वे भी अपनी-अपनी डफली पर अपना ही अपना राग अलापते फिरते हैं। और जगह के आंगन में साम्यभाव, शान्ति और सद्भावना के प्रचार और प्रसार के बदले उलटा वे भेद-भाव अशान्ति और कुत्सित भावनाओं ही के बीज-वपन का काम करते फिरते हैं संसार का कोई भी स्थायी और सच्चा धर्म इन एबों से सदा कोरा ही कोरा रहता है। भेदभाव का प्रचार कर वैमनस्य की आग तो वह कभी भड़काना जानता ही नहीं। हमारे चरित-नायक के धर्म-प्रचार में इस बात का सजीव प्रमाण, पद-पद पर मिलता है। तभी तो सभी अवस्थाओं, सभी समाजों और सभी धर्मों के अनुयायियों में सर्वत्र और सभी कालों में आपके प्रवचन सुनने की एक ललकती हुई लालसा-सी बनी रहती है। उसी-उसी पैमाने पर उनका आदर, उनकी वाणी की मधुरता और लोकप्रियता का क्षेत्र भी व्यापक और विशुद्ध होता जाता है। साथ ही राजा और रंक, सुशिक्षित और अपढ़, जैनेतर और सरकारी अहलकारों व बाट के बटोहियों का जो अपूर्व सम्मिलन आपके धार्मिक प्रवचनों में एक ही समय और एक ही स्थान पर देखा और सुना जाता है वैसा जैनधर्म के आधुनिक इतिहास में अन्य धर्म-प्रचारकों में कदाचित् कहीं नहीं मिल पाता

आप की संयत और टकसाली वाणी से निःसृत उपदेशों ने आज तक के (सं०२००२ वि० तक) पूरे-पूरे पचास वर्षों में, कितने ही जैनियों को अजैन बनने से बचाया; कितने ही विधर्मियों से गोकुशी आजीवन बन्द करवादी; कितने ही देश की दशों दिशाओं के राजा, महाराजा, राव, राणा नवाब, ठाकुर और जमींदार लोगों से उनके-उनके अधिकृत भूभागों में मृत प्राणियों के वध-निषेध, मद्य-निषेध महिने में कम-सेकम एक बार अगता पालन, और अन्य-अन्य मादक-द्रव्य-निषेध के सही-सिक्केदार परवाने, बड़े ही सम्मान के साथ प्राप्त किये; कितने ही विधर्मियों से, जैनधर्म के प्रति सद्भावना की सम्मतियां पायी; हजारों ही फटे-फटे बेकार देश-वासियों को, विधर्मी और विजातीय होने से बचा लिया; कितने ही स्थानों में, धार्मिक सत्सिद्धान्तों, बालक-पाठशालाओं और कन्या-पाठशालाओं की स्थायी-रूप से स्थापना करवायी और कितने ही नये-नये सद्ग्रन्थों का निर्माण करवाया। थोड़े में जो जो काम सत्ता और शक्ति के बलपर भरोसा रखनेवाले और उछल-कूद मचानेवाले स्वेच्छाचारी भूपतियों, सेना-नायकों, वेतन-भोगी समाज-सुधारकों, देश के नेताओं, बेलगाम बड़ी-बड़ी जोशीली वक्तृताओं, और काले कानूनों

के द्वारा नहीं कर पाये, वे-वे काम, सहजही में, आपकी ओज और चोज-भरी, सुबोध, संयत और टकसाली वाणी द्वारा निसृत उपदेशों ने, स्थायी रूप से, देश के कई प्रान्तों में, सुफल दिखा दिये। गम्भीर से गम्भीर शास्त्रीय विषयोंकी चर्चा को सुबोध से सुबोध बनाकर, श्रोताओं के दिल और दिमाग में उसे जमा देना जहां एक ओर आपके बांयें हाथ का खेल है वहां वही, दूसरी ओर, आपके अगाध पांडित्य और विभिन्न मनोवृत्तियों के पहचान का प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

यों, हमारे चरित नायक ने अपनी दीक्षा के दूसरे दिन से, आज तक की पूरी-पूरी अर्द्ध शताब्दियों में वीतराग भगवान् के अहिंसा भरे, और सत्य से ओतप्रोत सिद्धान्तों का अपने बल-भर प्रचार और प्रसार कर देश के अधिकांश भाग की समस्त का जनता पर, जैन-धर्म की श्रेष्ठता का पक्का प्रभाव भी डाला है।

आपने, जैन-मुनियों की मर्यादा के अनुसार पैदल भ्रमण करते हुए अपने मुनि पद के लम्बे समय में शीत, गरमी, आँधी वर्षा, तूफान के तथा, कंकरीले पथरीले, पहाड़ी और वनैले मार्गों के, सैकड़ों ही परिषहों को, समय-समय पर, हंसते-हंसते सहते हुए, मेवाड़, मालवा, मारवाड़, राजपूताना आदि-आदि प्रान्तों तथा देहली, आगरा, कानपुर, औरंगाबाद, बम्बई, पनवेल, पूना, अहमदनगर, आदि, भारत-भूमि के विशाल वक्षःस्थल पर यत्र-तत्र बिखरे हुए नगरों की भूमि को पावन बनाया है। तथा वहां की जनता के दिलों में, अहिंसात्मक धर्म को जागरूक कर, उसे चिर जीवन दिया है।

आपके धर्म- प्रचार के कार्यों में, जहां एक ओर आपके अगाध पांडित्य का प्रधान हाथ है, वहां, दूसरी ओर आपके प्रसन्नतापूर्ण चेहरे मृदुल और स्नेह भरे स्वभाव, मिलनसारी की मीठी प्रकृति, आचार-पूर्ण संयतजीवन सुव्यवस्थित एवं निर्धारित दिनचर्या तथा स्वांस-स्वांस और कदम-कदम पर निरन्तर होते रहने-वाले भगवन्नाम-जप का भी उसमें कोई कम हाथ नहीं है।

आपके, दिन के चौबीस घंटों में से, केवल लगभग एक प्रहर-भर का समय सोने, और दोनों समय, शौच के लिए वन-गमन, व भोजन, तथा जल-पान, आदि के लिए अधिक-से अधिक एक प्रहर के समय को छोड़कर, शेष के पूरे-पूरे छः प्रहरों का समय "काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" के नाते, धार्मिक-प्रवचन करने, धार्मिक शंकाओं के उत्तर देने, वाद प्रतिक्रमण करने, निर्धारित संख्या में एक स्थान और आसन पर स्थित होकर भगवन्नाम के निरन्तर जपने और जैन तथा जैनेतर धर्मों के सत् शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने ही में बीतता है। आपकी, स्वाध्याय, चिन्तन, और मनन की इस शैली ही ने आपको प्रखर, प्रसिद्ध और सुवक्ता बना दिया है।

आपकी प्रखर वक्तृत्व शैली और विशाल अध्ययन से पता चलता है कि

साहित्य-सेवा भी आप की बड़ी ही अनूठी और उपादेय होगी। जिस व्यक्ति के पास प्रतिदिन उसके प्रत्येक सत्कार्य के लिये एक निर्धारित समय और प्रत्येक समयखंड के लिये कोई न कोई जीवनोपयोगी आवश्यक सत्कार्य होता है, व अल्पायु होकर भी, संसार के लिये, ऐसी-ऐसी श्रेष्ठ और विचित्र देनगियाँ दे जाते हैं, कि जिस की पासँग तक में, बड़े बड़े चिरंतन आयुवाले महारम्भी लोगों के बड़े से बड़े काम भी ठहर नहीं सकते। मुनिराज के नियमित जीवन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी प्रत्येक व्यवस्था और भाव के लिये भी ऊपर वाली नियमित जीवन की बात ही लागू पड़ती है।

अपनी दिन-चर्या के प्रत्येक कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित करते हुए भी आप कुछ न कुछ समय, प्रतिदिन नियमित रूप से राष्ट्र और समाज हित के नूतन साहित्यसृजन में भी देते ही हैं। आप आधुनिक जैनधर्म के ऐतिहासिक काल में जहां एक ओर, एक सुप्रसिद्ध एवं ओजस्वी वक्ता हैं, वहां दूसरी ओर आप एक सुकवि और आशुकवि भी हैं। कभी-कभी तो साधारण और सहज बातचीत के समय भी आपके पावन मुख से निःसृत भाषा तक में सुनने वाले को प्रकृत काव्य छटा का एक अनूठा आनन्द मिल जाता है। इतना ही नहीं, आप एक धुरन्धर लेखक भी हैं। यूं गद्य और पद्यमयी आपकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और आये दिनों होती ही जारही हैं। आपके काव्य ग्रन्थ अकसर मुक्तक पद्यों में हैं; जिनमें आत्मोन्नति के सुधारों, सामजिक कुरीतियों और उनके दूर करने की रीतियों तथा पापों की आलोचना करते हुए होते हैं। मुक्ति पथ, (भाग एक से तीन) आदर्श रामायण, आदर्श महाभारत, आदि, आपके प्रसिद्ध पद्यात्मक ग्रन्थ हैं। आपके गद्यात्मक ग्रन्थ भी सैकड़ों की संख्या में हैं। जिनमें से 'भगवान महावीर का आदर्श जीवन' अपने विषय का एक परमोपयोगी, विशाल एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ है भगवान् पार्श्वनाथ, जम्बूकुमार, आदि बड़े ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। निर्ग्रन्थ-प्रवचन जैसे लोकोपकारी ग्रन्थ के आप संग्राहक और अनुवादक हैं। जिसके अंगरेजी आदि कई भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके हैं। उसीका गुटकाकार में एक पद्यात्मक अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। यूं, आपने अपने लोक-प्रिय और कल्याण कारक भाषणों, लेखों तथा आदर्श आचरणों के द्वारा संसार को बड़ा ही उपकृत बना लिया है।



आचार्य श्री से मेरा परिचय और उनकी भाषा शैली।

लेखक—रा० ब०, ताजिरुलमुल्क, जैनरत्न सेठ लालचंद बी० सेठी उज्जैन



न दिवाकर आचार्य श्री चौथमलजी महाराज से मेरा परिचय बहुत पुराना है। विक्रम संवत् १९६१ में झालरापाटन में आचार्य श्री का संघ के साथ चातुर्मास हुआ था। यद्यपि उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी, तथापि आचार्य श्री के व्याख्यानों की धूम उस वक्त उसी प्रकार थी, जैसी कि आज है। तभी से मेरे हृदय में उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा का बीजारोपण हुआ है। उक्त चातुर्मास के पश्चात् विभिन्न स्थानों पर भी मुझे आचार्य श्री के व्याख्यान सुनने का समय २ पर अवसर मिला है। गत वर्ष आपके उज्जैन चातुर्मास करने पर तो अनेक बार आपके व्याख्यान सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

आपके व्याख्यानों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि आप जैनधर्म के गहन से गहन तत्वों का भी प्रतिपादन अत्यंत सरल, सरस और रोचक शैली से करते हैं, जिसका कि श्रोताओं पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता है; जैनधर्म के तत्व उनके हृदय-पटल पर स्थायी रूप से अंकित हो जाते हैं। आप अपने व्याख्यानों में देश काल का पूरा २ ध्यान रखते हैं। वर्तमान-काल में प्रचलित सर्व साधारण की बुराइयों का बहुत चातुर्य के साथ आपके व्याख्यानों में चित्रण रहता है, जिसे श्रोतागण स्वयं ही सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। किसी पर आक्षेप करना तो आप जानते ही नहीं हैं। यही कारण है कि आपके व्याख्यानों को सुनने के लिये जैनी ही नहीं, किन्तु हिन्दू और मुसलमान भाई भी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होते हैं। वे लोग व्याख्यान सुनते हुए यही अनुभव करते हैं कि मानों हम आज सच्चे धर्म के ही विचार सुन रहे हैं। जिस किसी मजहब के व्यक्ति ने आपका व्याख्यान सुना है, उसने मुक्त कंठ से आपके व्याख्यान की प्रशंसा की है और प्रभावित हुआ है। जिन २ देशी रियासतों में आपका विहार हुआ, या चातुर्मास किया, उनके दीवान एवं अन्य आफिसरान आपके व्याख्यानों को सुनने के लिये अत्यन्त श्रद्धा के साथ आते और अपना अहो भाग्य मानते।

दूसरी खूबी आपके व्याख्यानों में यह देखी गई कि आप त्याग-सौगंध के लिए आग्रह पूर्वक कभी किसी से प्रेरणा नहीं करते, बल्कि इस सम्बन्ध में आप का व्याख्यान ही ऐसा प्रभावशाली होता है कि श्रोताओं पर उसका भारी असर

कवि या महर्षि किसी संघ सम्प्रदाय या समाज का व्यक्ति नहीं होता । वह विश्व का और विश्व उसका होता है । वह पार्थिव सीमाओं को लांघ कर ऊपर उठ जाता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को सत्यं शिवम् सुन्दरम् की शिक्षा देता है ।

जैसे कलाधर अनन्त के वक्षस्थल पर विहार करता है और उसकी कला महिमा मण्डित राजप्रासादों तथा पापमय कारागारों में एक ही भाव से क्रीड़ा करती है, उसी तरह कवि भी संकीर्णता को छोड़ कर विशालता को ग्रहण किये रहते हैं । उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर देती है । कवि अपनी कला द्वारा विश्व भाव को ही खोजते हैं और उसी को व्यक्त करते हैं । उनके भावों का अनुभव सभी जातियां सभी समय में करती हैं । उनकी वाणी सभी के मुख में भाषा रूप में परिस्फुट होती हैं । सारांश यह कि जो व्यक्ति कला का उपासक और पुजारी है वही कवि है, महर्षि है ।

कला क्या है ?

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उसे कला कहते हैं । कला दो तरह की होती है । उपयोगी और ललित । उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार और कुम्हार इत्यादि के काम आते हैं । ललित कला भी दो हिस्सों में विभक्त कर दी जाती है । कर्णेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाली और नेत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाली जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह कला उतनी ही उच्च मानी जायगी । और इसी सिद्धान्त के अनुसार काव्य कला को ही सर्वश्रेष्ठ पद मिला हुआ है । मूर्त कला का इसमें पूर्ण अभाव है ।

ललित कलाओं के आधार ईंट, पत्थर और लकड़ी से लेकर शब्द संकेत तक हो सकते हैं । काव्य कला में किसी का आधार नहीं होता ।

मानव व्यापार में अनुरक्ति मनुष्य की एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है । जो अन्य मनुष्यों के भावों से परिचित होने के लिए उत्सुक करती है । इस उत्सुकता के लिए साधारण जन समाज कथा कहानी किस्से गल्प या आख्यायिकाओं की रचना करता है । इन काव्यों के अन्तर्गत श्रव्य और दृश्य दो प्रकार के काव्य होते हैं और इन्हीं काव्यों के द्वारा कवि शांत संसार को अनन्त के दर्शन कराता है । शांत को अनन्त में मिलाने की कोशिश करता है । हमारे चरित नायक मुनिश्री ने भी यही कुछ किया है अतः आप कवि हैं और महर्षि हैं ।

मुनिश्री का साहित्यः—

आपने जो साहित्य रचा है वह तीन हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है । मौलिक, अनुवादित और फुटकर पद्य रचना जैसे भजन इत्यादि ।

समालोचक को साहित्य की समालोचना करने के लिए छः बातों का ख्याल रखना चाहिए । कथा, वस्तु, पात्र, कथोपकथन, भाषा, शैली और उद्देश्य । आदरणीय

कवि ने जिन ग्रंथों की रचना की है उनकी तादाद २५-३० के करीब है। और उनमें भी अधिकांश धार्मिक काव्य हैं। यदि मैं सभी ग्रंथों की अलग २ समालोचना करूँ तो यह प्रस्ताव अति विस्तृत हो जायगा। अतः मैं यहां संक्षेप में ही सामूहिक विवेचन करूँगा।

आदरणीय कवि महोदय अपने ही आदर्शों के निर्माता हैं। आपने अन्य लेखकों और कवियों के विचारों को नहीं चुराया। जो कुछ लिखा मौलिकता से भरा हुआ और प्रामाणिक प्राचीन जैन ग्रन्थों का बहुत ही सूक्ष्म और गहन अध्ययन करके लिखा। कई स्थानों पर आपने अपनी कल्पना द्वारा कला को सुन्दर रूप देने के लिये मूल कथा व वस्तुओं में साधारण सा परिवर्तन भी किया है किन्तु उससे काव्यों के प्रवाह में किसी तरह की रुकावट पैदा नहीं होती आप अपने काव्यों में देश काल और तत्कालीन वातावरण का ध्यान रखने में खूब ही सफल हुए हैं।

धर्म मिश्रित ऐतिहासिक कथानकों का चित्रण करना कोई सहल बात नहीं क्योंकि ऐसे काव्यों के रचयिता को उस समय की तमाम बातों से अभिज्ञ होना आवश्यक होजाता है। आपके काव्यों में आन्तरिक के अलावा बाह्य दृश्य चित्रण भी अति श्रेष्ठ हुआ है।

शान्त रस के साथ ही साथ वीर और करुण रस का परिपाक भी अच्छा हुआ है। आपने अपने काव्यों में दो तरह के पात्रों का वर्णन किया है एक मानवी सीमा में रहकर काम करने वाले और दूसरे मानवेतर। आप दोनों तरह के पात्र वर्णन में सफल सिद्ध हुए हैं। जैसे आप स्वयं महान् दार्शनिक हैं वैसे ही आपके पात्रों में भी दार्शनिकता के दर्शन हुए बिना नहीं रहते। कथोपकथन सुन्दर तथा स्वाभाविक हुआ है। रोचकता तो कूट-कूट कर भरी गई है जिससे पढ़ने वाले और सुनने वाले का दिल कभी नहीं उकताता। हां कहीं कहीं कथोपकथन लम्बा अवश्य हो गया है।

आपके काव्यों की भाषा सरल सुबोध तथा भाव-गाम्भीर्य से भरी हुई है। किन्तु ग्रामीण और देशज (मालवी और राजपूतानी) शब्दों का प्रयोग आपके काव्यों में कुछ ज्यादा ही हुआ है। काव्यों में वर्णित छन्द प्राचीनता को लिये हुए हैं। आधुनिक और प्रचलित छन्दों का आपने कम प्रयोग किया है। इससे भाषा की मनोहारिता और लच्छेदारीता में अवश्य कुछ फर्क आगया है। और मेरा ख्याल है इसी कारण से आपके काव्य जैनियों के अतिरिक्त अजैन विद्वानों की आंखों में आने से रुके हुए हैं। अजैन विद्वानों में और हिन्दी जगत में जो मान आपके अनुवादित ग्रन्थ "निर्ग्रन्थ-प्रवचन" को प्राप्त हुआ है वैसा अन्य ग्रन्थों को नहीं।

यद्यपि आप श्री हिन्दी, संस्कृत और अर्ध-मागधी के विद्वान है फिरभी आपने जिन देशज शब्दों का प्रयोग अपने काव्यों में किया है वह सिर्फ पाठकों के खातिर ही किया गया होगा ऐसा मेरा निश्चित विचार है।

मालवा और राजस्थान का अधिकांश जैन समाज विद्वत्ता से इतना दूर है कि यदि काव्यों में मालवी और राजस्थानी शब्दों का प्रयोग न दिया गया होता तो वहां का जैन समाज उन ग्रन्थों का रसास्वादन न कर सकता। दूसरा धर्म-प्रचार के खातिर भी ऐसी भाषा का अपनाना आवश्यक था। आपका भ्रमण भी अधिकांश हिंदी प्रान्तों में रहा है। आपकी लिखने की शैली आधुनिकता और नवीनता को लिये हुए कम है। किन्तु सरलता सुबोधता और सात्विकता को लिये हुए अवश्य है। काव्यों में नीरसता बिलकुल नहीं है किन्तु रूढ़ीवाद भी छोड़ा नहीं गया है। आपने अपने काव्यों में विश्वप्रेम, आशा, स्वाभिमान और क्षमा का दिव्य सन्देश दिया है। भगवान के प्रवचनों का प्रचार ही आपका मुख्य उद्देश्य रहा है। आपने काव्यों के द्वारा जगत के जनों को यह समझाया है कि हे मनुष्यों! तुम सब भाई २ हो। किसी को न सताओ। सभी जीने की इच्छा रखते हैं। धर्म को धारण करो। इत्यादि।

निर्ग्रन्थ प्रवचनः—

आपका यह ग्रन्थ अनुवादित है। कल्पनाओं से रहित और ज्ञान का भण्डार है। अगाध सागर सम शास्त्र है। इसमें अठारह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में भिन्न २ विषय को लेकर अपूर्व ज्ञान भर दिया गया है। मूल में भगवान श्री जिनेश्वर देव के प्रवचन हैं और नीचे संस्कृत छाया लेखक की अपनी है। इस ग्रन्थ में ब्रह्माण्ड में जो कुछ हलचल हो रही है उसके सम्बन्ध में संक्षिप्त और सारगर्भित विवेचन है। जैसेः-आत्मा क्या है? स्वर्ग, नरक, मनुष्य, तिर्यंक कौन है? लोक परलोक क्या है? पुद्गल क्या है? कर्मों के साथ जीव का संयोग वियोग कैसे होता है। नवतत्वों का सार तथा कर्म बन्धन से छुटकारा और मोक्ष प्राप्ति इत्यादि तमाम विषयों पर सारगर्भित, तर्कसंगत, बुद्धिगम्य और प्रामाणिक विवेचन है।

इस ग्रन्थ के द्वारा आपने उस वाणी का प्रचार किया है जो प्रत्येक काल में प्रत्येक देश के लिये और प्रत्येक परिस्थिति में हितकारक, निर्दोष और सफल साबित हुई है। जो सब प्रकार की सीमाओं से परे है। आध्यात्मिक विकास के क्रम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या करने वाली है। नीच को ऊँच और पतित को पावन बनाने वाली है। अशरण को शरणदायिनी अनाथों की नाथ कहाने वाली और दीनों की बंधु कहलाने वाली है। अतः "ऐसी वाणी के प्रचारक महर्षि को भगवान् दीर्घायु करें ऐसी मेरी हार्दिक प्रार्थना है।"



जैन दिवाकरजी और उनकी व्याख्यान शैली

लेखक—अभयकुमार सेठिया, बी० ए०, खाचरौद

हस्ती स्थूल तनुः स चांकुशवशः किं हस्ति मात्रोऽकुंशो ?
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीप मात्रं तमः ॥
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्र मात्रा नगाः ।
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ?" ॥



हाथी की देह कितनी ही बड़ी क्यों न हो पर फिर भी वह अंकुश के वश में है। अन्धकार कितना ही घना क्यों न हो पर दीप-दर्शन पर वह भागता ही है। अपने स्थूलत्व के बावजूद भी पर्वत वज्र प्रहार नहीं सह सकते। क्यों ? कोई मनुष्य राज घराने में उत्पन्न होने पर राजा के गुणों से वंचित रह जाता है और कोई ब्राह्मण के यहां पर जन्म लेकर भी शुद्र रह जाता है। क्यों ? वस्तुतः मनुष्य वही बड़ा होता है जिसमें जन्म से ही एक देन होती है और जिसके कारण ", पूत के पांव पालने में ही दिखाई देते हैं " उक्ति चरितार्थ होती है। यह एक स्वाभाविक तेज रहता है और इसी कारण अल्प वय में ही मनुष्य उसे आशातीत काम कर बैठता है जिसकी कल्पना मात्र भी असम्भव हो सकती है।

यही देन, यही तेज पूज्य श्री जैन दिवाकरजी में जन्म के साथ ही विराजमान है। श्री को विद्वान होने के लिये किसी विश्व विद्यालय की शरण नहीं लेना पड़ी। उन्हें व्याख्याता होने के लिये बड़े २ व्याख्याताओं के व्याख्यान-श्रवण-सौभाग्य को सराहना नहीं पड़ा। उनमें कवित्व प्रयास करने पर प्रकट नहीं हुआ पर वह उनमें उनके जन्म का अङ्ग बनकर ही आया। मिल्टन को रात के बारह बजे तक अथाह प्रयास करते रहने पर भी जो स्थान नहीं मिला वह एक हृदय से फूटी हुई पलिजी (मृत-संवेदना-गान) के कारण 'ग्रे' को मिल गया। कालीदास और शेक्सपियर बनाये नहीं बनते पर वे जन्म लेते हैं अस्तु-लिखने का उद्देश्य यह है कि यही देन, यही स्वाभाविक सहज वृत्ति, यही तेज और यही प्रतिभा या यों कहिये-यही शैली पूज्य श्री में जन्मजात है और इसी कारण वे आज हमारे समक्ष इस रूप में हैं।

विभिन्न मतावलम्बियों में यह बहुधा वाद विवाद का विषय बना रहता है कि जैन नास्तिक हैं। वे ईश्वर को नहीं मानते हैं। श्री दिवाकरजी का जो एक दिवस का भी प्रवचन सुन लेगा वह सहज ही उस दिन का भाषण-विषय दूसरा होने पर भी जैन-ईश्वरवाद और प्रार्थना के गुणों से परिचित हो जायगा। नियमित रूपसे प्रवचन सुनने वाला भक्तामर के स्तोत्रों को कंठाग्र कर भी ले तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।

अधिकतर जनता में आप देखेंगे कि उसकी प्रवृत्ति-मनोरंजन प्रिय है। वह अधिक समय तक मनोरंजन से वंचित रहने पर ऊब उठती है। वह किसी गायक का रसभरा स्वर सुनने में धक्के खाकर, बिना किसी का निमंत्रण पाये भी अपने सब प्रयास करके जाती जरूर है। सिनेमा घरों के बुकिंग ऑफिस के बाहर लगी भीड़ का नजारा देखकर इस सत्य की पूर्ण पुष्टि हो जावेगी। मनुष्य में एक मनोरंजन-प्रिय भावना रहती जरूर है पर सुप्तावस्था में। झट जरा आनन्द-रस का उद्रेक हुआ कि आज का मनुष्य वाह! वाह! कर बैठता है। उसका मनहरा हो जाता है-वह बाग बाग हो जाता है। यही कारण है कि आजका मनुष्य शिक्षाओं से भरीहुई किसी महापुरुष की जीवनी की अपेक्षा एक रसभरा लंबा उपन्यास पढ़ना पसन्द करता है। आजके जैन मुनियों में अधिकांश ने इस भावना का अध्ययन नहीं किया और यही कारण है कि उनके व्याख्यान में श्रोतागण बुलाये जानेपर भी पर्याप्त मात्रा में नहीं आते। श्री दिवाकरजी ने इस भावना का केवल अध्ययन ही नहीं किया अपितु उसे कार्य रूप में परिणत भी किया है। श्रोतागण पूर्णतया इस मतसे सहमत हैं। लोग सिनेमा में जाकर रसीले गाने सुन अपनी भावनाओं का अवांछनीय उद्दीपन मात्र करते हैं पर आपके व्याख्यान में मनुष्य उनके कवित्व पूर्ण वाक्यों और उन्हीं तर्जों पर बने हुए रसीले और लालित्य पूर्ण गाने सुनकर आनन्द विभोर हो भगवान को अपने सामने रमता देखसकते हैं। श्रोता गीत सुन सकते हैं, और श्लोक, कव्वाली, शेर, नजम, छन्द, सवैया आदि किसी भी रचना-प्रकार की वहां कमी नहीं। लावनी की छटा कुछ अपने ढंग की अनूठी ही रहती है। यही कारण है कि उनके भाषण में श्रोताओं को (इंदौर जैसे बड़े शहर में थी) बैठने को पर्याप्त स्थान भी नहीं मिलता। और हां, इस भीड़ का विशेष कारण पूज्य श्री का कवित्व है। कविके लिये अधिक लिखना अनुचित है। यहांपर इतना ही पर्याप्त है-

कवयः किं न पश्यन्ति किं न कुर्यन्ति योषितः।
मद्यपाः किं न जल्पन्ति किं न खादन्ति वायसाः? ॥

सामयिक सभी तर्जों में श्री दिवाकरजी को आशु कवि होने की क्षमता प्राप्त है।

एक साधारण पढ़ा-लिखा मनुष्य भी विद्वान् वक्ताओं के भाषण उद्धृत कर या किसी वक्ता से भाषण लिखवा कर उसे तोते की तरह दोहरा सकता है पर उस की वाणी में वे विद्वान् वक्ता के शब्द होने पर भी वह ओज नहीं, वह स्वर साम्य नहीं। रस का उद्रेक तो हो ही नहीं पाता है फिर श्रोताओं पर प्रभाव पड़ना तो अलग रहा। श्री में पाठकों ने देखा होगा कि एक विशेष अभिन्यात्मक तत्व विद्यमान है। क्रोध का वर्णन करते हुए उनके मुखारविंद से क्रोध भरे शब्द निकलेंगे दया के वर्णन में स्वयं द्रवित दिखाई देंगे। विनय में दबी आवाज निकलेगी तो आज्ञा देतेसमय बादशाह का फरमान श्रोता व्याख्यान सुनने के बजाय घटना स्थिति चक्षुगत पाता है और आनन्द विभोर हो पूर्ण प्रभावित हो जाता है। यही

अभिनयात्मक अंश वक्ता में एक ऐसा गुण है कि व्याख्यान का प्रभाव दस गुणा कर देता है आप श्री में यह गुण पर्याप्त मात्रा में है।

दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वाभाविक ही नीरस होता है। साधारण विश्लेषण से जनसाधारण के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता, पर ऐसे जटिल सिद्धान्तों को भी सरल करने की क्षमता पूज्य श्री में है। और वह अपने ढंग की अनूठी। ऐसे सिद्धान्तों के प्रतिपादन में कहीं आप तर्क का अकाट्य प्रमाण पावेंगे, कहीं कहानी का योग, तो कहीं दृष्टांत का समावेश। मुझे हाल ही का दिया गया एक तर्क स्मरण हो आया—

'एक भौतिक-विज्ञान-विशारद कहने लगे कि हमें तो भिन्न २ धर्मों के दर्शन-वाद केवल अपनी संप्रदाय की भिन्न ख्याति के लिये चलाये गये आचार्यों के गपोड़े मात्र मालूम होते हैं। एक भी वाद दृष्टि से प्रमाणित नहीं होता है। आत्मवाद भी एक ऐसा ही ढकोसला मात्र है।

विशारदजी से पूछागया—'क्यों साहब ! इस वृक्ष के पत्ते हिल क्यों रहे हैं ?' साहब ने उत्तर बड़े मज़े में हंसकर दिया—'हवा से। यह कोई बड़ी बात पूछी आपने, बच्चे भी जानते हैं इसे।' विशारदजी के सामने फिर प्रश्न था—'क्या आपने हवा को देखा है ?' विशारदजी सकपका गये। तर्क समझ गये और नत हो गये। पूज्य श्री ने कहा—जैसे तुमने पत्तों के हिलने से यह मालूम किया कि ये हवा से हिल रहे हैं। हवा दिखाई नहीं देती। उसका आभास पत्तों के हिलने से मालूम होता है। उसी तरह आत्मा अरूपी है। उसका आभास शरीर के हिलने चलने से मालूम होता है। उसके छोड़ चले जाने पर शरीर के मृतप्रायः हो अचेत गिर जाने से मालूम होता है।

पुष्पे गंधं तिले तैलं काष्ठे वह्निः पये घृतं।
इक्षौ गुड़ तथा चेयं पश्यात्मानं विवेकतः॥

ये तो कुछ हुई व्याख्यान की बातें। हां अगर असम्बन्ध न होतो यहां यह भी मालूम करना जरूरी है। जब व्याख्यान की सभा लगती है—श्रोतागण भावावेश में ओतप्रोत हो जाते हैं तब समय का लाभ लेते हुए पूज्य श्री श्रोताओं को उसी लहर में त्याग प्रत्याख्यान भी करवा देते हैं। बात की बात में सैकड़ों मनुष्य त्याग कर लेते हैं और इस तरह बिना अलग प्रयत्न किये बहुत कुछ लाभ होजाता है।

यहीं पर दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में श्री दिवाकरजी का कहानी योग कैसा प्रभावजनक होता है वह भी देख लेना जरूरी है। श्रोताओं को भार भी नहीं मालूम होता है। मनोरंजन के साथ विषय का प्रतिपादन बहुत ही सरल हो जाता है। यह एक महद्जनों की मानी हुई बात है कि मनुष्य को सुख दुःख में एक सी भावना रखनी चाहिये। वाक्य कह देना सरल है, पर जन साधारण के गले उतार देना साधारण नहीं। इस विषय के प्रतिपादन में श्री दिवाकरजी कथित कहानी देखिये।

"अकबर और वीरबल बैठे हैं। आम खाते हुए अकबर की अंगुली चाकू से कट जाती है। वीरबल के मुख से निकलता है 'अच्छा हुआ'—सुख दुःख में एक जैसे रहने की जो आदत पड़ी थी। अकबर ने जब अपनी अंगुली कटने पर ये शब्द सुने तो क्रोधित हो वीरबल को पदच्युत कर दिया। वीरबल के मुख से फिर शब्द यह निकलता है कि 'बहुत अच्छा हुआ'।

वसंत का समय है। अकबर प्राकृतिक शोभा में भूले हुए शिकार की खोज में सपाटे में एक निर्जन वन में जा मार्ग भूल गये। पास ही एक होम हो रहा था। असहाय किन्तु सर्वांगपूर्ण समझे जाकर वलि के लिये पकड़े गये। वलि के समय अंगुली कटी हुई देखी जाकर वे छोड़ दिये जाते हैं। आनन्द के साथ वीरवल की उक्ति हृदय में घर कर जाती है। प्रसन्न हो अकबर फिर वीरबल का अभिनन्दन करते हैं और पूछते हैं कि भाई 'अच्छा हुआ' यह तो समझ गया पर 'बहुत अच्छा हुआ' यह समझ में नहीं आया। वीरबल कहने लगे—आपका परम मित्र होने के नाते शिकार में मैं साथ होता ही और अगर साथ होता तो मेरी बलि होती ही, क्यों कि मेरे अंग पूर्ण थे। अतः उस समय मेरा पदच्युत होना 'बहुत अच्छा हुआ'।

मनुष्य भी इस कहानी से यह सीख सकता है कि दुःख में व्यर्थ चिंतित नहीं रहना चाहिए। इससे दुःख बढ़ेगा ही और वह बिना भोगे टलेगा तो नहीं सुख में मर्यादा-उलंघन भी इसी तरह दुःखदायी होता है।

इस उद्धरण से पाठक समझ गये होंगे कि इतना क्लिष्ट सिद्धान्त भी कैसा सरल होगया। यह आपकी एक अपनी मौलिक सूझ है।

दिवाकर श्री को अगर ओघे, मुख-वस्त्रिका और श्वेत वस्त्रों के कारण जैन न माना जाय तो वैष्णव ईसाई और मुसलमानों में उन्हें अपना बनाने के लिये कहीं लाठियां चल पड़ें। कारण यह है कि आपके व्याख्यान में साम्प्रदायिकता ढूंढे भी नहीं मिलती। उनके मुख में महाभारत, गीता, बाइबिल और कुरान के उद्धरण यथा समय निकलते रहते हैं। यही कारण है कि अभिन्न भाव होने से आपने जितना उपकार जैनों का किया होगा शायद कहीं इससे अधिक अजैनों का किया होगा।

वैसे दिवाकरजी का अध्ययन संस्कृत, हिन्दी आदि का अच्छा है पर अधिकतर जन साधारण के लिये आपने मालवी, मेवाड़ी और खड़ी बोली के मिश्रण को अपनाया है।

सारांश यह है कि श्री दिवाकरजी ने अपने लम्बे संयमी जीवन में जगत् को बहुत कुछ दिया है। इनका जीवन ही एक सुन्दर उपदेश है और फिर भाषणों का प्रभाव भी कम नहीं है। महाराज श्री शतायु हों। जगत् का उपकार करते रहें, यही हार्दिक कामना है।



जैन दिवाकरजी का अहिंसा प्रचार

लेखक–श्री चम्पालाल कर्णावट B. A. C. T. विशारद, संपादक 'जिनवाणी'
भूपालगढ़



हिन्सा जैन धर्म का प्राण है। अहिन्सा मानवता की परिभाषा है, पहचान है और पहनाव है। जो मनुष्य अहिंसक नहीं हिंसक है, वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं। मानव देह में दानव है। अहिन्सा धर्म की आत्मा है। और मनुष्य का सर्व श्रेष्ठ गुण है।

जिस समय यह पुण्यभूमि ब्राह्मणों के नृशंस अत्याचारों से रक्तमयी होरही थी, उस समय त्रिशलानन्द महात्मा महावीर ने इस धर्म नाम से की जाने वाली हिंसा को हेय बताकर जनता को दया का, करुणा का पाठ पढ़ाया और जनता में समायी हुई राक्षस वृत्तियों को हटाकर उन्हें मानव बनाया।

उन्हीं भगवान महावीर के वंशज आज भी उसी आदर्श अहिंसा का पाठ जगत को सिखा रहे हैं। मैं यह अवश्य मानता हूं कि अधिकांश जैनी, केवल दिखाऊ अहिंसक हैं। उनका हृदय एकदम अपवित्र, दूषित, एवं रागद्वेष का शिकार बना हुआ है। फिर भी हमारे मुनिजन अपने त्याग एवं आचरण द्वारा उसी प्राचीन आदर्श को कायम रक्खे हुए हैं। यद्यपि इनमें भी आज विकृतियां घुसने लगी हैं। वे दिखावे के फेर में पड़ गये हैं। फिर भी संसार के सामने महत्वपूर्ण वस्तु अपने आचरण के रूप में रख रहे हैं।

यों तो प्रत्येक जैन मुनि अहिंसक होने के नाते अहिंसा का प्रचार करता ही है। फिर भी कुछ मुनियों ने हिंसा वृति रोकने में अपना बहुत श्रम दिया है, और दे रहे हैं। उन्होंने हजारों मांस भक्षियों को निरामिष भोजी बनाया है। और उनके आचरण को सुधार कर उन्हें दया का मंत्र सिखाया है। मानव कल्याण के साथ२ जगह २ शिकार खाने बंद करवाकर व अगते रखवाकर लाखों मूक और असहाय प्राणियों को जीवन दान दिया है। इस पवित्र कार्य के लिये हम उनका जितना भी आभार मानें, उनकी कितनी भी तारीफ करें कम है।

अहिन्सा का इस तरह धुंआधार प्रचार करने वाले मुनियों में जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता श्रीचौथमलजी महाराज का स्थान सर्वोपरी है। मुझे इस लेख में दिवाकरजी के अन्य कार्यों का विवेचन न कर केवल उनके अहिन्सा प्रचार संबन्ध में ही लिखना है।

दिवाकरजी दीक्षित होने पर शीघ्र ही व्याख्यान देने लगे। और इस ओर इतनी प्रगति दिखाई कि सु स्वर नामकर्म के उदय से इनकी वाणी जनप्रिय बनगई

इन्हें राजपूतों की व अन्य मांसाहारी प्राणियों की अल्पज्ञता पर बड़ा तरस आया। और इसीलिये इस भोली अशिक्षित धर्मान्ध जनता को सच्चा ज्ञान कराने के लिये आपने मांस मदिरा आदि के निषेध पर अत्याधिक ज़ोर दिया।

यह बात तो स्पष्ट है कि खान-पान का चरित्र पर बहुत बड़ा असर होता है। जितना ही तामसी आहार होता है वृत्तियां भी उतनी ही तामसिक हो जायगी। इसीलिये महापुरुषों ने सात्विक और सादे भोजन पर अत्याधिक ज़ोर दिया है। दिवाकरजी महाराज ने सबसे पहले अपना ध्यान खान-पान की ओर दिया। जहां कहीं भी गये इनके उपदेशों में मांस मदिरा का निषेध सर्व प्रथम था। हज़ारों अछूतों एवं मांसहारी मनुष्यों ने आपके सदुपदेश के प्रभाव से प्रभावित हो मांस भक्षण का त्याग किया। आपके उपदेशों से मानव ज़ाति का कल्याण तो हुआ ही साथ ही देश की बहुत बड़ी भलाई भी हुई। लाखों रुपये शराब के विदेशों में जाने से बचे। देश की माली हालत में भी इससे सुधार ही हुआ।

जहां भी आप पधारे सार्वजनिक व्याख्यानों की धूम मच गई। आपके व्याख्यानों में जैनेतर जनता ने अधिक भाग लिया। और कई व्याख्यान तो अजैनों की प्रार्थना पर ही हुए।

इन सार्वजनिक व्याख्यानों का विषय मुख्य रूपसे अहिंसा और मानव कल्याण ही रहा है। आपके उपदेश के प्रभाव से कई वेश्याओं ने अपनी कलुषित वृत्तियां छोड़दी और जैन दीक्षा ग्रहण की। जोधपुर में स्वयं मैंने अपनी आंखों से देखा कि वेश्याएं नियमित रूप से आपके व्याख्यान को श्रवण करने आती थीं। और सामायिक आदि धार्मिक-क्रियाएं कर अपने पूर्व कृत पापों का प्रायश्चित करती थीं। व अन्य भी कई अजैनों ने जैन धर्म स्वीकार किया। यहां मुझे एक सच्ची घटना याद आगई है। जिसे बताने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता।

हमारे गांव के एक सोनी की लड़की की सगाई एक जोधपुर के सोनी के लड़के से हुई। जोधपुर में कई सोनियों के घर दिवाकरजी के उपदेश से जैन बन चुके थे। यह सोनी भी जैन था। इसने जोधपुर से धार्मिक पुस्तक जिसमें सामायिक, पच्चीस बोल, मेरी भावना आदि है भेजी और कहलाया कि लड़की को यह पुस्तक सिखाई जाय। गांव के सुनार ने मुझे यह पुस्तक बताई, और पूछा कि क्या आपकी कन्याशाला में यह पुस्तक पढ़ाई जायगी? लड़की के ससुराल वालों का तकाज़ा है। मुझे आश्चर्य हुआ और साथ में दुख भी। आश्चर्य तो हुआ जोधपुर के सोनी की जैन धर्म में प्रीति होने के कारण, और दुख हुआ मुझे अपनी समाज की धार्मिक अरुचि पर। मैंने यह तो केवल एक घटना आपके सामने रक्खी है। ऐसी घटनाएं तो बहुत हैं। अगर मैं उनको बताने का प्रयास करूं तो एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जासकती है। जोधपुर का ही, एक जूता बनाने वाला मोची जो आपके उपदेश से जैनी बना था, एक बरात में यहां आया था। पूज्य श्री

हस्तीमलजी महाराज उस समय यहीं (भूपालगढ़) विराजमान थे। मोची व्याख्यान सुनने नियमित रूप से आता था। इससे तो मैं प्रभावित न हुआ। पर जब देखा कि संध्या को प्रतिक्रमण करने आया है तो मुझे उस पर श्रद्धा उत्पन्न होगई। इसलिये नहीं कि वह प्रतिक्रमण करने आया था और जैन था, वल्कि इसलिये कि वह अपने व्रत नियमों में कितना दृढ़ है। एक बरात में आया हुआ मोची अपनी मंडली से अलग इस तरह धर्म क्रिया करता पाया जाय, मेरे लिये तो आदर्श ही है। और मेरे लिये क्या सारी जैन समाज के लिये अनुकरणीय है। अस्तु।

इस तरह अनेक अजैनों ने आपके उपदेशों से प्रभावित हो मांसाहार, मदिरापान आदि अमानुषित वृत्तियां त्याग दी हैं। एवं जैनी बन गये हैं। चूंकि मैं जोधपुर का रहने वाला हूं। इसलिये मैंने यहां घटी घटनाओं का ही जिक्र किया है। और ऐसी घटनाएं तो प्रत्येक स्थान में जहां पर दिवाकरजी का शुभागमन हुआ है घटी हैं।

यह तो साधारण जनता पर किये गये उपकारों का बयान हुआ। अब जरा राजा महाराजा की ओर चलिये। ये लोग अधिकतर राजपूत हैं। और मांसाहारी हैं। जैन दिवाकरजी ने अपना ध्यान इन्हें सुधारने की ओर भी दिया है। आप जहां कहीं भी पधारे श्रावक लोग राजा महाराजाओं व अन्य बड़े २ अजैन आफिसरों को आपके व्याख्यान में लाने लगे। महाराज श्री भी समयानुकूल व्याख्यान देकर इन राजा महाराजाओं का मन आकर्षित करने लगे। राजा महाराजाओं को मुनिश्री के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। मुनिश्री के उपदेश में बहुत से राजाओं ने शिकार करने के त्याग कर लिये। और कई राजाओं ने कुछ पर्व दिनों पर हमेशा के लिये सारे राज्य में शिकार खेलना बन्द करवा दिया। और इसी प्रकार नाना रूप में अहिंसा का आराधन करने लगे। उदयपुर के महाराणा कई बार दिवाकरजी को अपने महलों में ले गये और वहां पर आपका सार्वजनिक व्याख्यान करवाया। महारानियों ने व अन्य रनवास की महिलाओं ने भी व्याख्यान का पूरा लाभ लिया। देवास, बनेड़ा कोशीथल, बदनोर आदि मेवाड़ और मालवा के कई नगरों में जीव हिंसाएं बन्द होने लगीं।

आपके सन्मान के हेतु जिस दिन आपका आगमन एवं विहार होता है। कई नगरों में एवं गांवों में अगता पाला जाता है और अब दिनों दिन इसका रूप विकसित हो रहा है। अगर मैं यह कहूं कि इन्होंने अन्य जैन साधुओं के लिये अहिंसा का मार्ग खोला तो भी अनुचित नहीं है। जैन साधुओं का जो महत्व इन अजैनों के दिलपर बैठ सका उसका बहुत अधिक श्रेय आपको ही है।

यहां इतना अवश्य कहूंगा कि जहां २ से आपको हुक्मनामें मिले हैं। और जिसमें आपके आगमन और विहार के दिन अगते पालने की घोषणा है वह सब जैन मुनियों के लिये होना आवश्यक था। महाराज श्री को इसके लिये विशेष रूप

से प्रयास करना चाहिए था, ताकि लोगों को यह कहने अवसर नहीं मिलता कि महाराज श्री अपने ही सन्मान का ख्याल रखते हैं।

इस रूप में जो भी अहिंसा प्रचार दिवाकरजी महाराज ने किया है वह स्तुत्य है और अनुकरणीय है। इसी आशा के साथ कि दिवाकरजी महाराज घर २ प्रचार करेंगे और मानव समुदाय का कल्याण करेंगे। मैं अब अपने लेख को विश्राम देता हूँ।



गुरुदेव का उपकार

ले० खंगारोतजी नवनिधि कुमारी भाटखेड़ी



न दिवाकरजी के गुण का वर्णन करना मानव शक्ति से परे की बात है। मेरी क्या हिम्मत कि मैं आपके गुणों का बखान कर सकूं। वाणी में वह वह ओज, वह आकर्षण और वह माधुर्य है कि श्रोता के दिलपर जादू का असर करता है। आप जैनदिवाकर ही नहीं, विश्व दिवाकर हैं। भला ऐसा कौन अभागा होगा कि अखन्ड ज्योति, विश्व विख्यात, जगद्वल्लभ, प्रसिद्ध वक्ता, जगद्गुरु का अभिनन्दन नहीं करेगा।

गुरुदेव ! मैं कहां तक आपका गुणगान करूं ? आप पारस से भी बढ़कर हैं। शरणागत को आत्मवत बनाने वाले, एवं भव भ्रमण से छुटकारा कर परमपद मोक्षधाम पहुंचाने वाले हैं। विश्व वन्दनीय देव ! जब तक विश्व रहेगा, आपका नाम दिवाकर की भांति देदिप्यमान होता रहेगा।

प्रभो ! मुझ पर आपने महान् उपकार किया है। मुझे अधंकार से निकाल कर प्रकाश में रखदी है। मुझ कुपथगामिनी को सत्पथ पर लगा दिया है। जन्म-जन्मान्तर तक आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकती।

अहिंसा के पुजारी ! आपने दुनिया को अहिंसक बना दिया, मानव जाति को घोर नर्क में गिरने से बचा दिया, उद्धार कर दिया और धर्म का स्वरूप बतला दिया है।

देव ! 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' ग्रन्थ का अनुवाद करके आपने जनता के लिये ज्ञान का भंडार खोल दिया। नवतत्वों का सार, कर्म बन्धन से छुटकारा और मोक्ष प्राप्ति आदि का ऐसा सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं मिलेगा। हे देव ! पतितों को पावन बनाने के लिये अमोघ साधन, यह ग्रन्थ मानव जाति को आपकी अमर देन है।

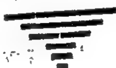
गुरुदेव ! जगहित के लिये जुग २ जीवो ! मैं आपका हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ।



पद्य-खंड

एवं

शुभ सन्देश



जैनाचार्य्य जैनधर्म दिवाकर पूज्यश्री घासीलालजी महाराज विरचितम्
प्रसिद्धवाग्मि जगद्वल्लभ पण्डितप्रवर जैनधर्म दिवाकर मुनि
श्री चोथमल्लजी महाराजाष्टकम्

(१)

श्रद्धाभित्ति–सुभावना दृढतर स्तम्भ प्रणीते शुभे
धीतल्पे समिति प्रभञ्जनपथे गुप्त्याख्यसंछादने ।
आसीनं सुविवेकदीप लसिते चारित्रगेहे सदा
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

सम्यक्त्व भीत पचीस सुन्दर भावना सुस्तम्भ हैं,
बुद्धि कोमल तल्प है गुप्ती रवितानारम्भ है ।
विवेक दीपक समिति–खिड़की संयमालय में बसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(२)

पापौघं विनिहन्ति यच्छति शुभं यद्दर्शनं भूतले
सम्यक्त्वादिगुणं परं हितकरं पुष्णाति यद्देशना ।
यन्नाम श्रवणेन हृष्यति मनो लोकस्य तं भास्वरं–
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

दरस जिनका पापनाशक शुभ विधायक है तथा
सम्यक्त्वगुण-शिवदायिनी है देशना सुरतरु यथा ।
नाम जिनका चित्तहर्षक सुमरते दुष्कृत नसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(३)

एतत्पूज्यवरस्य शुभ्रमहिमा लोकेषु संगीयते
प्रत्येकं प्रतिसद्म निर्मलधिया ध्यात्वा तदीयं गुणम् ।
योऽयं जङ्गम कल्पपादप इह मोद्भासते तं यतं–
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

इन पूज्यवर की शुभ्र महिमा लोग सब हैं गा रहे
हरएक घर में स्वच्छमति से [१]गुणकथोदधि में वहे।
जो [२]चर-सुरद्रुम भासते हैं तप कसौटी पर कसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(४)

मोक्षैश्वर्यसमर्पकं हितकरं धर्मं भुवि स्थापयन्
भव्याम्भोजचयं सदा मधुरया वाचा समुल्लासयन्।
धर्मध्यान परायणो मुनिपतिर्यः शोभते तं हृदा
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

मोक्ष और विभूति दाता--धर्म संस्थापक जभी
मधुर वाणी से जनों को हृष्ट करते हैं तभी।
धर्म चिन्तन में परायण हृदय में सबके बसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(५)

तत्त्वातत्त्व विवेक हंस निपुणो निर्वाण धामस्पृहः
स्वानन्दं जनयत्यमन्दमसकृद्भव्याय नित्यं नवम्।
अर्हच्छासनकञ्जभानुरिह तं व्याख्यान वाचस्पतिं
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

अतत्व-तत्व सरूप नीर--क्षीर विलगन हंस हैं
मुक्तिकामी भविजनों के नव [३]विनोदिवतंस हैं।
जैनशासन-कमलरवि व्याख्यान में सुरगुरु असे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(६)

भव्यानां भवकोटिसञ्चितमघं सर्वं क्षणात्संहरन्
कारुण्याम्बुधि वीतराग भगवद्धर्मोपदेशं दिशन्।
तेषां मोक्षपथ प्रबोधकतया योराजते तं सदा
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

१ समुद्र, २ जङ्गमकल्पवृक्ष, ३ शिरोभूषण।

भव्यजन के कोटि जनिकृत पाप क्षण में नाशते
वीतराग दयामहोदधि वीरधर्म प्रकाशते ।
मोक्ष मार्ग उन्हें दिखाने के लिए हैं कटि कसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(७)

यत्स्वान्तं विमलं दयार्द्रमृदुलं कर्पूरपुञ्जोज्ज्वलं–
यद्वाचा मधुरा सदा शुभकरा पीयूषधारापरा ।
यद्देहः सुरशाखिनश्च समतां धत्ते हि तं सर्वदा
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

जिनका हृदय अतिशय दया से सान्द्र कोमल धवल है
वाणी सुधा से भी मधुर शुभकारिणी नित विमल है ।
देह सुरतरु तुल्य दर्शक के निरखते अघ नशे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(८)

ग्रामग्रामनेकदेशमतुल सेमाय तत्त्वं वदन्
सारं सारमसारतां च जगतो नन्दन् परं स्वात्मनि ।
हारंहारमपारमोह मनिशं यो भासते तं मुहु–
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

जनता कुशल के हेतु देशों में पधार सुसार को
उपदेश करते आत्म में रमते समस्त संसार को ।
अपार मोह [1]अन्धार को हैं दूर करते [2]अनल से
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(९)

स्तोत्रं विचित्रममलं रुचिराक्षरैश्च
यद्वासिलालमुनिना रचितं विशुद्धम् ।
भक्त्या पठेदनुदिनं किल मानवो यः
स क्षिप्रमेव लभते परमार्थसिद्धिम् ॥

---

१ तिमिर, २ प्रकाश ।

यतचित्त घासीलाल ने सुन्दर अमल स्तव है रचा
अनुराग से पढ़ते उसे आनन्द रहता है मचा।
भवसिन्धु से जो चाहते हैं पार होना तुरत ही
हरएक दिन इसको पढ़े वे मुक्त होंगे गहत ही॥

॥ इति श्रीचौथमलजी महाराजाष्टक सम्पूर्ण ॥

श्री महाराज चौथमलजी

स्नेहीजी–कानपुर

(१)

जिन राज-भक्ति और,
निज आत्म-शक्ति द्वारा,
मोक्ष की समस्या है,
सहज ही में हल की।
नगर — नगर में,
अहिंसा का प्रचार कर;
सब को ऊँचाई है,
महत्ता तप—बल की।
शास्त्र के मनन और,
दिव्य आचरण से है,
दिवाकर — छावें
मुनि राज में हैं झलकी।
गाई जन — जन ने,
सुहाई कीर्ति चारो ओर।
कहां तक कीजिए,
बड़ाई चौथमल की॥

(२)

बरस पचास
जप—तप में बिताये और
मोक्ष के कठिन प्रश्न,
किये बैठे हल हैं।
प्रण बालपन ही से,
तप का है ठान लिया,
आज तक उस पै,
अटल — अविचल हैं।
त्याग का महत्व,
और उपकार—तत्व जान,
जीवन का सत्व,
और धारे आत्म बल हैं।
मुनिराज कोई,
कोई कहता दिवाकर है,
ज्ञानी सिरताज,
महाराज चौथमल हैं॥

(३)

छोड़े पुरजन और कुटुम्बी–
छोड़े अपना घर छोड़ा,
किन्तु—मुक्ति पथ पर;
चलने का कभी नहीं अवसर छोड़ा,

लोक हितार्थ सैकड़ों योजन,
नंगे पैरों चलते हैं,
कभी ठिठुरते हैं पाले में;
कभी धूप से जलते हैं।
'मुख-वास्त्रिका' सुशोभित मुख पर;
और मृदुल "ओघा" कर में,
अपने शिष्यों सहित;
भ्रमण करते फिरते भारत भरमें।
दिन हो या रात, ज्ञान की
चर्चा हरदम रहती है।
या फिर जिनवर के चरणों में
चित-वृत्ति रम रहती है।

यों ही आधी सदी बिताई;
कहते धर्म-कथाओं को,
और दूर करने में जगसे,
हिंसक निंद्य प्रथाओं को।
पण्डित प्रवर और मुनि ज्ञानी;
सचमुच जैन दिवाकर हैं,
जप तप नियम और;
संयम दमशम के भी यह आकर हैं।
हो शतायु क्या सहस्रायु
हों, घर घर ज्ञान-प्रकाश भरे।
मोक्ष मार्ग सबको दिखलाये,
और मोह—तम नाश करें॥

अन्तर-लालसा

लेखक—नवरत्न पण्डित गिरिधर शर्मा, झालरापाटन

जो अति निर्मल परम ज्योति है मुक्ति मार्ग का नेता है
अतुल अनन्त शक्तिशाली है कर्म मात्र का जेता है।
जो है विश्वतत्त्व का ज्ञाता नयवाली जिसकी वाणी
उसको, उसके गुण पाने को नमकर मैं जोड़ूं पाणी ॥ १ ॥

सद्गुरु ही हैं मेरे तो प्रभु, तीर्थ, देव, आदर्श, सभी
उनका अनुगामी होने में मैं रक्खूं न प्रमाद कभी।
हैं अनन्त गुण उनके, उनको सब प्रकार उर धारूं मैं
एक यथार्थवादिता पर ही सरबस अपना वारूं मैं ॥ २ ॥

सुखमय ब्रह्मचर्य मैं पालूं, सत्य कहूं, हिंसा न करूं
दूर रहूँ सब विध चोरी से, मोह परिग्रह का न धरूं।
क्षमा-शील बन जाऊं, उर में स्थान क्रोध को कभी न दूं
'तेरी मेरी' में न पड़ूं त्यों समता निज हिय में भरलूं ॥ ३ ॥

चलना-फिरना पड़े मुझे तो सावधान हो चलूं फिरूं
जाऊं वहां जहांपर कुछ भी जीवों का उपकार करूं।
नाहिं तो निज आसन पर स्थिर हो मन में शुद्ध विचार भरूं
आत्म भाव में लीन रहूं त्यों परभावों का भार हरूं ॥ ४ ॥

निन्दा विकथा न कुछ करूँ मैं, ईर्षा को मन में न धरूँ
पास फटकने दूँ न लोभ को, हिये पूर्ण सन्तोष भरूँ।
उपकारी को कभी न भूलूँ, गुरुपद सेवूँ मैं सुख से
करूं भला दिन-रात सभी का, कह जतलाऊं ना मुख से ॥ ५ ॥

मेरा मैत्रीभाव सबल हो सात्विक जीवों पर प्रतिछिन
गुणियों पर आमोद सदा हो, दुखियों पर करुणा निशि-दिन।
वैर-विरोध द्वेषवालों पर उदासीनता बनी रहे
और सरल कोमल भावों में मेरी आत्मा रमी रहे ॥ ६ ॥

चाहे जैसे नीतिनिपुण जन, निन्दा या जसगान करें
लक्ष्मीजी घर आवें अथवा चाहे जिधर पयान करें।
अभी इसी दम मृत्यु होय, या जुग-जुग पीछे वह आवे
तो भी धीर रहूँ, मेरा पद न कुछ न्याय से डिग पावे ॥ ७ ॥

पात्रदान करने में प्रभुजी मुझको हो संकोच नहीं
शीत-उष्ण सहने के तप से कभी न होऊँ पोच कहीं।
आलस को न पास आने दूं उत्तम श्रम कर सुख पाऊं
हो आहार विहार शुद्ध सब तन मन निर्मल रख पाऊं ॥ ८ ॥

मेरी इन आंखों में ऐसी अनुपम निर्मलता छावे
जिस पर दृष्टि करूं उसको ही निर्मलतर वह कर पावे।
शुद्ध मार्ग पर चलने वाला मानव-कुल यह बन जावे
निर्मल होकर शुद्ध चित्त से आत्म भावनायें भावे ॥ ९ ॥

एक वस्तु की अनेक विधि से परख सुगुरु ने बतलाई
अस्ति नास्ति की रीति अनोखी भिन्न-भिन्न कर समझाई।
सारा जगत समझले इसको सबका माया-मोह कटे
एकीभाव सकल में छावे आपस का सब द्रोह हटे ॥ १० ॥

जग में स्वच्छ धर्म शासन हो सब स्वतंत्र हों नर-नारी
शुभ दर्शन हों, गुणग्राहक हों, होंय परस्पर उपकारी।
सुज्ञानी हों, सच्चरित्र हों, धारें हिये दया भारी
तन से मन से और वचन से रहें अहिंसा व्रतधारी ॥ ११ ॥

अनुपम पौरुषकारी नर हों, नारी हों सब शीलवती
आनन्दी हों बाल-बालिका, ज्ञाननिष्ठ हों जती सती।
प्रजा प्रेम का पात्र भूप हो, प्रजा, प्रेम-श्रम-ज्ञानकारी
रोग-दोष का लेश न हो, हो सुजल-सुफल महि हरी-भरी ॥ १२ ॥

हमारा जैन-धर्म

सत्यप्रेमी पं. सूरजचन्द डाँगी बड़ी सादड़ी (मेवाड़)

हमारा जैन धर्म गुण खान !
परम अहिंसा का प्रतिपादक, सुखका सत्य विधान !
हमारा जैन-धर्म गुण-खान ॥ ध्रुव ॥

सम्यग दर्शन-ज्ञान-आचरण कहा मुक्तिका द्वार।
संयम-तप-सेवा बतलाया, विश्व शांतिका सार ॥
श्रमण-संस्कृति का ले आधार,।
कर्म-काण्डों में किया सुधार ।
क्रूरता का करके संहार,
सिखाया सब प्राणों पर प्यार ॥
कर्म-चेतनामें समझाया, सरल भेद-विज्ञान ॥
हमारा जैन-धर्म गुण-खान ॥ १ ॥

त्याग और वैराग्य-भावमें, समझ जगत का भाण ।
वीतरागता ध्येय बनाया, जीवन का कल्याण ॥
शरण उत्कृष्ट सिद्ध भगवन्त,
हमारे व्यक्ति देव अर्हंत ।
सु-गुरु निर्ग्रंथ उच्चतम संत,
दयामय धर्म—पंथ सुखवन्त ॥
परमाधार चतुर्मंगल हैं, शिवमय मोद-निधान ॥
हमारा जैन-धर्म गुण-खान ॥ २ ॥

निर्गुण-सगुण-जिनेश्वर-पाठक और संघ-सरदार ।
जगमें व्याप्त समस्त संत जन, परम इष्ट नवकार ॥
हमारा महा-मंत्र सुख-धाम,
अनवरत अवलम्बन अभिराम ।
किया करते हम नित्य प्रणाम;
हृदय पाता विशुद्ध विश्राम ॥
विघ्न-विनाशक-अघ संहारक, पंच शक्तिका ध्यान ॥
हमारा जैन-धर्म गुण-खान ॥ ३ ॥

राग द्वेषकी ग्रंथि भेदकर दूर किया दुःस्वार्थ ।
छोड़ा जब मिथ्यात्व-दुराग्रह, मिला सत्य-परमार्थ ॥

सीख कर प्रथम धर्म सागार,
लिए फिर पंच महाव्रत धार।
हटाए सब प्रमाद—व्यवहार,
पूर्ण संयमका पाया सार॥
निर्विकार बन दूर हटाया, क्रोध-लोभ-छलमान॥
हमारा जैन धर्म गुणखान॥ ४॥

विविध नयोंका द्वन्द्व देखकर, बना मनुज दिग्भ्रान्त।
अनिरपेक्ष स्याद्वाद् सिखाकर, दूर किया एकान्त॥
द्रव्य-पद व्याप्त सदा स्यादेक,
किन्तु पर्य्याय अनेकानेक।
मिटाई ध्रुव-अध्रुव की टेक,
कहा पाखंड सदा अतिरेक॥
शुद्ध समन्वय-शक्ति बताई, सद् विवेक पहिचान॥
हमारा जैन धर्म गुण-खान॥ ५॥

वर्ण-व्यवस्था, यज्ञ नाम पर फैले अत्याचार।
आत्म शुद्धि के निर्मल बलसे, उन पर किया प्रहार॥
युद्ध भी रहा दया का अंग,
कभी हो सका न संयम भंग।
पड़े आकर जब कठिन प्रसंग,
बनाया उचित धर्म का ढंग॥
सप्त भंगियों का विश्लेषण, सत्य उदार महान॥
हमारा जैन धर्म गुण-खान॥ ६॥

सभी धर्म जग में महान् हैं, प्रेम सभीका प्राण।
सबने समय-समय पर आकर, किया लोक कल्याण॥
किन्तु हम बने रूढ़ि के दास,
हृदयमें हुआ दम्भका वास।
द्वेष-अवसाद-मोह-उच्छ्वास;
हमारे पास अन्ध-विश्वास॥
सत्य प्रेमके 'सूर्य्य-चन्द्र' की जोत्स्ना हो कि विहान॥
हमारा जैन-धर्म गुण-खान॥ ७॥



गुरुदेव के प्रति श्रद्धाञ्जलि

लेखिका—सौ. मायावती जैन, प्रभाकर, लाहौर (पंजाब)

जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

वैभव सारा त्यागा तुमने,
बाधाओं की परवाह न की,
किया पंच महाव्रत को धारण,
ऐहिक सुख की कुछ चाह न की,
तुम हो जाति के प्राण जान।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

श्री जिनवाणी तरु को तुमने,
दे प्रेम—नीर बरसाया है,
शाखायें पल्लव-युक्त बना,
सुमनों से उन्हें सजाया है,
हे तेजस्वी ! हे प्रभावान्।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

अनुराग का दीपक कर में ले,
अहिंसा की अलख जगाई,
श्री श्वेताम्बर ! तेरे यशने,
श्वेत पताका लहराई,
है जीर्ण तरी के महायान।
जय जय गुरुवर ! जयजय महान् !!

वसुधा के भाग्य विधाता रे !
तेरा मुनि जीवन धन्य धन्य,
पर दुःख हरन को ही सदैव,
करता है तव मानस चिन्तन,
अतिशय अनन्त हे शीलवान्।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

सुनकर के तेरा सिंहनाद,
भूप राजों ने हिंसा-त्यागी,
द्रवी चट्टानों का अन्तर,
पाषाणों में करुणा जागी,
हे माता के अभिमान-शान।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

श्री महावीर के अग्रदूत !
तूने भ्रम-तिमिर हटाया है,
ओ दुर्गम पथ के पथिक महा,
सब का पथ सुगम बनाया है,
हे पूज्य पाद ! हे दयावान !
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

शशि का रविका चिर साथी हो,
जगती को दे आलोक दान,
तेरे हजार हीरक-उत्सव,
आवें, गावें तव गुण महान्,
हे समदृष्टि ! हे धैर्यवान।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!



जैन के दिवाकर

लेखक सोहन मुनि

ए जैन के दिवाकर रोशन है नाम तेरा।
देखा है हर बशर के, लब पे है नाम तेरा॥
है धन्यवाद उसको, तुझसा पिसर है जन्मा।
खुशियां हुई निहायत, करके दीदार तेरा ॥ १ ॥
कर गर्जना बबरसी, देता है जब तू भाषण।
दलसत अजाब होते, सुनकर कलाम तेरा ॥ २ ॥
रहे गिर्द करते जबतक, शम्सो कमर जगत का।
तबतक रहे अटल यह, सुयश ललाम तेरा ॥ ३ ॥
तारीफ क्या करें हम, ताकत नहीं जबां में।
खिदमत करे फरिस्ता, बनकर गुलाम तेरा ॥ ४ ॥
हो महरबां भँवर से, किस्ती को पार करदे।
हो दस्त बस्त सोहन करता सलाम तेरा ॥ ५ ॥

जय श्री जैन दिवाकर

दुग्धनारायण शास्त्री, जैन गुरुकुल, ब्यावर

धर्म-गगन के पूर्णचन्द्र ओ ! प्रेम-सिन्धु करुणाकर।
सुना रही तव यशोगान वाणी वीणा पर गाकर॥
तृप्त किया जिज्ञासु जनों को सूक्ति—सुधा बरसाकर।
धन्य हुई है जैन जाति तुम जैसा गुरुवर पाकर॥
मारवाड़, मेवाड़, मालवा, युक्तप्रान्त भी जाकर।
महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड़ भूमि सरसाकर।
मुग्ध किया है जनता को गुण वीर प्रभू के गाकर।
बने मार्ग दर्शक सुजनों के धार्मिक ज्योति जगाकर॥
भारतीय भूपालों को अनुपम उपदेश सुनाकर।
पृथक किया हिंसादिक पापों के अवगुण समझाकर॥
सम्प्रदाय के कर्णधार मुनियों के पुण्य—प्रभाकर।
दिव्य-दीप साहित्यकला के गुणरत्नों के आकर॥
अभिनन्दन मुनिराज आपका करते हैं हर्षाकर।
जय जय जय श्री चौथमलजी जय श्री जैन दिवाकर॥

जैन दिवाकर है

पासन में फूल खिले कासन सुवासन के,
"विमल" कमल पाय सुरभित सर हैं,
मंद-मंद चन्द चारु चमकैं गगन माँहि,
अति ही मगन मन धन तारा वर हैं,
आयो है सिसिर फिर जड़ और चेतन थिर
मन मोद भरे सुखी चारों ओर नर हैं,
माघ मास माँही मानों श्रावक सरोज बने,
मौज सर-ओज, रवि जैन दिवाकर हैं।

जुग-जुग जीवो जैन दिवाकर

पुण्य प्रताप सदा प्रसरे-तव ज्ञान—
कथा को कहे दुनियां भर,
लोकन में जब लौंकन में,
थिर होवे महीतल में सुचराचर,
होत रहे उजियारो सदा अति,
प्यारो हमारो रहे निशि वासर,
कर जोरि विनती करैं प्रभु सों,
जुग-जुग जीवो सदा श्री जैन दिवाकर।

जयन्ति दिवाकर की

चमकैं "प्रियचन्द्र" की चन्द्रिका री,
सुषमा सरसानी सखी सर की,
छवि देखत ही जु बने रि अली,
चहुँ ओर की श्री घर बाहर की,
अवलोकि के लोकन रूप-छटा,
उर की गति ये धरकी—धरकी
मनभाई, सुहाई, सुआई, अरी,
सजनी सुजयन्ति दिवाकर की।

तीर्थ बनि आयो है

बन्यो मुनि सुनी-सुनी गुनी दुनी-प्राणियों ने,
अमित आनन्द मन अति सुख पायो है,
ज्ञान-जोत को प्रकाश होत माहि मंडल में,
'विमल' चंद्रिका समान जाको जस छायो है,
मुक्ति-महलद प्रिय प्रज्ञा को परम पद,
सद्ज्ञान को प्रदीप निज संग में लायो है,
भव-पार तारन को, पाप-भार भारन को,
कलि में गुरु चौथमल्ल तीर्थ बनि आयो है।

श्री विमल मुनिजी

तीर्थ बनि आयो है

बन्यो मुनि सतयुग में भक्त भगवान को,
जाहि धनधाम नाम कृपा फल पायो है,
'चंदन' कहै कि पुनि त्रेता में बन्यो है ज्ञानी,
धर्म शास्त्र नीति सों सनेह यों लगायो है,
द्वापर में बन्यो सन्त-सुखदाई सजन को,
संग सदुपदेश को अमरित फल लायो है,
ज्ञान गुण सागर, सुनागर, उजागर,
कलि में गुरु चौथमल तीर्थ बनि आयो है।

जैन दिवाकर है

पापियों के पाप, आततायी-अभिशाप सब,
दूर करने को लेते जन्म प्रभुवर हैं,
गिरि-गर्व मेटने को वज्र इन्द्र का है और,
नदी-गर्व नाश हित अनेकांतिक सागर हैं,
दिवस के ताप तप्त जग को शीतलकारी,
'चंदन' चंद्रमा है जो छवि-सुखकारी है,
जगत् अज्ञान-तम नष्ट करने के काज,
आज-ज्ञान-सूर्य सम जैन दिवाकर हैं।

श्री चन्दन मुनि जैन विशारद कृत

नूतन-उपहार

लेखकः—मुनि श्री जेठमलजी महाराज "अशोक" साहित्यरत्न

अनुपम यह नूतन उपहार
जैन धर्म के अंग अंग में करते नव जीवन संचार

जीवन के उस काल रूप का,
पूर्ण विकास न होपाया,
माँ की आत्म प्रेरणा ने यह,
सिखलाया तज दो माया,
है यह अस्थिर सब संसार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥१॥

रत्न जवाहिर की सुषमा बिच
ज्योति पुंज गुरु हीरालाल,
उनके बीच सुशोभित होते,
पुण्य पुंज श्री केशर-लाल,
माँ का सफल हुआ मृदु भार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥२॥

अपनी प्यारी निधिको माँ ने,
सौंप दिया गुरुको सोल्लास,
गुरुने उन्नति की आशा से,
उसे संघ में दिया सुवास,
सफल है तीनों का अवतार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥३॥

जैन जगत के कोण कोण में,
मिथ्या तम का छाया राज,
'जैन दिवाकर' बनकर मुनिने,
आलोकित किया जैन समाज,
दूर हुआ तमका विस्तार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥४॥

सेवा से प्रेरित हो हम सब,
गूंथ स्व आशाओं के तार,
तुच्छ भेंट यह अर्पित करते,
हो, कर कमलों में स्वीकार,
बने 'अशोक' जैन संसार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥५॥

-अभिनन्दन-

हो जिन शासन के ताज गुरू महाराज, बड़े उपकारी, मैं वार २ बलिहारी ॥ध्रुव॥

घरबार से नाता तोड़ दिया,
पत्नि तक को भी छोड़ दिया।
भर यौवन में दुनिया को ठोकर मारी ॥
जिस ओर भी गुरुवर जाते हैं,
कलि काल में सतयुग लाते हैं।
दर्शन को आते दौड़ २ नरनारी ॥

लाखों में एकही साधू हैं,
वाणी में चलता जादू है।
कर दिये सैकड़ों धर्म अहिंसाधारी ॥
"केवल" कहां तक गुणगान करूं,
जितना थोड़ा अभिमान करूं।
अभिनन्दन है जय होवे देव तुम्हारी ॥

दिवाकर-स्तुति

लेखकः—सा. र. महेशचन्द्र जैन 'चन्द्र' न्यायतीर्थ

धर्म धुरन्धर, धर्मशील, हे पूज्य दिवाकर।
अमित तेज हे पंचमहाव्रत गुण रत्नाकर॥
कष्ट अनेकों सहे सदा परहित साधन में।
जीवन अर्पित किया धर्म के आराधन में॥

हे धीर वीर! हे कर्मनिष्ठ! विघ्न अनेक आते रहे।
किन्तु दृढ़ता वीरता से विजय सदा करते रहे॥

कर गृहस्थी का त्याग दृढ़ संन्यास लिया है।
हो भव्यभाव से युक्त ममत्व का त्याग किया है॥
जीव चराचर प्राणि मात्र को है अपनाया।
वैर त्याग, अभिमान छोड़ बंधुत्व सिखाया॥

हे त्यागवीर! दृढ़ त्याग का मार्ग हमें दिखलाइए।
हे धर्म वीर! सद्धर्म का मार्ग हमें बतलाइए॥

स्याद्वाद का भेद बता, मत भेद मिटाया।
प्राणिमात्र को तुल्य बता अन्याय मिटाया॥
अभिचारी लोगों को सद्मार्ग बताया।
हिंसक वृत्ति त्याग करा मनुजत्व सिखाया॥

हे वीतराग! हे पूज्यवर, महिमा अमित अपार है।
अर्पित तुम्हारे चरण पै यह शीश बारंबार है॥

वर वाणी से प्रेम स्रोत है सदा बहाया।
प्रेम शक्ति से जीत हृदय को है हरषाया॥
कटुता का कर नाश सदा अमृत बरसाया।
भक्तजनों के शुष्क हृदय को सरस बनाया॥

हे पूज्य मुनि! जुग जुग जियो, जिससे जग का त्राण हो।
'चन्द्र' करे शुभ कामना सदा देश-कल्याण हो॥



गुरू महिमा !

गौरीलाल गुप्ता, कोटा

गुरुवर ! गूढ ज्ञान के ज्ञानी
समझ चुके संघर्ष जगत का, अचल एकता जानी ।
भेद भरी तज प्रचल अविद्या, सदा पिया पहिचानी ॥
मुनिवर ! गूढ ज्ञान के ज्ञानी !
जीव जगत में तीन गुणों की, महिमा अकथ कहानी ।
पुनर्जन्म की तरतमता को करदी पानी पानी ॥
गुरुवर ! गूढ ज्ञान के ज्ञानी !
वाणी सिद्ध प्रभावित जगको, करदेती मस्तानी ।
देश धर्म भू काल दिशायें मारुत व्योम गुँजानी ॥
मुनिवर ! गूढ ज्ञान के ज्ञानी !
जैन जगत के प्रखर दिवाकर, चौथमल्ल गुण खानी ।
जीवन मुक्त महान आत्मा अमित ज्ञान के दानी ॥
गुरुवर ! गूढ ज्ञान के ज्ञानी !

शुभ कामना

मंगल मूल अमंगल नाशक शान्तिनाथ स्वामी सुखमूल ।
देव ! रहो अनुकूल हमारे दूर करो हिंसा भ्रम-शूल ।
वृद्धाश्रम चित्तौड़ अचल हो जीव जीव सम भोगे भोग ।
जाति पांति मत पंथ विसारे सभी जैन मिल दें सहयोग ॥
दानी ज्ञानी बनें सहायक कर कुवेर मद चकनाचूर ।
आश्रम वृद्ध जैन का होवे दान द्रव्य से अति भरपूर ॥
शुद्ध वायु जल रवि प्रकाश पा फूले फले ज्ञान विज्ञान ।
हो प्रचार सात्विक विद्या का पैदा करे परम विद्वान् ॥
अंग उपांग शास्त्र जिनवाणी ललित काव्य साहित्योत्थान ।
शुभ शृंगार करे वाणी मां रक्षित ग्रंथागार महान ॥
राग द्वेष से रहित आश्रमी सत्यवान् प्रिय धर्म प्रधान ।
मृदु भाषी अरु परम साहसी, आत्माऽलंबी सदय सुजान ॥
नीति विशारद पर हितकारी, चलें न किंचित टेढ़ी चाल ।
लड़ें न तनिक अशिक्षित सम सब हेलमेल से रहें सम्हाल ॥
वृद्धाश्रम में धर्मोन्नति हो दीखपड़े सतयुग सा काल ।
जैन ध्वजा ऊँची हो लहरो, कलियुग की न गले फिर दाल ॥

अहिंसा

मचा संग्राम है जग में अहिंसा और हिंसा का ।
बजेगा जीत का डंका अहिंसा का, न हिंसा का ॥ १ ॥

हजारों वार होतो हों चलेंगे वक्ष फैलाये ।
उड़ायेंगे जगत भर में विमल झंडा अहिंसा का ॥ २ ॥

डरें क्या अस्त्र-शस्त्रों से छुयें क्या अस्त्र-शस्त्रों को ।
हमारा राष्ट्र ही जब है स्वयंसेवक अहिंसा का ॥ ३ ॥

बिना जीते महारण के न जीते-जी टलेंगे हम ।
तजेंगे त्यों न तिलभर को कभी रस्ता अहिंसा का ॥ ४ ॥

भले पालेसियां चल-चल हमें कोई भुलावे दें ।
भुलावों में न आवेंगे दिखा विक्रम अहिंसा का ॥ ५ ॥

न हम नापाक खूँ से रे रंगेंगे पाक हाथों को ।
हमारा खून होतो हो सुयश होगा अहिंसा का ॥ ६ ॥

कभी धीरज न छोड़ेंगे जहां में शान्ति भर देंगे ।
सिखादेंगे सबक सबको अहिंसा का न हिंसा का ॥ ७ ॥

हमारे दुश्मने जानी भी होंगे दोस्त कल आ के ।
कहेंगे सर झुका के यों बतादो गुर अहिंसा का ॥ ८ ॥

तमन्ना है, न दुनिया में निशाँ भी हो गुलामी का ।
सभी आज़ाद हों कौमें, बजे डंका अहिंसा का ॥ ९ ॥

जैन दिवाकरजी के प्रति श्रद्धा

मैं श्री महात्मा चौथमलजी महाराज का अनन्य भक्त हूँ। और महात्माजी की मुझ पर असीम कृपा है। मैं क्षत्रिय जागीरदार हूँ। धर्म ग्रन्थों का तो मैं ज्ञाता नहीं हूँ। पर धर्म के प्रति मेरी जो रुचि एवं भावना है उस सबका श्रेय महात्माजी को ही है।

आपका अनन्य भक्त—

राव जगन्नाथसिंह झाला

ठिकाना रायपुर (होल्कर स्टेट)

स्थानकवासी सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्रीमान् चौथमलजी महाराज के साथ मेरा परिचय हुआ है। हम लोगों ने किसी-किसी समय साथ में भी व्याख्यान दिये हैं। दिल के उदार, समय को पहचानने वाले, विद्वान् और अच्छे वक्ता, ऐसे श्री चौथमलजी महाराज की हस्ती जैन धर्म और जैन समाज के लिए भूषण रूप है। उनको "अभिनन्दन ग्रन्थ" अर्पण करने का जिन महानुभावों ने आयोजन किया है वे सचमुच धन्यवाद के पात्र हैं। विद्वानों के समाज में उनकी योग्य कद्र करना यह विद्वत्-प्रेमियों का कर्त्तव्य है। मैं इस आयोजन के लिए फिर से धन्यवाद देता हूँ और इस कार्य की सफलता चाहता हूँ।

शिवपुरी, (ग्वालियर) —मुनि श्री विद्याविजयजी महा.

अभिनन्दन गुरुदेव तुम्हारा !

गुरुदेव के करकमलों में अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने की योजना से अपार प्रसन्नता हुई। गुरुदेव के जैन जाति पर किये गये उपकार स्थानकवासी जैन समाज के इतिहास में अमर रहेंगे। दर्शन, ज्ञान, एवं चारित्र्य की प्रतिमूर्ति ! आप का यश दिग्दिगन्त में लहरे तथा आपके द्वारा समस्त जैन जाति का कल्याण हो। आप शतायु हों एवं हमारे हृदयों को आपकी मधुर वाणी सदैव शीतल करती रहे।

अकिञ्चन

चांदमल मारू
स्वागत मंत्री
श्री स्वर्ण जयन्ति महोत्सव, चित्तौड़गढ़

जैन जाति के नेता जय हो !

स्वर्ण जयन्ती मनाते हुए अभिनन्दन ग्रन्थ रूपी साहित्यिक अनमोल निधि गुरुदेव के कर कमलों में अर्पण करना वास्तव में वन्दनीय प्रयत्न है। इस प्रयत्न के मूल में समाज द्वारा गुरुदेव के प्रति प्रकट किये गये सम्मान की प्रतिष्ठा एवँ ऐतिहासिक अनमोल सामग्री का निर्माण है। ऐसे ग्रन्थ रत्न का महत्व स्थानकवासी समाज में अनुकरणीय होगा। हृदय की शतशत आकांक्षाओं के साथ मेरी शुभ कामनाएँ हैं कि यह ग्रन्थ–रत्न विद्वत् समाज में आदर की वस्तु हो, एवं गुरुदेव के यश रूपी आलोक को दिवाकरवत् उद्भासित करे।

विनीत

सौभाग्यमल कोचेटा, जावरा.